M. WINTERNITZ'S

INDISCHEN LITTERATUR

I. i.

By arrangement with Koehler and Amelang (VOB) Leipzig translated from the original German and brought up-to-date, 1975

MOTILAL BANARSIDASS
DELHI :: VARANASI :: PATNA

प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास

एम. विण्टरनिट्ज़ पीएच. डी.

विशिष्ट अनुवाद समिति द्वारा अनूदित

भाग १, खण्ड १

प्रस्तावना, वेद तथा वेदाङ्ग

मो ती ला ल ब ना र सी दा स
दिल्ली : : वाराणसी : : पटना

प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : (१) चौक, वाराणसी (उ० प्र०)
(२) अशोक राजपथ, पटना (बिहार)

प्रथम संस्करण : दिल्ली, १९६१
द्वितीय संशोधित संस्करण : दिल्ली, १९७५
मूल्य : रु० १६.००

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-७
द्वारा प्रकाशित तथा शान्तिलाल जैन, जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड,
जवाहरनगर, दिल्ली-७ द्वारा मुद्रित।

विषय-सूची

प्रकाशक की ओर से

प्रस्तुत कृति डा० एम० विण्टरनिट्ज़ के अनुपम ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर है। मूल पुस्तक जर्मन भाषा में है; जर्मन भाषा से अपरिचित हिन्दी भाषी भारतीय उससे लाभ नहीं उठा सकते। इधर कई वर्षों से विश्वविद्यालयीन छात्रवर्ग की माँग रही है कि उसका हिन्दी भाषा में अनुवाद होना चाहिए। प्रस्तुत अनुवाद हमने इस आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिये ही प्रकाशित किया है। आशा है कि पाठक इससे लाभ उठाकर हमारे प्रयास को सफल करेंगे।

बहुमान्य विद्वानों की धारणा है कि केवल शब्दार्थ पर बल देने से अनुवाद में चारुता नहीं आती। अतः प्रस्तुत अनुवाद में शब्दार्थ के अतिरिक्त भावार्थ पर भी बल दिया गया है। और, विण्टरनिट्ज़ ने जिन वेदमन्त्रों तथा काव्य-भागों को अपने इतिहास में उद्धृत किया है उनका हिन्दी काव्यानुवाद भी दे दिया है। यह हिन्दी काव्यानुवाद श्रीसत्यभूषण योगी जी ने अत्यन्त लगन और परिश्रम से किया है। उसके लिये हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

आमुख

मेरे प्रिय पाठक, प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास आपके हाथ में है। यदि आपने भारतीय भाषाओं व साहित्य के रत्नाकर में निर्बाध अवगाहन किया है तो आपके लिए इस इतिहास में नूतन कुछ नहीं होगा। हां, कभी अवकाश के क्षणों में इसके पृष्ठों पर यत्र-तत्र दृष्टिपात करके शायद आप कुछ रस प्राप्त करें और मेरे प्रयास को सराहें।

मेरे प्रिय पाठक, यदि आप भारतीय भाषा, साहित्य प्रभृति से सर्वथा अपरिचित हैं और उसका सामान्य परिचयमात्र प्राप्त करने के इच्छुक हैं तो यह इतिहास शायद आपके लिए उकता देने वाला हो। आपकी इच्छा को पूर्ण करने वाले अनेक ग्रन्थ आपको पुस्तकालयों में उपलब्ध हो जाएँगे।

मेरे प्रिय पाठक, भारतीय भाषा, साहित्य प्रभृति से आप भी सर्वथा अपरिचित हैं, तथापि अपनी इन अपरिहार्य सीमाओं में रहते हुए भी पर्याप्त परिचय प्राप्त करने के इच्छुक हैं, तो आइए, स्वागत है! यह इतिहास मैंने मुख्य रूप से आपके लिए ही लिखा है। मैंने विभिन्न संस्कृत-ग्रन्थों के विषय को संक्षेप से आपकी सेवा में प्रस्तुत किया है, मध्य-मध्य में मूल ग्रन्थों के उद्धरणों के अनुवाद भी दिए हैं, जिससे कि आप संस्कृत के महान् कृतिकारों की आत्मा के साथ किंचित् सान्निध्य का अनुभव कर सकें।

प्राचीन भारतीय साहित्य अत्यन्त विशालकाय है। यह इतिहास अनेक भागों में पूर्ण हुआ है। यह प्रथम भाग (वैदिक साहित्य का इतिहास) आपके हाथ में है।

प्राचीन भारतीय साहित्य के इतिहासकार के सम्मुख सबसे बड़ी कठिनता आती है विभिन्न कृतिकारों तथा कृतियों के काल-निर्णय की। इतिनैश्चित्य से तो कोई तिथि कही ही नहीं जा सकती; सभी तिथियाँ आनुमानिक हैं। फिर भी, यथासंभव तथ्य और सत्य को आविष्कृत करने का प्रयास मैंने किया है और इस पर्यालोचन में कुछ विस्तार अपरिहार्य था।

वैदिक साहित्य की निश्चित तिथि का निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। तिथि की तो बात ही क्या, निश्चित शताब्दी के विषय में भी विद्वानों में सहमति नहीं है। वेद तो अति-अति प्राचीन हैं; पुराण, रामायण और महाभारत आदि का काल भी निश्चित रूप से कथित नहीं किया जा सकता।

परन्तु 'निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता' इतना कहकर इतिहासकार यदि मौन हो जाए, तो भी दायित्व से विमुखता होगी। काल्पनिक व आनुमानिक तिथियाँ ही सही, विवेचना तो करनी ही पड़ेगी, कुछ पूर्व और अवर सीमाएँ निर्धारित करनी पड़ेंगी। निर्विवाद यह निर्धारण अपूर्ण होगा, परन्तु यह भावी के गवेषक मनीषियों के प्रासाद के लिए नींव का कार्य तो करेगा ही।

भारतीय साहित्य के काल-निर्णय के अध्याय भी सामान्य पाठक के लिए लिखे गए हैं, विशेषज्ञ के लिए नहीं। यदि इनमें कुछ ऐसी सामग्री आ गई हो जो विशेषज्ञ के लिए भी नवीन हो, कुछ बातें ऐसी हों जो विवादास्पद हों, तो इसका एकमात्र कारण यह है कि इधर कुछ वर्षों में इस दिशा में कुछ नवीन खोजें हुई हैं, नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं; परिणामत: मतभेद अनिवार्य हैं।

पाद-टिप्पणियों में अनेक ग्रन्थों के संकेत दिए गए हैं, इनमें से कुछ शुद्ध रूप से विशेषज्ञों के लिए हैं क्योंकि **'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्'।** सामान्य पाठक भी तब तक कोई तथ्य स्वीकार नहीं करता जब तक उस पर विशेषज्ञों की मोहर नहीं लग जाती। कुछ संकेत केवल सामान्य पाठक के लिए हैं।

उपरिनिर्दिष्ट कठिनताओं के कारण विषय का एक ही ग्रन्थ में समावेश संभव नहीं हो सका। मैं प्रकाशकों का कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने बौद्ध-साहित्य के इतिहास के लिए द्वितीय पृथक् ग्रन्थ की योजना को स्वीकार कर लिया।

प्रस्तुत भाग में वेद तथा भारत के राष्ट्रीय काव्यों (रामायण तथा महाभारत) का वर्णन है। ये कृतियाँ प्रागैतिहासिक काल की हैं; इनके काल के विषय में इति-नैश्चित्य नहीं है। द्वितीय भाग का प्रारम्भ बौद्ध-साहित्य से होगा, जहाँ हम वास्तविक ऐतिहासिक काल में प्रवेश करते हैं।

जिन ग्रन्थों से मैंने सहायता ली है, अध्यायों के अन्त में उनका निर्देश है। मैं मुख्य रूप से निम्न विद्वानों का ऋणी हूँ—अल्ब्रेच्ट वेबर, लियोपोल्ड फॉन श्रेडर तथा ए. बार्थ। वेबर के ग्रन्थ **'भारतीय साहित्य के इतिहास पर विश्वविद्यालयीय व्याख्यान'**[१] (द्वितीय संस्करण, बर्लिन, १८७६) ने भारतीय साहित्य-पुरावृत्त-रचना के क्षेत्र में मार्ग-प्रदर्शन किया। श्रेडर के ग्रन्थ **'भारतीय इतिहास तथा संस्कृति'**[२] (लाइपत्सिग, १८८७) से मुझे बहुत सहायता मिली, जिसका निर्देश सर्वत्र संभव नहीं हो सका है। ए. बार्थ के ग्रन्थ **'भारत के धर्मों पर विवरणिकाएँ'**[3] से भी मुझे प्रभूत सामग्री प्राप्त हुई। इसका भी सर्वत्र निर्देश संभव नहीं हो सका। बार्थ की

---

१. Akademische Vorlesungen Über Indische Literaturgeschichte.

२. Indiens Literatur und Cultur in historischer Entwicklung.

३. Bulletins des Religions de I'Inde.

विवरणिकाएँ **'धर्मेतिहास-पत्रिका'**[1] में प्रकाशित हुई थीं। एच. ओल्डनबर्ग के **प्राचीन भारत का वाङ्मय**[2] (श्टुटगार्ट तथा बर्लिन, १९०३) के निबन्ध मौलिक व नवीन हैं। उनमें भारतीय साहित्य के सौन्दर्य-पक्ष पर विशेष प्रकाश डालते हुए मूल्यांकन किया गया है, परन्तु यह विवेचन मेरे ग्रन्थ की सीमा में नहीं आता। ए. बॉमगार्टनर का **'विश्व-साहित्य का इतिहास'** तथा **'भारत व पूर्व एशिया के इतिहास'**[3], ए. ए. मैक्डॉनल का **'संस्कृत-साहित्य का इतिहास'**[4] तथा वी. हेनरी का **'भारत के साहित्य'**[5]—ये ग्रन्थ भी अपनी दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं, परन्तु मेरे लिए इनमें कोई विशेष नूतन सामग्री नहीं है। रिचर्ड पिशेल के **'आधुनिक काल की संस्कृति'**[6] की लेखमाला में प्रकाशित **'भारतीय साहित्य'**[7] ग्रन्थ में भारतीय साहित्य की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। यह अत्यन्त संक्षिप्त है, परन्तु सारगर्भित है। परन्तु इसका प्रकाशन तब हुआ, जबकि मेरी पाण्डुलिपि पूर्ण हो चुकी थी और कुछ भाग मुद्रित भी हो चुका था। लुसियन शर्मन् की **'प्राच्य ग्रन्थसूची'**[8] तो प्रत्येक प्राच्य-विद्याध्येता के लिए अपरिहार्य है। मुझे इससे पद-पद पर सहायता मिली। अन्त में मैं उन सब आलोचकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने दो वर्ष पूर्व प्रकाशित मेरे प्रबन्ध पर सौहार्दपूर्ण विचार प्रकट किए।

प्राग, के. जी. एल. वाइनबर्गे
१५ अक्तूबर, १९०७

—एम. विण्टरनिट्ज

---

१. Revue de I'Histoire des Religions, Tomes I, III, V, XI, XIV, XXVIIIf, XLIf and XLV (1880-1902).

२. Die Literatur des alten Indien.

३. Geschichte der Weltliteratur II Die Literaturen Indiens und Ostasiens, 3. und 4. Aufl., Freiburg i. B. 1902.

४. A History of Sanskrit Literature, London, 1900.

५. Les Litteratures de l'Inde, Paris, 1904.

६. Die Kultur der Gegenwart (Berlin and Leipzig) 1906.

७. Die Orientalischen Literaturen, part I. Section VII.

८. Orientalische Bibliographie.

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य का विस्तार तथा महत्त्व

भारतीय साहित्य का इतिहास सैंकड़ों नहीं, हजारों बरस का है—कम से कम ३००० बरस का। यह साहित्य प्राचीन काल में तो पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से संक्रान्त होता रहा, परवर्ती काल में अंशतः लेखबद्ध भी हुआ। भारत[1] एक विशाल देश है। इसका क्षेत्रफल लगभग १५ लाख वर्ग मील है। इसमें रूस को छोड़ कर सारा यूरोप समा सकता है। यह विशाल देश हिन्दुकुश पर्वत से कन्याकुमारी तक फैला हुआ है—८° से ३५° उत्तरी अक्षांश तक, अर्थात् इसमें भूमध्यरेखा के उष्णतम प्रदेश भी हैं तथा समशीतोष्ण प्रदेश भी। भारतीय साहित्य में इतने विशाल प्रदेश का चिन्तन, मनन तथा भावनाएँ अंकित हैं। यह साहित्य केवल भारत में ही सीमित न था; भारत की सीमाओं को लांघकर इसने हजारों मील की यात्रा की थी—भारत से परे प्रदेशों में तिब्बत, चीन, जापान तथा कोरिया तक, दक्षिण में श्रीलंका तथा मलय प्रायद्वीप तक तथा उससे परे हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के द्वीपों तक। पश्चिम में सुदूर मध्य एशिया से पूर्वी तुर्किस्तान तक भारतीय मानसिक जीवन के चिह्न मिलते हैं, जहाँ मरुस्थल की मरुराशि में दबी हुई पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हुई हैं।

'साहित्य' शब्द के विस्तृत अर्थों में जो कुछ आ सकता है, वह सब कुछ भारतीय साहित्य में है—धार्मिक, लौकिक, महाकाव्य (राष्ट्रीय वीर काव्य), गीतिकाव्य, नाटक, उपदेशात्मक कविता, गद्य तथा विज्ञान।

भारतीय साहित्य विविधविषयविभूषित है, परन्तु प्रमुखता धार्मिक साहित्य की है—वैदिक साहित्य ही बहुत विशाल है; फिर बौद्धों के त्रिपिटक हैं तथा भारत में उद्भूत अनेक धार्मिक संप्रदायों के शास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इस सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य में सूक्त हैं, कर्मकाण्ड के मन्त्र हैं, स्तुतियाँ हैं, पौराणिक कथाएँ तथा आख्यायिकाएं हैं, उपदेश हैं, आध्यात्मिक ग्रंथ हैं, शास्त्रीय विवाद-ग्रंथ हैं, कर्मकाण्डीय और धार्मिक क्रियाओं के विधि-विधान के ग्रंथ हैं। यह सामग्री इतनी प्रभूत और बहुमूल्य है कि संसार में जो भी मनीषी धर्म के क्षेत्र में गवेषणा के लिए कृत-

---

१. अब इसका कुछ भाग पाकिस्तान तथा बंगला देश के रूप में पृथक् हो गया है।
(हि० अनु०)

संकल्प होगा, उसे इसका अध्ययन करना ही पड़ेगा। इस विशाल धार्मिक साहित्य की धारा हजारों बरस से अविच्छिन्न रूप से बहती आ रही है; आज भी उसका पूर ज्यों का त्यों है। परन्तु यह तो एक धारा की चर्चा हुई; अन्य भी अनेक धाराएँ हैं—भारत में प्राचीनतम काल से वीरगीतों की परम्परा भी चली आ रही है। इतिहास में ऐसे समय आए कि ये सैंकड़ों परम्पराएं दो राष्ट्रीय महान् महाकाव्यों में एकत्र मूर्त हो गईं। इन महाकाव्यों को हम महाभारत और रामायण के नाम से जानते हैं। इसके अनन्तर मध्ययुगीन कवियों ने इन महाकाव्यों से गाथाएँ लेकर अमर नाटकों, आख्यायिकाओं तथा अलंकारादिविभूषित महाकाव्यों का सर्जन किया। यह ठीक है कि इन परवर्ती साहित्यिक कृतियों में सीमातीत अतिरंजना व कृत्रिमता है और इसलिए ये पाश्चात्य सहृदयों के लिए सदा रुचिकर नहीं हो पातीं। परन्तु इसके साथ ही यह तथ्य भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस साहित्य की मनमोहनी विशेषताएँ भी सीमातीत हैं। इन गीतिकाव्यों, नाटकों तथा महाकाव्यों आदि में इतना सौष्ठव है, अनुभूति की इतनी सघनता है तथा कहीं-कहीं नाटकों में इतनी मौलिकता है कि पाश्चात्य देशों के सुन्दरतम साहित्य से इसकी तुलना की जा सकती है। सूक्तियों व सुभाषितों के क्षेत्र में तो भारतीय साहित्यकार उस ऊँचाई पर पहुँचे हैं, जिस पर आज तक विश्व का कोई भी देश नहीं पहुँचा। भारत की अद्भुत कथाओं, जन्तु-कथाओं तथा गद्य आख्यायिकाओं का विश्व साहित्य में जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह बरबस अपनी ओर ध्यान खींचता है। विद्वान् बेनफी ने भारतीय जन्तु-कथाओं के ग्रन्थ पंचतन्त्र पर गंभीर गवेषणापूर्ण कार्य किया है और इससे अद्भुत कथाओं की गवेषणा की एक स्वतन्त्र शाखा का विकास हो गया है, इसमें इनके मूल, विस्तार तथा एक देश से दूसरे देश में संक्रान्ति आदि विषयों पर विचार किया जाता है।

परन्तु भारतीय मन का यह एक वैशिष्ट्य है कि भारतीय जन शुद्ध कलात्मक रचनाओं तथा वैज्ञानिक रचनाओं को अलग-अलग विभागों में नहीं बांटते, जिससे कि काव्यादिक साहित्य तथा उपदेशात्मक साहित्य के पृथक्-पृथक् वर्ग बनाना भारत में सम्भव ही नहीं है। हमें जो अद्भुत कथाएँ तथा जन्तु-कथाएँ प्रतीत होती हैं, भारतीयों के लिए वे राजनीति, विज्ञान तथा नीतिशास्त्र के ग्रंथ हैं। दूसरी ओर भारत में इतिहास तथा जीवन चरित्र लिखने का कार्य कवियों के सिवाय किसी अन्य ने नहीं किया तथा इन्हें भी महाकाव्य की शाखा के रूप में स्वीकार किया गया और न ही कविता तथा गद्य के स्वरूपों में भारत में कभी अन्तर किया गया है। ऐसे उपन्यास लिखे गए हैं जो कि अलंकारविभूषित काव्य से बिलकुल भी भिन्न नहीं हैं। अन्तर मात्र इतना है कि वे पद्य में नहीं लिखे गए हैं। प्राचीनतम काल से गद्य और पद्य को मिश्रित रूप से लिखने की एक विशिष्ट पद्धति चली आ रही है जिसे हम वैज्ञानिक साहित्य कहते हैं। भारत में उसके लिए भी गद्य का प्रयोग अत्यल्प हुआ है। अधिकांशतः पद्य ही प्रयुक्त हुआ है। दर्शनों तथा विधिग्रन्थों की भी यही स्थिति

है। चिकित्सा, गणित, ज्योतिष तथा वास्तुकला आदि के ग्रंथ भी पद्यनिबद्ध हैं। यहाँ तक कि भारतीयों ने व्याकरणों तथा शब्दकोशों की रचना भी पद्य में ही की है। इससे अधिक क्या हो सकता है कि २२ सर्गों का एक काव्य[1] व्याकरण के नियमों तथा उदाहरणों को समझाने के लिए लिखा गया है। भारतीय साहित्य में दर्शन-साहित्य की रचना अत्यन्त प्राचीन काल में शुरू हो गई थी; पहले तो धार्मिक साहित्य से संबद्ध होकर, परवर्ती काल में स्वतन्त्र रूप से। इसी तरह विधिशास्त्र और स्मृतियों का उद्भव भी अत्यन्त प्राचीन काल में हो गया था। प्रारम्भ में उनका सम्बन्ध भी धार्मिक साहित्य से ही था। परवर्ती काल में स्वतन्त्र रूप से विधि-साहित्य विकसित हुआ। यह भी अंशतः गद्य और अंशतः पद्य में लिखा गया। इस विधि-साहित्य के महत्त्व को विश्व के प्रमुख न्यायशास्त्री तथा समाज-शास्त्री विधिशास्त्र तथा समाज-विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के लिए ऐकमत्य से स्वीकार करते हैं। ईसा के जन्म से शताब्दियों पूर्व भारत में व्याकरण का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ हो चुका था। व्याकरण के क्षेत्र में भारतीय प्राचीन काल के सब राष्ट्रों से कहीं आगे थे। शब्द-कोश-विज्ञान भी अत्यन्त उच्च स्तर का था। परवर्ती काल के भारत के कवि कविता को ईश्वरीय स्फुरणा नहीं मानते थे। वे व्याकरण के नियमों का अध्ययन करते थे, नवीन तथा काव्यात्मक अभिव्यक्तियों के लिए शब्दकोशों का पारायण करते थे तथा छन्दः शास्त्र तथा साहित्य शास्त्र में वर्णित वैज्ञानिक नियमों के आधार पर पद्य-रचना करते थे। अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीयों की यह एक विशेष प्रवृत्ति रही है कि कोई भी विषय हो उसका पाण्डित्यपूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण और वर्गी-करण किया जाए। इसलिए हमें भारत में ऐसा प्रभूत साहित्य मिलता है (जिसमें कुछ प्राचीन काल का भी है) जिसमें केवल राजनीति-विज्ञान, अर्थशास्त्र, ओषध-विज्ञान, फलित ज्योतिष तथा गणित ज्योतिष, अंकगणित तथा ज्यामिति ही नहीं, संगीत, गान, नृत्य, नाटक, जादू तथा भविष्य-कथन, यहाँ तक कि कामशास्त्र भी— सबको वैज्ञानिक प्रणालियों के रूप में व्यवस्थित किया गया है। तथा सबके लिए पृथक्-पृथक् शिक्षण-ग्रंथ लिखे गए हैं।

भारतीय साहित्य का विस्तार इतना ही नहीं है। शताब्दियों तक प्रत्येक शाखा के ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी गई हैं। साहित्य इतना विशाल हो गया है कि सम्पूर्ण साहित्य की चर्चा करना भी असंभवप्राय है। धर्म, कविता तथा विज्ञान— प्रत्येक क्षेत्र में ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ हैं। यहाँ तक कि व्याकरण, दर्शन तथा विधि (धर्म-शास्त्र) के अधिकांश महत्त्वपूर्ण तथा विस्तृत ग्रंथ टीकाओं के रूप में ही हैं। ऐसे भी अनेक ग्रन्थ मिलेंगे जिनकी टीकाएँ भी स्वयं ग्रंथकारों के द्वारा लिखी गई हैं। टीकाओं पर टीकाएँ और उन पर फिर टीकाएँ लिखने की परम्परा भी बहुत प्रचलित है। इसलिए भारतीय साहित्य की विशालता पर आश्चर्य करने की कोई

---

१. भट्टिकाव्य।

बात नहीं है। भारत तथा यूरोप के पुस्तकालयों में प्राप्त सूचीपत्रों में भारतीय पाण्डुलिपियों तथा ग्रन्थकारों की चर्चा है । भारतीय साहित्य के कितने ही ग्रंथ विलुप्त हो चुके हैं; उनकी गणना भी सम्भव नहीं है। कई ग्रंथों व ग्रंथकारों के नाम तो परवर्ती लेखकों द्वारा दिए गए उद्धरणों में ही सुरक्षित हैं।

इतना महान् मौलिक तथा प्राचीन साहित्य किसके लिए आश्चर्य का विषय न होगा। इतना प्राचीन काल, इतने विशाल प्रदेश में प्रचलन और विस्तार, समृद्धि तथा साहित्यिक सौन्दर्य का आपूर ! संस्कृति तथा भारतीय साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका चरम महत्त्व तो है ही; परन्तु हमारे लिए भारतीय साहित्य के अध्ययन के लिए इन सब कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण कारण है। वह यह कि जर्मन भाषा तथा अधिकांश यूरोपीय भाषाओं के अध्ययन में भी यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है। भारतीय आर्यभाषाएँ (तथा ईरानी भाषा भी) भारत-यूरोपीय भाषा परिवार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। भारतीय साहित्य के परिचय ने यूरोप में संस्कृति के क्षेत्र में एक नए अध्याय का श्रीगणेश किया है, हमें अपनी भाषाओं के स्वरूप का साक्षात्कार कराया है; हमें यह पता चला है कि जर्मन भाषा तथा अन्य यूरोपीय भाषाएँ संस्कृत भाषा की भगिनी हैं, इनका परस्पर अन्तरंग सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल से है; भाषा, मन तथा संस्कृति की दृष्टि से हम एक ही परिवार के हैं, जिसे भारत-यूरोपीय (इंडो-यूरोपियन) परिवार कहते हैं। कुछ विवेचकों ने यह भी कल्पना की है कि "भारत-यूरोपीय भाषाओं को बोलने वाले भारतीय, पारसी, ग्रीक, रोमन, जर्मन तथा स्लाव आदि एक ही जाति के हैं। इनके पुरखे एक ही थे जिसे भारत-यूरोपीय जाति कहा जा सकता है।" निस्सन्देह ऐसी कल्पना जल्दबाजी में की गई है। परन्तु यह भले ही संदेहास्पद है कि इनके पुरखे एक ही थे, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत-यूरोपीय भाषाओं की मूल भाषा एक थी; इस प्रकार इनके मन और संस्कृति का ऐक्य निर्विवाद है। भले ही भारतीयों से हमारा रक्त-सम्बन्ध न हो, परन्तु मनः सम्बन्ध तो है ही और हमारे लिए अपनी संस्कृति और चिन्तन की धारा के उद्गम की खोज के लिए भारतीय विचारधारा और साहित्य का अवगाहन अनिवार्य है। हमारे मन, संस्कृति और विचारधारा का तो साम्य है ही। यदि हमने केवल यूरोपीय साहित्य ही पढ़ा है तो हमारा ज्ञान एकांगी है; इसकी समग्रता के लिए हमें सुदूरपूर्व में जाना होगा। अभी तक हम प्राचीन ग्रीस और रोम के साहित्य को ही पढ़ते आए हैं और उसमें ही अपना उद्गम खोजते आए हैं। पर यह खोज अधूरी है। भारतीय साहित्य इन साहित्यों का पूरक है। यह ठीक है कि कलात्मक दृष्टि से हम भारत को ग्रीक साहित्य की कोटि में नहीं रख सकते। यह भी ठीक है कि यूरोपीय विचारधारा को जितना ग्रीक और रोमन साहित्य ने प्रभावित किया है उतना भारतीय साहित्य ने नहीं, परन्तु यदि हम अपनी संस्कृति के मूल उद्गम से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, यदि हम प्राचीनतम भारत-यूरोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं, तो हमें भारत

की शरण लेनी होगी, जहाँ भारत-यूरोपीय भाषाओं का प्राचीनतम साहित्य सुरक्षित है। भारतीय साहित्य की अति प्राचीनता के विषय में किसी का कितना भी मतभेद क्यों न हो इस तथ्य में विवाद का कोई अवकाश नहीं है कि भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रंथ ही भारत-यूरोपीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रंथ है।

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हमारे अपने साहित्य पर भारतीय साहित्य का प्रभाव कम नहीं है। हमें तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि यूरोप के आख्यान-साहित्य पर भारतीय आख्यान-साहित्य का प्रभाव नगण्य नहीं है; विशेष रूप से जर्मन साहित्य और जर्मन दर्शन पर तो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतीय विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा है और इस प्रभाव में वृद्धि हो रही है और इसकी बहुत सम्भावना है कि इस शताब्दी में और भी अधिक वृद्धि होगी।

भारत-यूरोपीय भाषाओं में हमें जो विचारधारा का अन्तरंग साम्य उपलब्ध होता है, वह आज और भी स्पष्ट रूप से उभर आया है—भारतीय और जर्मनों में तो सर्वाधिक स्पष्ट रूप से। जर्मनों तथा भारतीयों में विचार-साम्य की ऐसी अनेक बातें हैं कि बरबस ध्यान खींच लेती हैं और इनकी प्रायः चर्चा होती रही है।[1] लियोपोल्ड फॉन श्रेडर का कथन है कि "भारतीय जन प्राचीन काल की भावुकतावादी (रोमांसवादी) जाति के हैं और जर्मन जन आज के रोमांसवादी हैं।" जी. ब्राण्डिस ने अपने प्रबन्धों में विस्तार से स्पष्ट किया है कि जर्मनों तथा भारतीयों, दोनों में गम्भीर विचार और अमूर्त कल्पनाओं की प्रवृत्ति है तथा दोनों का ही झुकाव सर्वेश्वरवाद की ओर है। इसके अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से भी जर्मनों और भारतीयों के चरित्र में ऐसा साम्य है जो हठात् हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेता है। केवल जर्मन कवियों ने ही संसार की दुःखमयता (weltschmerz) के गीत नहीं गाए हैं। यह "सर्वं दुःखं दुःखं" वह आधारभूत विचारधारा है जिस पर भगवान् बुद्ध का सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। एक नहीं अनेक भारतीय कवियों ने संसार के कष्टों, दुःखों, क्षणभंगुरता तथा भोगों की निस्सारता के गीत गाए हैं। जिनसे सहसा हमें दुःखवाद के कवि निकोलोस लेनॉव का स्मरण हो आता है। तथा जब हीन (Heine) कहता है—

'निद्रा है मधुर किन्तु मृत्यु है उत्कृष्टतर
है उत्कृष्टतम कभी जन्म नहीं लेना फिर'

तब वह उन भारतीय दार्शनिकों के समान ही विचार व्यक्त कर रहा है जो अत्यन्त उत्कंठा से उस मृत्यु की कामना करते हैं, जिसके बाद पुनर्जन्म न हो।

---

१. उल्लेखनीय जी. ब्राण्डिस—*Hauptstromungen der Literatur des neunzehnten Jahrhunderts* तथा लियोपोल्ड फॉन श्रेडर—*Indiens Literatur und Cultur*.

पुनः भावुकता तथा प्रकृति-प्रेम जर्मन और भारतीय कविता में समान है, जबकि हिब्रू और ग्रीक कविता में इसका नामनिशान भी नहीं है। जर्मनों तथा भारतीयों, दोनों को प्रकृति-वर्णन से प्रेम है; तथा जर्मन और भारतीय कवि मानव के हर्ष और विषाद का प्रतिबिंब प्रकृति में देखते हैं, जिससे वे घिरे हुए हैं। इनसे विभिन्न एक क्षेत्र और भी है जहाँ हमें जर्मनों और भारतीयों में साम्य दृष्टिगोचर होता है। इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि भारतीयों में यह प्रवृत्ति है कि वे हर बात का वैज्ञानिक विश्लेषण व वर्गीकरण करते हैं और यह कहना शतप्रतिशत सत्य होगा कि भारतीय जन प्राचीन काल के पण्डित हैं और जर्मन जन आज के पण्डित हैं। भारतीयों ने अत्यन्त प्राचीन काल में अपने प्राचीन पवित्र ग्रंथों का भाषाविज्ञान के आधार पर विश्लेषण कर लिया था तथा अपनी भाषा का वैज्ञानिक वर्गीकरण कर लिया था। व्याकरण का विकास तो इस चरम सीमा तक पहुँच चुका था कि वह आज के भाषा-विज्ञान का पूर्ण आधार बन सकता है। इसी प्रकार आज के जर्मन भाषा-विज्ञान तथा भाषाशास्त्र के क्षेत्र में सर्वमान्य नेता हैं।

भारतीय भाषा-विज्ञान तथा भारतीय साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में अग्रणी व मार्ग-विधायक होने का श्रेय जर्मनों को प्राप्त है। इसमें सन्देह नहीं कि इस क्षेत्र में हम अंग्रेजों के ऋणी हैं। भारत के शासन के संचालन में अपनी क्रियात्मक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने भारतीय भाषा व साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में अन्यदेशीय विद्वानों ने भी कार्य किया है—फ्रांसीसी, इतालवी, डच, डेनिश, अमरीकी तथा रूसी विद्वान्। भारतीय विद्वानों का कार्य भी इस क्षेत्र में अविस्मरणीय है। फिर भी सर्वाधिक श्रेय के भागी जर्मन विद्वान् ही हैं। उन्होंने संस्कृत ग्रंथों के सम्यक् पर्यालोचित संस्करण प्रकाशित किए, उनकी व्याख्या की तथा गवेषणात्मक निबन्ध लिखे तथा शब्दकोशों और व्याकरणों की रचना की। जो भी भारतीय विद्या के इतिहास का अध्ययन करेगा उसे यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाएगा।

यूरोप में भारतीय साहित्य के अध्ययन का सूत्रपात[1]

भारतीय साहित्यिक ग्रंथों का भण्डार अति विशाल है। किसी एक व्यक्ति के लिए इसका पर्यालोचन अत्यन्त दुष्कर है। यूरोप में इसे प्रकाश में आए हुए सौ वर्ष से कुछ ही अधिक समय हुआ है।

वैसे तो १७वीं और अधिकतर १८वीं शताब्दी में इक्के-दुक्के यात्रियों ने तथा मिशनरियों ने भारतीय भाषाओं का कुछ कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया

१. विस्तार के लिए देखिए ई विन्डिश्च—*Geschichte der Sanskrit—Philologie und indischen Altertumskunds.*

था और भारतीय साहित्य के एकाध ग्रन्थ का परिचय प्राप्त कर लिया था, परन्तु इन प्रयत्नों को आगे बढ़ाने वाले मनीषियों के अभाव के कारण कोई विशेष फल नहीं निकला। हालैंड निवासी अब्राहम रोजर मद्रास के उत्तर में पालियाकट्टा नामक स्थान पर प्रचार-कार्य करता था। १६५१ में उसका एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ "अज्ञात मूर्तिपूजक धर्म का उद्‌घाटन"[१]। इस ग्रंथ का विषय था भारतीय ब्राह्मणों का प्राचीन साहित्य। उसने भर्तृहरि की कुछ सूक्तियों का प्रकाशन भी किया। एक ब्राह्मण ने पुर्तगाली भाषा में इनका अनुवाद करके उसे दिया था। बाद में हर्डर ने अपने ग्रन्थ "जनता के गीतबद्ध स्वर"[२] में इन सूक्तियों का उपयोग किया। १६९९ में जैसविट फादर जान योहॉन एन्सर्ट हॉनलेडन भारत गया तथा तीस से अधिक वर्ष मालाबार मिशन में कार्य किया। उसे भारतीय भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान था। उसका ग्रंथ "संस्कृत-व्याकरण"[3] उल्लेखनीय है। संस्कृत-व्याकरण लिखने वाला वह प्रथम यूरोपीय विद्वान् था। यह ग्रंथ मुद्रित नहीं हुआ, परन्तु फ्रा पाओलिनो दे सेण्ट बार्थोलोमियो ने अपनी गवेषणाओं में इसका उपयोग किया। इसका असली नाम जे पीएच. वैसडिन था। यह आस्ट्रियन श्वेताम्बर ईसाई संन्यासी (Carmelite) था। निर्विवाद रूप से यह हमारे लिए भारतीय साहित्य के द्वार उद्‌घाटन करने वाले मिशनरियों में अग्रगण्य और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसने मालाबार-तट पर १७७६ से १७८९ तक मिशनरी कार्य किया। इसकी मृत्यु १८०५ में रोम में हुई। इसने दो संस्कृत-व्याकरण लिखे तथा अनेक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखे। इसके दो ग्रन्थ "ब्राह्मणों की शास्त्रव्यवस्था"[४] तथा "पूर्वी भारत की यात्रा"[५] अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसे भारत तथा ब्राह्मणों के साहित्य के विषय में प्रभूत ज्ञान था। भारतीय भाषाओं का भी वह पण्डित था। भारतीय धार्मिक विचारधारा के सम्बन्ध में उसका अध्ययन अत्यन्त गम्भीर था। परन्तु उसके ग्रंथों की प्रभविष्णुता परवर्ती काल के गवेषकों के लिए नाममात्र ही रही।

इस ही काल में अंग्रेजों ने भी भारतीय भाषा व साहित्य के क्षेत्र में अभिरुचि लेनी प्रारम्भ कर दी थी। भारत में ब्रिटिश शासन का वास्तविक प्रतिष्ठापक वारेन हेस्टिंग्स था। भारतीय साहित्य के अध्ययन में प्रेरणा देने का सर्वाधिक कार्य उसने ही किया। सर्वप्रथम उसके ही कार्य का कुछ फल निकला। उसके द्वारा प्रारम्भ की गई परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही। वह इस तथ्य से अवगत

१. *Open-deure tot het verborgen Heydendom.*

२. *Stimmen der Völker in Liedern.*

३. *Grammatica Granthamia seu Samscridumica.*

४. *Systema Brahmanicum.*

५. *Reise nach Ostindien.*

हो गया था कि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य तभी सुरक्षित है यदि शासक लोग भारतीयों की सामाजिक तथा धार्मिक विचारधारा को समझेंगे और तदनुसार कार्य व व्यवहार करेंगे। अंग्रेज इस तथ्य को कभी नहीं भूले। वारेन हेस्टिंग्स की प्रेरणा से ही यह कानून बना कि भारतीय न्यायालयों में कार्यवाही के समय परम्परागत भारतीय विद्वान् भी बैठेंगे जो कि निर्णय में अंग्रेज न्यायाधीशों की सहायता करेंगे। १७७३ में वारेन हेस्टिंग्स बंगाल के गवर्नर-जनरल के पद पर आसीन हुआ। उसने परम्परागत धर्मशास्त्र के विद्वान् अनेक ब्राह्मणों के द्वारा 'विवादार्णव-सेतु' नाम के ग्रन्थ की रचना करवाई। इसमें उत्तराधिकार, विवाह इत्यादि सबके विषय में कानून थे। परन्तु इस पुस्तक का संस्कृत से अंग्रेजी में अनुवाद करने वाला कोई विद्वान् नहीं मिला। इसलिए इसका फारसी में अनुवाद करवाया गया और नैथेनियल ब्रैसी हालडेड ने इसका फारसी से अंग्रेजी में अनुवाद किया। **'ए कोड ऑफ जेन्टू लॉ'** (हिन्दू विधि संहिता)[१] के नाम से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १७७६ में अपने व्यय से प्रकाशित करवाया।

चार्ल्स विल्किन्स प्रथम अंग्रेज था, जिसने संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। उसे वारेन हेस्टिंग्स ने प्रेरणा दी कि वह संस्कृत-विद्या के मुख्य केन्द्र वाराणसी में पण्डितों से संस्कृत पढ़े। चार्ल्स विल्किन्स ने १७८५ में दार्शनिक काव्य भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। यह संस्कृत की प्रथम पुस्तक थी जिसका कि किसी भी यूरोपीय भाषा में संस्कृत से सीधा अनुवाद हुआ। इसके दो वर्ष बाद जन्तु-कथा हितोपदेश का तथा १७९५ में महाभारत के शकुन्तला-आख्यान का अनुवाद उसने प्रकाशित किया। उसकी संस्कृत-व्याकरण १८०८ में प्रकाशित हुई। उसके मुद्रण के लिए यूरोप में प्रथम बार संस्कृत टाइप ढाला गया, संस्कृत अक्षरों का लेखन स्वयं चार्ल्स विल्किन्स ने किया। चार्ल्स विल्किन्स प्रथम यूरोपीय विद्वान् था, जिसने भारतीय शिलालेखों का अध्ययन किया और उनमें से कुछ के अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किए। चार्ल्स विल्किन्स ने मार्ग-प्रदर्शक का कार्य किया। इस क्षेत्र में इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रसिद्ध प्राच्य विद्याविशारद विलियम जोन्स[२] (जन्म १७४६ तथा मृत्यु १७९४) ने किया। विलियम जोन्स १७८३ में भारत गया और फोर्ट विलियम में मुख्य न्यायाधीश के पद पर आसीन हुआ। भारत जाने से पूर्व ही युवावस्था में उससे प्राच्य काव्यों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था तथा अरबी तथा फारसी की कुछ कविताओं का

---

१. इसका जर्मन अनुवाद १७७८ में हम्बर्ग में प्रकाशित हुआ। 'जेन्टू' शब्द पोर्चुगीज शब्द 'जेन्टियो' का आंग्लभारतीय रूप है। 'जेन्टियो' का अर्थ है मूर्तिपूजक=भारतीय मूर्तिपूजक =हिन्दू।

२. विलियम जोन्स महान् विद्वान् तथा उत्साही प्राच्य-विद्या विशारद तो था ही, इसके साथ ही वह प्रथम आंग्ल-भारतीय कवि भी था। उसने ब्रह्मन्, नारायण तथा लक्ष्मी इत्यादि विषयों पर कविताएँ लिखीं।

अंग्रेजी अनुवाद किया था। भारत में जाने के बाद उसकी अभिरुचि संस्कृत तथा भारतीय साहित्य के अध्ययन में बढ़ी। ऐसे उत्साही मनीषी के लिए यह स्वाभाविक ही था। भारत में पहुँचने के एक वर्ष बाद वह 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' की स्थापना कर चुका था। इस सोसायटी ने संस्कृत ज्ञान के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया; कई पत्रिकाएं निकालीं तथा अनेक संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित किए। १७८९ में उसने संस्कृत के मूर्धन्य कवि महाकवि कालिदास के **अभिज्ञानशाकुन्तल** का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। इस अंग्रेजी का जॉर्ज फास्टर-कृत जर्मन अनुवाद १७९१ में प्रकाशित हुआ, जिसे पढ़कर हर्डर तथा गेटे जैसे महाकवि भी भावविभोर हो उठे और मुक्तकंठ से प्रशंसा की। १७९२ में विलियम जोन्स नें कालिदास के काव्य **ऋतुसंहार** का कलकत्ता में मुद्रण करवाया। यह प्रथम संस्कृत पुस्तक थी, जो मुद्रित हुई। विलियम जोन्स का इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है मनुस्मृति का अंग्रेजी में अनुवाद। भारतीय धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति का महत्त्व सर्वाधिक है। इसका जर्मन अनुवाद वेइमार से १७९७ में प्रकाशित हुआ। आधुनिक भाषा-विज्ञान का तो जन्मदाता ही विलियम जोन्स है। वह प्रथम मनीषी था जिसने यह प्रख्यापित किया कि संस्कृत का लैटिन और ग्रीक से पारिवारिक सम्बन्ध है, तथा इसका जर्मन, केल्टिक और फारसी से भी सम्बन्ध प्रतीत होता है। ग्रीक तथा रोमन देवता-विज्ञान की प्राचीन भारत के देवता-विज्ञान से समानताओं की चर्चा तो वह पहले ही कर चुका था।

अध्यवसायी विलियम जोन्स भारतीय साहित्य की निधियों को अत्यन्त उत्साह से प्रकाश में लाया और इस दिशा में प्रेरणा देने वालों में उसका नाम अग्रगण्य है। हेनरी थॉमस कोलब्रुक ने जोन्स द्वारा प्रवर्तित कार्य को गंभीरता का पुट दिया; उसे भारतीय भाषा-विज्ञान तथा पुरातत्त्व का संस्थापक कहा जा सकता है। कोलब्रुक १७ वर्ष की वयस् में भारत में सरकारी कर्मचारी होकर आया। भारत-निवास के प्रथम ११ वर्षों में उसका संस्कृत व संस्कृत-साहित्य की ओर ध्यान नहीं गया। जब १७९४ में विलियम जोन्स का देहावसान हुआ तो कोलब्रुक ने संस्कृत भाषा का अध्ययन अभी समाप्त ही किया था तथा विलियम जोन्स के मार्ग-निर्देशन में कानून की एक संस्कृत पुस्तक का अनुवाद शुरू किया था। यह पुस्तक भारतीय विद्वानों के द्वारा प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर 'उत्तराधिकार तथा अनुबन्ध' पर लिखी गई थी। इसका शीर्षक था 'अनुबन्ध तथा उत्तराधिकार के हिन्दू कानून की संहिता'[1]। इसके बाद कोलब्रुक भारतीय साहित्य की गवेषणाओं में अनथक उत्साह से सर्वात्मना व्यापृत हो गया। विलियम जोन्स की अभिरुचि काव्य की ओर अधिक थी, पर कोलब्रुक ने विशेष रूप से वैज्ञानिक

१. *A Digest of Hindu Law on Contracts and Successions.*

साहित्य को अपना क्षेत्र बनाया। भारतीय कानून पर उसने अनेक ग्रंथ लिखे, जिनके लिए हम उसके ऋणी हैं। इसके अतिरिक्त उसने भारतीयों के दर्शन, धर्म, व्याकरण, ज्योतिर्विज्ञान तथा अंकगणित पर भी अनेक निबन्ध लिखे और इन क्षेत्रों में मार्ग-दर्शक का कार्य किया। १८०५ में उसने अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'वेद-विषय' (On the Vedas) में सर्वप्रथम भारतीयों के प्राचीनतम पवित्र ग्रन्थों के विषय में निश्चित तथा विश्वसनीय जानकारी दी।[१] उसने अमरकोष व अन्य भारतीय शब्दकोषों, पाणिनि की प्रसिद्ध व्याकरण, हितोपदेश तथा महाकाव्य किरातार्जुनीय का सम्पादन किया। उसने एक 'संस्कृत-व्याकरण' लिखा तथा कई शिलालेखों का संपादन व अनुवाद किया। उसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि विभिन्न विषयों की भारतीय पाण्डुलिपियों का संग्रह किया। इस संग्रह पर उसके लगभग १०,००० पौण्ड खर्च हुए। इंगलैण्ड लौटने पर उसने यह संग्रह ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भेंट कर दिया। यह पाण्डुलिपि-संग्रह आज लन्दन के इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय की सर्वाधिक अमूल्य निधि है।

१८वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जिन अंग्रेजों ने जोन्स तथा कोलब्रुक की भाँति संस्कृत का अध्ययन किया, उनमें से एक विद्वान् था एलेग्जेण्डर हैमिल्टन। वह १८०२ में फ्रांस होता हुआ इंगलैण्ड लौटा और कुछ समय पारी (पेरिस) रहा। उस समय एक घटना ऐसी हुई जो उसके लिए तो अप्रिय थी परन्तु जो संस्कृत-विद्या के लिए अत्यन्त हितकर सिद्ध हुई। फ्रान्स और इंगलैण्ड की लड़ाई जो आमीन्स (Amiens) की शान्ति-सन्धि द्वारा कुछ देर के लिए रुक गई थी, फिर शुरू हो गई और नेपोलियन ने आज्ञा जारी कर दी थी कि फ्रांस में जितने अंग्रेज हैं, उन्हें अपने देश न जाने दिया जाए और पारी (पेरिस) में ही रोक लिया जाए। हैमिल्टन उन अंग्रेजों में से एक था। उसी समय (१८०२ में) जर्मन कवि फ्रेडरिक श्लेगल[२] पारी (पेरिस) में रहने के लिए आया और १८०७ तक रहा; बीच-बीच

१. यजुर्वेद का एक तथाकथित अनुवाद १७७८ में फ्रेंच में एज़ाउर-वेदम् (Ezour-Vedam) नाम से प्रकाशित हुआ। इसका अनुवाद जर्मन में १७७९ में प्रकाशित हुआ। यह एक मनगढ़न्त पुस्तक है, इसका यजुर्वेद से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोगों का ख्याल था कि यह प्रपंच मिशनरी रोबर्टो दे नोबिली ने किया था। परन्तु डब्ल्यू. कालान्द, जाकरये (जीजीए १९२१, पृ० १५७) तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि नोबिली ने यह कार्य नहीं किया। वाल्टेयर को यह तथाकथित अनुवाद पाण्डिचेरी से आए हुए एक सरकारी कर्मचारी के द्वारा मिला था और उसने यह १७६१ में पेरिस के राजकीय पुस्तकालय को दे दिया था। वाल्टेयर का मत था कि यह अनुवाद एक सौ बरस की वयस् के ब्राह्मण ने किया है। वाल्टेयर इसे प्रामाणिक रूप में उद्धृत करता है। १९८२ में जोनेराट ने इसे मनगढ़न्त गप्प के रूप में उद्घोषित किया (ए. डब्ल्यू. श्लेगल 'भारतीय ग्रन्थागार' २, पृष्ठ ५०)

२. देखिए ए.एफ.जे. रेमी—*The Influence of India and Persia on the Poetry of Germany* तथा पी. पीएच. हॉफमैन—*Der indische und der deutsche Geist von Herder bis zur Romantik.*

में कुछ समय के लिए बाहर गया। हैमिल्टन को बाधित होकर वहाँ रहना पड़ रहा था। अंग्रेज विद्वानों के संस्कृत-अध्ययन-प्रयत्नों में जर्मन विद्वान् बहुत समय से अभिरुचि ले रहे थे। विशेष रूप से विलियम जोन्स द्वारा किया गया अभिज्ञान शाकुन्तल का अनुवाद बहुत चर्चा का विषय रहा था। यह अनुवाद तत्काल ही (१७९१ में) जर्मन भाषा में अनूदित हो चुका था। १७९५-९७ में विलियम जोन्स के ग्रन्थों का जर्मन अनुवाद प्रकाशित हुआ। उसके मनुस्मृति के अनुवाद का जर्मन अनुवाद भी १७९७ में प्रकाशित हुआ। फ्रा पाओलिनो दे सेण्ट बार्थोलोमियो के ग्रंथ भी जर्मन विद्वानों की दृष्टि में आ चुके थे। इस विषय में यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि श्लेगल-बन्धुओं द्वारा प्रवर्तित रोमाण्टिक स्कूल का भारतीय साहित्य के प्रति सहज आकर्षण था। वास्तव में जर्मनी में यह एक ऐसा समय था कि विदेशी साहित्य के प्रति लोगों ने बहुत रुचि और उत्साह प्रदर्शित करना शुरू कर दिया था। हर्डर[1] अपने ग्रंथों के द्वारा पुन: पुन: प्राच्य विद्या की ओर जर्मनों का ध्यान आकृष्ट कर चुका था। भावुकतावादी (Romanticists) तो अद्भुत और सुदूर के प्रति स्वभावत: आकृष्ट थे; उन्होंने भारत के प्रति विशेष आकर्षण का अनुभव किया। श्लेगल ने तो स्पष्ट रूप से घोषणा की कि भारत के साहित्य के अध्ययन से हमें आशा है कि संसार के आदिकाल के इतिहास पर पड़ा हुआ काला पर्दा उठेगा तथा कविताप्रेमी विशेष रूप से अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रकाश में आने के बाद यह आशा करते हैं कि हमें उसी की भाँति भव्य तथा प्रेम से सजीव एशिया के मानस की सुन्दर कृतियाँ प्राप्त होंगी। अत: इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि श्लेगल ने पारी (पेरिस) में एलेग्जेण्डर हैमिल्टन से परिचय प्राप्त किया और तत्काल उससे संस्कृत पढ़ने के सुअवसर का लाभ उठाया। १८०३ तथा १८०४ में उसने संस्कृत पढ़ी तथा अपने पेरिस-निवास के बाद के वर्षों में पेरिस पुस्तकालय का लाभ उठाया। उस समय वहाँ दो सौ से अधिक भारतीय पाण्डुलिपियाँ संगृहीत थीं। इन अध्ययनों के फलस्वरूप श्लेगल ने १८०८ में अपना ग्रंथ 'भारतीयों की भाषा तथा मनीषा—पुरातत्त्व की भित्तिशिला में योगदान'[2] प्रकाशित किया। इसके द्वारा ही श्लेगल जर्मन में भारतीय भाषा-विज्ञान के प्रवर्त्तक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यह ग्रंथ अत्यन्त उत्साह से लिखा गया तथा इसमें अन्यों में उत्साह जागृत करने की क्षमता थी। इस ग्रंथ में रामायण, मनुस्मृति, गीता तथा महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान के कुछ अंशों के अनुवाद भी सम्मिलित थे। संस्कृत से सीधे जर्मन में ये प्रथम अनुवाद थे। पहले अनुवाद अंग्रेजी के माध्यम से हुए थे।

---

१. *Stimmen der Völker in Liedern'* तथा *'Ideen zur Geschichte der Mennschheit.*

२. *Ueber die sprache und Weisheit der Indier. Eein Beitrag zur Begründung der Altertumskunde.*

फ्रेडरिक श्लेगल के ग्रंथ का मुख्य प्रभाव हुआ—इस दिशा में विद्वानों की रुचि और प्रगति। उसका भाई ऑगस्ट विल्हेल्म फॉन श्लेगल प्रथम विद्वान् था जिसने जर्मनी में संस्कृत के गम्भीर तथा विस्तृत अध्ययन का प्रारम्भ किया। उसने संस्कृत के अनेक मूल ग्रंथों का अनुवाद किया तथा भाषा-विज्ञान के ग्रंथों का प्रकाशन किया। वह जर्मनी में प्रथम संस्कृत का प्रोफेसर था; १८१८ में नव स्थापित बॉन विश्वविद्यालय में उसने इस पद को अलंकृत किया। अपने भाई के समान उसने भी संस्कृत का अध्ययन पेरिस में प्रारम्भ किया। उसका गुरु फ्रांसीसी विद्वान् केज़ी (A.L. Chêzy) था; जो कि प्रथम फ्रांसीसी विद्वान् था जिसने संस्कृत का अध्ययन तथा अध्यापन किया। वह प्रथम फ्रांसीसी संस्कृत प्रोफेसर था और 'कॉलेज दे फ्रांस' में इस पद पर आसीन था। उसने भारतीय ग्रन्थों के सम्पादन तथा अनुवाद के द्वारा इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। १८२३ में त्रैमासिक पत्र 'भारतीय ग्रंथागार' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। यह ऑगस्ट जोन्स विलियम द्वारा संपादित था और लगभग सारा उसके द्वारा लिखित भी था। इसमें भारतीय भाषा-विज्ञान पर अनेक निबन्ध थे। इसी वर्ष उसने गीता का लैटिन अनुवाद सहित एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया। श्लेगल ने रामायण का भी एक संस्करण प्रकाशित किया; यह अपूर्ण है, परन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऑगस्ट विल्हेल्म फॉन श्लेगल का ही समकालीन विद्वान् फ्रैन्ज़ बॉप हुआ। इसका जन्म १७७१ में हुआ। १८१२ में वह प्राच्य भाषाओं के अध्ययन के लिए पेरिस गया और केजी से संस्कृत पढ़ी। परन्तु जबकि श्लेगल-बन्धु भावुकतावादी (रोमांटिक) कवि होने के नाते भारत के प्रति उत्साहशील थे और उन्होंने भारतीय साहित्य के अध्ययन को एक साहसिक कार्य के रूप में लिया था,[1] बॉप का अध्ययन एक गम्भीर गवेषक की दृष्टि से था। बॉप ही इस नवीन विज्ञान—तुलनात्मक भाषाविज्ञान—का संस्थापक कहा जा सकता है, जो विश्व को एक महान् देन है। उसने इस विषय में १८१६ में अपना महान् ग्रन्थ **'ग्रीक, लैटिन, फारसी तथा जर्मन भाषाओं की तुलना में संस्कृत की क्रियारूपव्यवस्था'**[2] प्रकाशित किया। भारतीय साहित्य की गवेषणा में भी बॉप का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसने 'धातुरूपव्यवस्था' के परिशिष्ट में रामायण तथा महाभारत के कुछ उपाख्यानों का मूल से पद्यबद्ध अनुवाद प्रस्तुत किया तथा कोलब्रुक के अंग्रेजी अनुवाद के आधार

१. फ्रेडरिक श्लेगल ने एक पत्र में गेटे को लिखा था—'एक सीमा तक मैंने सम्पूर्ण यूरोपीय साहित्य का पारायण कर लिया है। अब मैंने ज्ञान के क्षेत्र नवीन कार्य के लिए एशिया के साहित्य को अपना क्षेत्र बनाया है।'

२. *Ueber das Conjugation-system der Sanskrit-sprache in Vergleichung mit jenem der gwechischen, lateinischen, perischen und germanischen sprache.*

पर वेद के कुछ मन्त्रों का भी पद्यानुवाद किया। उसने अपनी अद्भुत प्रतिभा तथा परिश्रम से महाभारत से मनोरम नल-दमयन्ती-उपाख्यान को पृथक् किया और लैटिन अनुवाद के साथ उसका आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित किया[१]। महाभारत में असंख्य उपाख्यान भरे पड़े हैं और उनमें से प्रत्येक उपाख्यान अपने आप में पूर्ण है। नल-दमयन्ती-उपाख्यान महाभारत के सुन्दरतम उपाख्यानों में है तथा भारतीय काव्यकला की उत्तम सृष्टि में अन्यतम है। इसे पढ़कर भारतीय साहित्य के प्रति उत्साह जागृत होता है तथा संस्कृत-अध्ययन के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न होती है। पाश्चात्य-विश्वविद्यालयों में तो यह प्रथा ही हो गई है कि संस्कृत का अध्यापन नल-दमयन्ती-उपाख्यान से प्रारम्भ किया जाए। अन्य विशेषताओं के साथ इसकी भाषा भी बहुत सरल है। बॉप ने महाभारत के अन्य कई उपाख्यान भी जर्मन-अनुवाद सहित प्रकाशित किए। उसकी "संस्कृत व्याकरणों" (१८२७-१८३२ तथा १८३४) ने तथा "संस्कृत-शब्दकोश" (बर्लिन १८३०) ने[२] जर्मनी में संस्कृत अध्ययन की प्रगति में बड़ा योगदान किया है। सद्यः प्रसूत विज्ञान तुलनात्मक भाषाविज्ञान के लिए तथा संस्कृत के अध्ययन के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि मौलिक बहुविषयज्ञ तथा प्रभावशाली विद्वान् विल्हेल्म फॉन हम्बोल्ड्ट इन अध्ययनों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्त हुआ। संस्कृत का अध्ययन उस समय भी भाषाविज्ञान के अध्ययन से सम्बद्ध रूप में चला आ रहा था। उसने १८२१ में संस्कृत पढ़ना शुरू किया। उसके संस्कृत-अध्ययन का मुख्य उद्देश्य भाषाविज्ञान का अध्ययन था। उसने एक पत्र में ऑगस्ट विल्हेल्म फॉन श्लेगल[३] को लिखा था कि मैं इस निर्णय पर पहुँच चुका हूँ कि संस्कृत के गम्भीर अध्ययन के बिना भाषाविज्ञान तथा तत्सम्बद्ध इतिहास के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय खोज सम्भव नहीं है। जब श्लेगल ने १८२८ में भारतीय अध्ययन के विकास का विवेचन किया तो उसने कहा कि "इस नवीन विज्ञान (भाषाविज्ञान) के लिए यह विशेष सौभाग्य की बात है कि उसे हम्बोल्ड्ट जैसा भावनामय प्रेमी व संरक्षक प्राप्त हुआ"। गीता के श्लेगल के संस्करण ने हम्बोल्ड्ट का ध्यान इस आध्यात्मिक काव्य की ओर आकृष्ट किया। उसने भगवद्गीता पर अनेक निबन्ध लिखे और उन दिनों फ्रीडरिक फॉन गेन्ट्ज़ (१८२७) को एक पत्र में लिखा—"सम्भवतः यह विश्व की गम्भीरतम और उदात्ततम कृति है जिस पर वह गर्व कर सकता है।" इसके अनन्तर जब उसने १८२८ में अपना भगवद्गीता पर लिखा ग्रंथ भेजा तो साथ पत्र में लिखा कि हीगल द्वारा की गई आलोचना के प्रति आदर की भावना रखते हुए भी मैं इस भारतीय आध्यात्मिक काव्य को बहुत महत्त्व देता हूँ। मैंने प्रथम बार

१. *Nalus, Carmen Sanskritum e Mahabharato.*
२. *Glossarium Sanscritum.*
३. *Indische Bibliothek*, 1, P. 433.

गीता सिलेसिया के एक ग्राम में रहते पढ़ी थी। पढ़ते समय निरन्तर मैं अपने भाग्य के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करता रहा कि मुझे इतनी दीर्घ आयु दी कि मैं इस ग्रन्थ से परिचित हो सका"।

अभी जर्मन साहित्य के एक अन्य महान् नेता का नामकीर्तन शेष है, जिसे भारतीय काव्य के प्रति अत्यन्त उत्साह है। यह हमारे लिए अत्यन्त सौभाग्य का विषय है। इस जर्मन कवि का नाम है फ्रीडरिक रूईकेट। अनुवाद-कला की दक्षता में इसकी तुलना नहीं की जा सकती। भारत के महाकाव्यों तथा गीतिकाव्यों के सुन्दरतम रत्नों में वस्तुतः कुछ ऐसी चीज है—

'भारतीय ताल-तरु-शिखरों में घूम घूम
जो सहस्रों वर्ष पूर्व लहराई झूम झूम'

और जो उसके द्वारा जर्मन लोगों की सर्वसाधारण की सम्पत्ति बन गई है।[1]

१८३० तक तथाकथित लौकिक संस्कृत साहित्य पर ही यूरोपीय अध्येताओं का लगभग सारा ध्यान केन्द्रित था। शकुन्तला नाटक, दार्शनिक काव्य भगवद्गीता, मनुस्मृति, भर्तृहरि की सूक्तियाँ, जन्तु-कथा-ग्रन्थ हितोपदेश तथा रामायण, महाभारत के चुने हुए अंश—प्रायः ये ही मुख्य कृतियाँ थीं जिनको आधार बनाकर गवेषक व्यापृत थे। इन कृतियों को ही संस्कृत-साहित्य का मूल भण्डार समझा जाता था। भारतीय साहित्य का महान् तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र वेद लगभग पूर्णतया अज्ञात था। तथा महान् बौद्ध साहित्य का तो परिचय ही नहीं था। १८३० तक वेदों के विषय में जो अत्यल्प ज्ञान था, वह भारत के विषय में लिखने वाले, प्राचीन लेखकों की अत्यन्त अपूर्ण तथा नाममात्र जानकारी तक सीमित था। इस विषय में प्रथम विश्वसनीय जानकारी कोलब्रुक ने पूर्ववर्णित "वेद-विषय" नामक ग्रंथ में १८०५ में दी। वेदों की तुलना में उपनिषदों के विषय में यूरोपीय विद्वानों को अधिक जानकारी थी। उपनिषद् वेदों से सम्बद्ध दार्शनिक ग्रंथ हैं। उपनिषद् साहित्य १७वीं शताब्दी में फारसी में अनूदित हुआ था। अनुवादक था महान् मुगल सम्राट् शाहजहाँ का पुत्र, औरंगजेब का भाई, अभागा राजकुमार मोहम्मद दारा शिकोह[2]। फारसी से उपनिषदों का लैटिन अनुवाद १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में फ्रांसीसी विद्वान् एनपेटिल दुमपेरो ने 'ऑपनेखत' शीर्षक से किया। यह लैटिन अनुवाद अपूर्ण तथा अत्यन्त अशुद्ध था; फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जर्मन दार्शनिक शैलिंग तथा विशेष रूप से

---

१. रूईकेट के अनुवादों के सम्पादित संस्करण—
Indische Liebeslyrik.

२. इस राजकुमार के जीवन के अन्त की कथा बहुत दुःखद है। देखिए—एल. फॉन श्रेडर—*Dara oder Schah Dschehan und seine söhne.*

शोपनहार इस अनुवाद को पढ़कर भारतीय दर्शन के प्रति गम्भीर रूप से आकृष्ट हुए। शोपनहार इस अपूर्ण एवं अशुद्ध अनुवाद पर भी मुग्ध था और उसने उपनिषदों को "मानव की उच्चतम मनीषा की सृष्टि" कहा। शोपनहार के सम्मुख वे उपनिषद् नहीं थे, जिन्हें हम आज जानते हैं। हमारे ज्ञान का आधार भारतीय भाषाविज्ञान का गम्भीर निश्चित विज्ञान तथा भारतीयों के सम्पूर्ण दर्शन का ज्ञान है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जर्मनी में शोपनहार भारतीयों की उपनिषदों से जितने विचार निकाल रहा था, उनसे अधिक अपने दार्शनिक विचार भर रहा था। इस ही काल में भारत में एक महापुरुष उपनिषदों का सत्य स्वरूप, सामने रख रहा था। वह था 'ब्राह्मोसमाज' का संस्थापक राममोहन-राय। ब्राह्मोसमाज एक नया धार्मिक समाज है जिसका यूरोपीय धर्मों के उदात्ततम उपदेशों की हिन्दू धर्म से संगति स्थापित करना है। राममोहनराय भारत के उदात्ततम मनीषिवरतम विद्वानों में अन्यतम था। इस महान् भारतीय ने उन्हीं उपनिषदों से भगवान् के प्रति शुद्धतम विश्वास का उद्घाटन किया और अपने देशवासियों को समझाया कि यद्यपि आधुनिक भारतीय धर्मों में प्रचलित मूर्तिपूजा आपत्तिजनक है, परन्तु इस कारण से भारतीयों को ईसाई बनने की आवश्यकता नहीं है। भारतीय अपने पवित्र ग्रन्थों—वेदों—में शुद्ध धर्म का साक्षात्कार कर सकते हैं, यदि वे उन्हें समझने का प्रयत्न करें। राममोहनराय की शिक्षा नवीन नहीं थी क्योंकि यह प्राचीन पवित्र ग्रंथों में विद्यमान है। परन्तु वह इस अर्थ में नवीन ही थी कि उसने ब्राह्मो-समाज (भगवान् का समाज) की स्थापना की और इसके द्वारा इस शिक्षा का प्रसार किया। वह ईसाई धर्मशास्त्रियों और मिशनरियों को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखता था। उनके सम्मुख उसने सिद्ध किया कि जो वे सिखाते हैं वह उपनिषदों में पहले से ही है। उसने १८१६-१९ में अनेक उपनिषदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा कुछ को मूल रूप में भी प्रकाशित किया।[1]

वेदों की वास्तविक भाषावैज्ञानिक शोध १८३८ में प्रारम्भ हुई; लन्दन में फ्रीडरिक रोज़ेन ने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का प्रकाशन किया; ग्रंथ उसके असा-मयिक देहावसान के कारण पूरा नहीं हो सका। यूरोप में वेदाध्ययन की आधार-शिला रखने का श्रेय महान् प्राच्य-विद्या-शास्त्री यूजीन बर्नाफ़ को है। वह उन्नीसवीं शताब्दी के पञ्चम दशक के प्रारम्भ में कालिज दे फ्रान्स में अध्यापक था। उसके अनेक योग्य शिष्य थे। उनमें से एक था रुडोल्फ रॉथ। उसने अपने १८४६ में प्रकाशित ग्रंथ 'वेदों का साहित्य तथा इतिहास'[2] के द्वारा जर्मनी में वेदों के

---

१. ओथमर फ्रैंक के निम्न ग्रन्थों में उपनिषदों के कुछ अंश प्रकाशित हुए—*Ckrestomathia Sanscrita* तथा *Vyās, Über Philosophie, Mythologie, Literatur und sprache der Hindu.*

२. *Zur Litteratur und Geschichte des weda.*

अध्ययन का प्रवर्तन किया। रॉथ तथा उसके अनेक शिष्यों ने आगामी वर्षों और दशकों में भारत के इस उदात्ततम साहित्य की गवेषणा में अपने को सर्वात्मना समर्पित कर दिया। बर्नाफ का दूसरा महान् शिष्य था मैक्समूलर, जिसे उसने रॉथ के साथ ही वेदाध्ययन में दीक्षित किया था। बर्नाफ की प्रेरणा से मैक्समूलर ने सायणभाष्य सहित ऋग्वेद के प्रकाशन की योजना बनाई। यह संस्करण १८४९-७५[1] में प्रकाशित हुआ। यह संस्करण वैदिक गवेषणा के लिए अपरिहार्य है। इस संस्करण के पूर्ण होने से पूर्व ही ऑफ्रेक्ट संपूर्ण मूल ऋग्वेद का प्रकाशन कर चुका था (१८६१-६३)।[2] यह गवेषणाकार्यों में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ।

यूजीन बर्नाफ वैदिक साहित्य के अध्ययन का प्रेरक तो था ही; उसके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण गवेषणा का सूत्रपात किया। उसने १८२६ में लैसन के साथ संयुक्त रूप में 'पालि पर निबन्ध'[3] तथा 'भारतीय बौद्ध-धर्म के इतिहास का परिचय'[4]—इन दो ग्रंथों का प्रणयन किया, और इस प्रकार पालि के अध्ययन और बौद्ध साहित्य की गवेषणा की नींव डाली।

इस प्रकार वैदिक साहित्य के अध्ययन में इस महान् प्रगति के द्वारा तथा बौद्ध साहित्य के अध्ययन के प्रारम्भ के द्वारा भारतीय विद्या अपने शैशव-काल से आगे बढ़ गई है। अब इसके अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। इस अध्ययन-यज्ञ में भाग लेने वालों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। अब महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथों के आलोचनात्मक संस्करण शीघ्रता से एक के बाद एक प्रकाशित हो रहे हैं और सब देशों के मनीषी उनकी व्याख्या में सहयोग देने का उदात्त कार्य कर रहे हैं।[5] भारतीय साहित्य के विभिन्न विभागों में विगत दशकों में जो कार्य किया गया है, उसके अधिकांश की चर्चा हम पृथक् अध्यायों में करेंगे। यहाँ भारतीय विद्या के पथ के मुख्य पड़ावों तथा इसके इतिहास की मुख्य घटनाओं की संक्षेप से चर्चा की जाएगी।

अन्त में ऑगस्ट विल्हेल्म फॉन श्लेगल के शिष्य क्रिश्चियन लैसन की चर्चा आवश्यक है। उसने अपने काल के संपूर्ण भारतविषयक ज्ञान को एकत्र करने का प्रयास किया। उसके ग्रंथ का नाम है 'भारतीय पुरातत्त्व'।[6] इसका प्रकाशन १८४३ से शुरू हुआ और यह चार विशालकाय भागों में पूर्ण हुआ; अन्तिम भाग १८६२ में

---

१. इसका द्वितीय संशोधित संस्करण १८९०-९२ में प्रकाशित हुआ।

२. इसका द्वितीय संस्करण १८७७ में प्रकाशित हुआ।

३. *Essai Sur le Pali.*

४. *Introduction à l' historie du Bouddhisme Indien.*

५. १८२३ में ए. डब्ल्यू. फॉन श्लेगल ने कहा था—क्या भारतीय साहित्य पर अंग्रेजों का ही आधिपत्य रहेगा ?...ये मानसिक निधियाँ शिक्षित संसार की सांझा सम्पत्ति हैं।

६. *Indische Alterthumskunde.*

प्रकाशित हुआ। आज यदि यह ग्रंथ विस्मृत हो चुका है तो इसका कारण यह नहीं है कि लेखक के प्रयास का कोई महत्त्व नहीं था; कारण मात्र यही है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हमारे विज्ञान ने अति तीव्र गति से उन्नति की है।

इस प्रगति को अत्यन्त तीव्र गति देने वाला है 'संस्कृत शब्द कोश'[१]। सम्भवतः यह संस्कृत गवेषणा के इतिहास की प्रमुख घटना है। इस कोश के रचयिता हैं बोहतलिंग तथा रुडोल्फ रॉथ। यह सेन्ट पीटर्स बर्ग कला-विज्ञान-एकेडमी द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका प्रथम भाग १८५२ में प्रकाशित हुआ; १८७५ तक यह सात विशालकाय भागों में पूर्ण हुआ। यह जर्मनों की महान् उद्योगशीलता का स्मारक है।

१८५२ में महान् सेन्ट पीटर्स बर्ग कोश का प्रकाशन शुरू हुआ। उसी वर्ष अल्ब्रेख्त बेबर ने भारतीय साहित्य के लिए पूर्ण इतिहास को लिखने का कार्य शुरू किया। इस प्रकार का यह प्रथम प्रयास था। उसका ग्रंथ 'भारतीय साहित्य के इतिहास पर एकेडेमिक व्याख्यान'[२] शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा संस्करण १८७६[3] में प्रकाशित हुआ। इसने भारतीय साहित्य के इतिहास में केवल मील के पत्थर का ही कार्य नहीं किया, अपितु कई दशकों तक यह भारतीय साहित्य का सर्वाधिक विश्वसनीय तथा पूर्ण सहायक ग्रंथ रहा; भले ही इसकी शैली में कुछ त्रुटियां थीं, जिनके कारण यह सामान्य पाठकों के लिए रुचिकर नहीं हो पाया।

अत्यन्त अल्पकाल में भारतीय साहित्य-गवेषणा ने वास्तव में कितनी आश्चर्यजनक प्रगति कर ली है, इसकी झांकी लेने के लिए १८१९ में प्रकाशित ऑगस्ट विल्हेल्म फॉन श्लेगल का निबन्ध 'भारतीय भाषा विज्ञान की वर्तमान स्थिति'[४] द्रष्टव्य है। इसमें मूल या अनूदित एक दर्जन से अधिक प्रकाशित ग्रंथों की सूची नहीं है। इसके बाद दृष्टि डालें फ्रीडरिक एडेलंग के १८३० में प्रकाशित ग्रन्थ 'संस्कृत भाषा के साहित्य का अध्ययन'[४] पर। यह ग्रन्थ सेन्ट पीटर्स बर्ग में प्रकाशित हुआ। इसमें ३५० ग्रन्थों की चर्चा है। इससे तुलना करें बेबर के '**भारतीय साहित्य**'[५] (१८५२) की; इसमें ५०० ग्रन्थों की चर्चा है। इसके बाद द्रष्टव्य है थियोडोर ऑफ्रेच्ट का ग्रन्थ 'पुस्तक सूचियों की पुस्तकसूची'[६] (१८९१, १८९६ तथा १९०३)। इसमें लेखकों की अकारादि क्रम से सूची है। इसमें सब उपलब्ध पुस्तक-सूचियों और पाण्डुलिपियों को आधार बनाया गया है। यह महान् ग्रन्थ ४० वर्षों

१. *Sanskrit-Wörterbuch.*

२. *Akademische Vorlesungen über indische Literaturgeschichte*, वास्तव में यह इतिहास नहीं है, पुस्तक-सूची है।

३. *Ueber den gegenwärtigen Zustand der Indischen Philologie.*

४. *Versuch einer Literatur der Sanskrit-Sprache.*

५. *Indische Literaturgeschichte.*

६. *Catalogus Catalogorum*

के घोर परिश्रम का फल है। इसमें भारत तथा यूरोप के पुस्तकालयों में उपलब्ध सब संस्कृत-पाण्डुलिपियों की सूची है। इसमें पुस्तकसंख्या हजारों तक जा पहुँची है। अभी इस पुस्तकसूची में सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य तथा संस्कृत के ग्रन्थ ही हैं, अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का समावेश नहीं है। इस पुस्तकसूची के प्रकाशित होने के बाद भी अन्य अनेक संस्कृत ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं।

'पालि टेक्स्ट सोसायटी' की स्थापना से बौद्ध-साहित्य के शोध में बहुत प्रगति हुई है। इसकी स्थापना टी. डब्ल्यू. राइस डेविड्स ने १८२२ में की। १८८३-८५ में वेबर ने एक महान् ग्रन्थ 'जैनों के पवित्र ग्रन्थ'[1] की रचना की। इससे एक और महान् साहित्य प्रकाश में आया जो पुरातनता में बौद्ध-साहित्य के समकक्ष है।

ज्ञात भारतीय साहित्य इतना विशालकाय है कि किसी एक विद्वान् के लिए उसकी सब शाखाओं का परिज्ञान सम्भव नहीं रहा। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि भारतीय ज्ञान का एक विश्वकोष बनाया जाए जिसमें भारतीय विद्या की विभिन्न शाखाओं में की गई खोजों का वर्णन हो। इस दृष्टि से १८९७ में 'भारत-आर्य भाषा-विज्ञान तथा पुरातत्त्व विश्वकोष'[2] का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। इसकी योजना जॉर्ज बुहलर ने बनाई। बुहलर महान् बहुविषयज्ञ विद्वान् था। जर्मनी, ऑस्ट्रिया, इंग्लैण्ड, हॉलेण्ड, भारत तथा अमेरिका के ३० विद्वानों ने इन विभिन्न शाखाओं के सम्पादन में भाग लिया। बुहलर के बाद फ्रैन्ज कीलहॉर्न, उसके बाद एच. लुइडर्स तथा जे. वाकर्नेगल इसके सम्पादक बने। भारतीय विद्या के इतिहास में इस विश्वकोष (Grundriss) का प्रकाशन अद्वितीय, अर्वाचीनतम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। लैसन का **'भारतीय पुरातत्त्व'**[3] इस विश्वकोष से कुछ दशक पूर्व प्रकाशित हुआ था। दोनों की तुलना करने से हमें गौरव व सन्तोष का अनुभव होता है कि इस अल्पकाल में हमारे इस विज्ञान ने कितनी उन्नति कर ली है।

भारतीय-साहित्य का तिथि-अनुक्रम

भारतीय साहित्य को प्रकाश में लाने का कार्य तो बहुत सन्तोषजनक व गौरवास्पद है, परन्तु तिथि-अनुक्रम का विषय अभी तक सन्तमसावृत है। काश कि हम इतिहास को तीन या चार कालों में ही निश्चित तिथियों की परिधि में बद्ध कर पाते। यह मेरी इस पुस्तिका के लिए अत्यन्त प्रसन्नतादायक, सुविधाजनक एवं उपयोगी होता। परन्तु हमें इस समय तक जितना ज्ञान है, उसे दृष्टि में रखते हुए काल-विभाग का प्रयत्न भी संभव नहीं है। और यदि काल्पनिक काल-विभाग कर लें तो

१. *Ueber die heiligen Schriften der Jaina.*
२. *Grundriss der indo-arischen Philologie und Altertumskunde.*
३. *Indische Altertumskunde.*

उससे कोई लाभ तो होगा ही नहीं, प्रत्युत हानि होगी। ज्ञान के क्षेत्र की शुचिता की दृष्टि से यह जान लेना ही परम श्रेयस्कर है कि भारतीय साहित्य के प्राचीनतम युग के विषय में निश्चित तिथियों का निर्णय अभी तक संभव नहीं हो सका है; उससे परवर्ती युग में भी कहीं कहीं ही संभव हो सका है। कई वर्ष हुए महान् अमेरिकन संस्कृत विद्वान् डब्ल्यू० डी० ह्विटनी ने कहा था—'भारतीय साहित्य के इतिहास में जो भी तिथियां निश्चित की जाती हैं, वे ऐसे पिन हैं जो पुनः पुनः उखड़ जाते हैं।' आज भी अधिकांशतः यही तथ्य है। आज भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, प्राचीन भारत की साहित्यिक कृतियों के काल के विषय में गवेषकों में बहुत सम्मति-भेद है। यह सम्मति-भेद कुछ वर्षों या दशकों का नहीं है; यदि एक दो हजार वर्षों का नहीं तो शताब्दियों का तो है ही। हम यदि कुछ निश्चित निर्धारण प्रस्तुत कर सकते हैं तो किसी सीमा तक ग्रन्थों के पौर्वापर्य के विषय में ही। प्रायः हम यही कह सकते हैं कि अमुक पुस्तक अमुक से पूर्ववर्ती है तथा इनके बारे में जिन तिथियों का कथन कर रहे हैं वे काम चलाने के लिए मान ली गई हैं। इस सापेक्ष तिथिक्रम निर्धारण के लिए सर्वाधिक विश्वसनीय कसौटी भाषा है। शैली के आधार पर भी निर्णय नहीं किया जा सकता क्योंकि भारत में बहुधा यह हुआ है कि परवर्ती लेखकों ने पूर्ववर्ती लेखकों की शैली का अनुकरण करके लिखा है, जिससे कि उनके ग्रन्थ प्राचीन के रूप में मान्य हो जाएँ। एक कठिनाई और भी है। प्राचीन ग्रन्थों में इतने संशोधन, परिवर्तन तथा प्रक्षेप होते रहे हैं कि बहुधा सापेक्ष तिथि-क्रम का निर्धारण भी सरल नहीं होता। उदाहरणार्थ रामायण तथा महाभारत का काल भी लगभग के रूप में ही निर्धारित किया जा सकता है। परन्तु इन ग्रन्थों के उद्धरण विशेष के विषय में यह शंका बनी रहती है कि वह इन ग्रन्थों के प्राचीन रूप से संबद्ध है कि नवीन रूप से। इससे भी अधिक एक कठिनाई यह है कि प्राचीन साहित्य के ग्रंथों के अधिकांश लेखकों के नाम के विषय में हमारा ज्ञान 'न' के बराबर है। हमें इतना ही पता चलता है कि अमुक ग्रन्थ किसी परिवार, सम्प्रदाय या धार्मिक मत से संबद्ध है। कभी अत्यन्त प्राचीन काल के ऋषि का नाम लेखक के रूप में लिख दिया जाता है। तथा जब हम कुछ परवर्ती काल में आते हैं और लेखक के नाम के विषय में निर्भ्रान्त भी होते हैं, तब एक और कठिनाई हमारा रास्ता रोक लेती है; लेखक के नाम के रूप में प्रायः उसका जाति गोत्र वाचक नाम ही लिखा होता है। इस नाम के ज्ञान से इतिहासकार को कोई सहायता नहीं मिलती; जैसे जर्मन साहित्य में लेखकों के नाम रूप में सिर्फ माइअर (Meier) शुल्त्स (Schultze) या मूलर लिखा हो। कई बार नाम तो निश्चित होता है जैसे कालिदास, तो वहां भी परवर्ती काल के अनेक कालिदासों के ग्रन्थ संमुख आजाते हैं।

अनिश्चितता के इस महासागर में कुछ निश्चित स्थल भी हैं। कहीं पाठक बिल्कुल ही किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का अनुभव न करने लगे, अतः उन स्थलों की भी कुछ चर्चा कर दूं।

भाषा के निश्चित साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद—ये चार ग्रन्थ निर्विवाद रूप से भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद तथ्य है कि भारत में बौद्ध धर्म का अभ्युदय ५०० ई० पू० में हुआ। बौद्ध साहित्य के पारायण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आज के दिन उपलब्ध संपूर्ण वैदिक वाङ्मय (वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि) समग्रता को प्राप्त हो चुका था। अतः वैदिक साहित्य की परसीमा ५०० ई० पू० निश्चयपूर्वक निर्धारित की जा सकती है। सौभाग्यवश बौद्ध व जैन साहित्य की तिथियों में प्रायः अनिश्चितता नहीं है। जैन-वाङ्मय में उनके धर्मग्रन्थों व शास्त्रों के लेखन व संग्रह की जो तिथियां मिलती हैं, वे प्रायः विश्वसनीय सिद्ध हुई हैं। इन धार्मिक सम्प्रदायों के मन्दिरों के भग्नावशेषों में तथा स्तूपों में हमें साहित्य के इतिहास की पर्याप्त सामग्री प्राप्त हुई है।

भारतीय इतिहास की विश्वसनीयतम तिथियां वे हैं जो हमें भारत में उपलभ्य साहित्य के स्रोतों से नहीं मिलतीं। उदाहरणार्थ भारत पर सिकन्दर का आक्रमण ३२६ ई० पू० में हुआ; यह एक सर्वसम्मत सुनिश्चित तिथि है और भारत के साहित्य के इतिहास के लिए बहुमूल्य है। भारतीय साहित्य में कहां ग्रीक प्रभाव है, यह तथ्य तिथि-निर्धारण के लिए सहायक है। ग्रीक-लेखकों से ही हमें पता चलता है कि लगभग ३१५ ई० पू० में चन्द्रगुप्त (ग्रीक लेखकों के सेन्ड्रोकोटोस) ने सिकन्दर के प्रतिनिधि शासकों के विरुद्ध सफल विद्रोह किया तथा पाटलिपुत्र (ग्रीकों के पालिबोथ्र—आधुनिक पटना) के सिंहासन पर बैठा और मौर्य-वंश की स्थापना की। लगभग इसी समय अथवा कुछ समय अनन्तर सेल्यूकस ने ग्रीक मेगास्थनीज़ को चन्द्रगुप्त के दरबार में राजदूत के रूप में भेजा। उसके लेखों के अवशेषों से हमें उस समय के भारत का परिचय प्राप्त होता है। हमें यह ज्ञात होता है कि उस समय भारतीय संस्कृति का क्या स्वरूप था। हमें भारतीय साहित्य के अनेक ग्रन्थों की तिथि के विषय में भी जानकारी मिलती है। सम्राट् चन्द्रगुप्त का एक पौत्र सम्राट् अशोक था। २६४ ई० पू० में उसका राज्याभिषेक हुआ। उसके शिलालेख आज तक सुरक्षित हैं। उनसे हमें भारतीय इतिहास की कुछ निश्चित तिथियों का पता चलता है। ये शिलालेख शिलाओं तथा स्तूपों पर हैं। प्राचीनतम उपलभ्यमान भारतीय लिपि का परिचय भी हमें इन्हीं से मिलता है। इनसे हमें यह ज्ञात होता है कि यह शक्तिशाली सम्राट् बौद्धधर्म का संरक्षक तथा रक्षक था; इसका साम्राज्य सुदूर उत्तर से सुदूर दक्षिण तक फैला हुआ था; इसने सुदूर विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रसार किया; इसने अन्य राजाओं की भांति शिलाओं और स्तूपों के लेखों में अपनी युद्ध-विजयों और शानदार कार्यों का उल्लेख नहीं करवाया, अपितु ऐसे लेख लिखवाए जिनमें धर्म-सम्मत आचार पर चलने का उपदेश था, पापों के घोर परिणामों का वर्णन था, प्रेम तथा सहिष्णुता का सन्देश था। अशोक के इन शिलालेखों का साहित्यिक महत्त्व तो है ही साथ ही ये ऐतिहासिक दृष्टि से

भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । इनसे हमें उस समय की लिपि, भाषा, धर्म आदि का ज्ञान होता है । १७८ ई० पू० में, चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के १३७ वर्ष बाद सम्राट् पुष्यमित्र ने मौर्य वंश के अन्तिम सम्राट् को जीत कर अपना राज्य स्थापित किया । कालिदास के एक नाटक में सम्राट् पुष्यमित्र की चर्चा से हमें कई ग्रन्थों की तिथि के विषय में निश्चयात्मक जानकारी मिलती है । ग्रीस-बेक्ट्रिया के राजा मीनान्दर का राज्यकाल १४४ ई० पू० के लगभग है । मीनान्दर की चर्चा प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्द पह्न' (मिलिन्द प्रश्न) में है ।

ग्रीकों के अनन्तर अनेक तिथियों के निर्णय के विषय में हम चीनियों के ऋणी हैं । ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद से बौद्ध धर्मप्रचारकों का चीन जाना प्रारम्भ हुआ । उन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया । अनेक चीनी तीर्थ-यात्रियों का बौद्ध पवित्र-स्थानों की यात्रा के लिए भारत में आवागमन शुरू हुआ । भारतीय साहित्य के चीनी भाषा के अनुवादों में, अनुवाद की ठीक-ठीक तिथि दी गई है । निम्न तीन चीनी यात्री उल्लेखनीय हैं—फाहियान, यह भारत में ३९९ में आया ; ह्युएन्त्सांग, इसने ६३० से ६४५ के मध्य अनेक महान् यात्राएं कीं तथा इत्सिग, यह भारत में ६७१ से ६९५ तक रहा । इन यात्रियों के यात्रा-वर्णन सुरक्षित हैं । इनके वर्णनों से हमें भारतीय पुरातत्त्व तथा साहित्यिक ग्रन्थों के विषय में प्रभूत सामग्री मिलती है । भारतीयों के मुकाबले में चीनियों की तिथि-क्रम-सामग्री आश्चर्यजनक रूप से ठीक और विश्वसनीय है । अरबी यात्री अलबेरूनी ने भारत के विषय में १०३० में एक पुस्तक लिखी । यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । अलबेरूनी लिखता है—'दुर्भाग्यवश हिन्दू किसी बात में भी इतिहास-क्रम को कोई महत्त्व नहीं देते; राजाओं के राज्याधिरूढ़ होने की तिथियों के विषय में वे बहुत उदासीन हैं । जब उनसे इस विषय में बहुत पूछताछ की जाती है तो उनके पास कोई उत्तर नहीं होता और वे भावना व कल्पना के जगत् की बातें करने लगते हैं ।

परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि भारतीयों में इतिहास की प्रवृत्ति का नितान्त अभाव था । हमें कई शिलालेख मिलते हैं, जिन पर बिल्कुल ठीक-ठीक तिथिनिर्देश है । यदि भारतीयों में इतिहास के प्रति रुचि न होती तो यह किसी भी दशा में संभव न था । वास्तविक बात यह है कि भारतीयों में तथ्य तथा कल्पना को पृथक्-पृथक् रखने की प्रवृत्ति कभी नहीं रही । उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक तिथि-क्रम की अपेक्षा तथ्यों का महत्त्व अधिक था । वे क्या पहले हुआ, क्या बाद में, इसको कोई महत्त्व नहीं देते थे । विशेषतः साहित्य के जगत् में किसी भी साहित्यकार को जो कुछ भी सत्य और शिव प्रतीत होता था, वह उसकी तिथि अत्यन्त प्राचीनकाल में अवस्थित कर देता था । यदि उसे किसी सिद्धान्त की विशेष पवित्रता प्रतिपादित करनी होती थी या विस्तृत प्रचार अभीष्ट होता था या जिसके विषय में वह चाहता था कि वह अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाए तो वह अपना नाम न

देकर ग्रन्थ के रचयिता के रूप में किसी प्राचीन ऋषि का नाम लिख देता था। भारत में आज भी अनेक बार ऐसा होता है। बिल्कुल आधुनिक काल की कृतियों को भी प्राचीन काल की उपनिषद् या पुराण के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। चिरकाल से चली आ रही इस प्रथा में किसी को धोखा देने के इरादे का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यह तो इस बात का ज्ञापक है कि भारतीय साहित्यकार नाम तथा यश के विषय में पूर्ण रूप से उदासीन हैं। यह प्रवृत्ति तो बहुत परवर्ती शताब्दियों में शुरू हुई कि साहित्यकार अपनी कृतियों में अपने माता, पिता, पितामह, गुरु, और संरक्षक आदि का परिचय देने लगे और अपना संक्षिप्त जीवनचरित भी लिखने लगे। ज्योतिर्विद्या के ग्रन्थों में ग्रन्थसमाप्ति पर प्रायः ठीक-ठीक तिथियों का निर्देश किया गया है। पांचवीं शताब्दी के शिलालेखों में अनेक ग्रन्थकारों की निश्चित तिथि की जानकारी मिलती है। शिलालेखों को पढ़ने के विषय में विगत दशकों में बहुत प्रगति हुई है। 'भारतीय शिलालेख संग्रह'[१] तथा त्रैमासिक पत्र[२] 'भारतीय शिला लेख' में एतद्विषयक प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। कुछ शिलालेख पूर्णरूपेण पढ़े जा चुके हैं; जब सब शिलालेखों का अध्ययन हो जाएगा तब तिथिक्रम की समस्या कुछ और सुलझ जाएगी।

लेखन-कला तथा भारतीय साहित्य का संप्रेषण

शिलालेखों से प्राचीन भारत में लेखन-कला के विषय में जानकारी मिलती है। जैसा कि अभी हम देखेंगे कि भारतीय साहित्य का प्रारम्भ लिखित रूप में नहीं हुआ। भारतीय इतिहास के प्राचीनतम काल में तो ज्ञान-परम्परा मौखिक रूप में ही थी। प्राचीनतम शिलालेख, जिनका निश्चित तिथि-निर्धारण किया जा सकता है, अशोक के शिलालेख हैं, जो कि ३०० ई० पू० के हैं। परन्तु इससे मैक्समूलर आदि विद्वानों की भांति यह परिणाम निकाल लेना कि इससे पूर्व भारत में लेखन था ही नहीं, युक्ति-युक्त नहीं है। लेखन-विज्ञान से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अशोक के शिलालेखों से लेखन का प्रारम्भ नहीं हो सकता। इस विकसित लेखन का प्रारम्भ सुदीर्घ काल पूर्व हुआ होगा। अशोक के शिलालेखों की लिपि को ब्राह्मी कहते हैं। इसी ब्राह्मी से देवनागरी लिपि विकसित हुई, जिससे कि यूरोप-निवासी सर्वाधिक परिचित हैं। इसका नाम ब्राह्मी इस लिए पड़ा कि भारतीयों का यह परम्परागत विश्वास है कि यह ब्रह्मा (स्रष्टा) द्वारा आविष्कृत की गई। भारतीय पाण्डुलिपियों में प्रयुक्त अन्य अनेक लिपियां भी ब्राह्मी से ही विकसित हुई हैं। जॉर्ज बुह्लर के विस्तृत शोधों[3] के अनुसार ब्राह्मी का मूल सेमेटिक है अर्थात्

---

१. *Corpus Inscriptionum Indicarum.*

२. *Epigraphia Indica.*

३. *Indische Palaeographie,* in the 'Grundriss 1, 2, and *On the Origin of the Indian Brāhmī Alphabet,* 2nd, ed., 1898.

इसका विकास प्राचीनतम उत्तर सेमेटिक लिपि से हुआ है, जो हमें फोनेशियन उत्कीर्ण लेखों में तथा 'मेसा' के पत्थर पर मिलती है। इनका काल लगभग ८६० ई० पू० है। भारत में इस लिपि को संभवतः व्यापारी लोग लाए। तथा संभवतः बहुत काल तक इसका प्रयोग, व्यापार, लेखाकार्यों, पत्र-व्यवहार और गणनाओं इत्यादि के लिए होता रहा। इसके बाद धीरे धीरे इस लिपि का प्रयोग दूतावासों, घोषणाओं, राजकीय लेखा-कार्यों तथा राजकीय खज़ानों के हिसाब किताब के लिए भी प्रारम्भ हो गया। ऐसा लगता है कि तब राजाओं ने विद्वान् वैयाकरणों तथा पण्डितों को इस कार्य में नियुक्त किया होगा, जिन्होंने २२ सेमेटिक वर्णों से ४४ वर्णों की सर्वांगपूर्ण लिपि का विकास किया, जिसका साक्ष्य हमें शिलालेखों में मिलना है। यह बात विवादास्पद है कि साहित्यिक रचनाओं के लेखन के लिए इस लिपि का प्रयोग कव प्रारम्भ हुआ। इस बात के लिए कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि प्राचीनकाल में कोई पाण्डुलिपियां थीं या ग्रन्थ लिपिबद्ध किए जाते थे। आज तक संपूर्ण वैदिक वाङ्मय में इसका समर्थक प्रमाण नहीं खोजा जा सका। बौद्ध शास्त्र लगभग २४० ई० पू० तक पूर्ण हो गए थे। उनमें भी कहीं पाण्डुलिपियों के होने के प्रमाण नहीं मिलते। यद्यपि ऐसे तो अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि वे लेखन कला से परिचित थे तथा अनेक कार्यों के लिए लेखन का प्रभूत प्रयोग होता था। बौद्ध शास्त्रों में लेखन को विद्याध्ययन की एक विशिष्ट शाखा कहा गया है। वहां यह स्पष्ट रूप से विधान है कि बौद्ध-भिक्षुणियां अपने आपको लेखन में संलग्न रखें। हमें ऐसे बौद्ध-भिक्षुओं की चर्चा मिलती है, जिन्होंने आत्महत्या की प्रशस्तियां लिखीं, जिन्हें पढ़कर दूसरे लोग आत्महत्या कर लेते थे। यह भी कहा गया है कि पंजीकृत (जिनका नाम राजा के रजिस्टर में दर्ज है) चोरों को भिक्षु बनने का अधिकार नहीं है। एक अक्षरों के खेल[1] की भी चर्चा है। यह भी विधान किया गया है कि माता-पिता अपने बच्चों को लेखनकला तथा अङ्कगणित की शिक्षा दिलवाएं। परन्तु यह संकेत कहीं भी प्राप्त नहीं होता कि बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ लिपिबद्ध किए जाते थे। यह बात इस दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि बौद्धों के पवित्र ग्रन्थों में भिक्षुओ की दिनचर्या की छोटी से छोटी बातों का भी विस्तार से वर्णन है। उन वर्णनों से 'बौद्ध भिक्षु प्रभात से सायंकाल तक क्या करते थे', हमारे लोचनों के संमुख प्रत्यक्ष हो उठता है; भ्रमण, विश्राम, एकान्त-सेवन, अन्य भिक्षुओं अथवा सामान्य जनों से वार्तालाप—सब का सविस्तार वर्णन है। उनके बर्तनों तथा वस्तु-भण्डार की सामग्री का भी ब्योरेवार वर्णन है। परन्तु यह चर्चा कहीं नहीं मिलती कि वे अपने पवित्र ग्रन्थों को 'पढ़ते' थे या उनकी प्रतिलिपि करते थे। न ही कहीं ऐसा प्रमाण मिलता है कि मठों में लेखन-सामग्री थी या पाण्डुलिपियां थीं। 'बहुश्रुत'

१. आकाश में अंगुलि-संचालन से अंकित किये गये अथवा किसी की पीठ पर तथैव अंकित किये गये अक्षरों को बताना।

भिक्षुओं की स्मृति ही मठों का पुस्तकालय थी। जिसे हम आज 'बहुपठित' कहते हैं, उसके लिए बौद्ध-साहित्य में 'बहुश्रुत' शब्द का प्रयोग है। यदि किसी मठ में कोई ऐसा आवश्यक पाठ्य किसी की स्मृति में नहीं रहता था, जो कि भिक्षुओं की सभा में सुनाया जाता था जैसे कि पूर्णमासी और दर्श के समय सुनाया जाने वाला सूत्र; तो वे एक प्राचीन नियम का अनुसरण करते थे—उन भिक्षुओं में से एक तत्काल ही किसी अन्य मठ में भेजा जाता था। उसे कहा जाता था—'भाई जाओ, जब तुम पूर्ण सूत्र या उसका संक्षेप कण्ठस्थ करलो, तब हमारे पास लौटना"[१] जहां कहीं भी बुद्ध के उपदेश या पवित्र पाठ्यों की सुरक्षा का वर्णन है, कहीं भी लिखने या पढ़ने की चर्चा नहीं है, केवल सुनने या कण्ठस्थ करने की ही चर्चा है।

उपरिवर्णित तथ्यों से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उस समय अर्थात् ५०० ई० पू० में संभवतः पुस्तकें लिखने का विचार लोगों के मन में आया ही नहीं था। परन्तु, ऐसा परिणाम निकालना बहुत जल्दबाज़ी का काम होगा क्योंकि भारत में यह एक विचित्र प्रथा रही है कि संपूर्ण साहित्यिक तथा वैज्ञानिक गति-विधि का आधार उच्चरित शब्द रहा है, लिखित नहीं। आज भी यही देखने में आता है। भारतीयों को लेखन-कला को जाने कई शताब्दियां बीत गई हैं, तथा असंख्य पाण्डुलिपियां विद्यमान हैं; और उन पाण्डुलिपियों को बहुत पवित्र और सम्मान-योग्य माना जाता है, और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पाठ्य भारत में भी बहुत सस्ते मुद्रित संस्करणों में उपलभ्य हैं; तो भी यहां सम्पूर्ण साहित्यिक और वैज्ञानिक विचार विनिमय उच्चारित शब्द पर ही आधृत है। शिष्य पाण्डुलिपियों से या मुद्रित पुस्तकों से पाठ नहीं पढ़ता, अपितु गुरुमुख से पढ़ता है, जैसा कि हजारों वर्ष पूर्व होता था। अधिक से अधिक लिखित पाठ्य का 'अध्ययन के सहायक' के रूप में, स्मृति को पक्का करने के लिए उपयोग किया जा सकता है, परन्तु प्रामाणिक नहीं माना जाता। प्रामाणिकता केवल गुरु द्वारा उच्चारित शब्द की ही है। यदि आज सारी पाण्डुलिपियां और मुद्रित पुस्तकें नष्ट भी हो जाएं, तो भी, इस पृथ्वीतल से भारतीय साहित्य विलुप्त नहीं हो जाएगा। इसका अधिकांश भाग विद्वानों तथा वाचकों की स्मृति से पुनः प्राप्त किया जा सकेगा। भारत में कवियों की कृतियां पाठकों के लिए नहीं, सदैव श्रोताओं के लिए रची जाती थीं। आधुनिक कवि भी यह नहीं चाहते कि उनकी कविताएं पढ़ी जाएं, अपितु उनकी यह लालसा होती है कि उनकी कविताएं सुनी जाएं और 'विशेषज्ञों के कण्ठ का हार' बनें।[२]

इसलिए यह तथ्य कि 'प्राचीनतर साहित्यिक कृतियों में पाण्डुलिपियों की कहीं चर्चा नहीं हैं', इस बात का निश्चित प्रमाण नहीं है कि उस समय पाण्डुलिपियां होती ही नहीं थीं। संभवतः चर्चा न होने का कारण यह है कि लिखित ग्रन्थ का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं था; सारा अध्यापन और शिक्षण उच्चारित शब्द के

---

१. एच. ओल्डनबर्ग, *Aus Indian und Iran*, p. 22 f.

२. G. Bühler, *Indische Palaeographie* (Grundriss 1, 2), pp. 3 f.

द्वारा ही किया जाता था। इसलिए इसकी भी संभावना है कि अति प्राचीन काल में भी पुस्तकों को लिपि-बद्ध किया जाता था और आज की ही भांति शिक्षण के सहायक के रूप में उनका उपयोग होता था। यह कुछ विद्वानों की सम्मति है।[1] परन्तु मेरी सम्मति में यह तथ्य अवधेय है कि परवर्ती साहित्य में---परवर्ती पुराणों में, बौद्धों के महायान पाठ्यों में तथा महाभारत के परवर्ती संस्करणों में पुस्तकों को लिपिबद्ध करने की और उन्हें भेंट के रूप में देने की धार्मिक कार्य के रूप में प्रशंसा की गई है, जबकि संपूर्ण प्राचीनतर साहित्य में इसका नाम निशान नहीं है। यह भी गंभीरता से विचारणीय है कि वर्णोच्चारण शिक्षा और व्याकरण की प्राचीन कृतियों में, २०० ई० पू० में पतञ्जलि के महाभाष्य में भी, लेखन व लिखित के पठन के विषय में कहीं भी चर्चा नहीं है; उच्चारित शब्द पर ही विचार किया गया है, लिखित वर्णों या शब्द पर नहीं; तथा संपूर्ण व्याकरण संबन्धी परिभाषाएँ उच्चरित शब्द को ही दृष्टि में रखकर बनी हैं, लिखित पाठ्य को नहीं। इस सबके आधार पर यह भी संभावित है कि प्राचीन काल में भारत में लिखित पुस्तकें नहीं थीं।

भारत में लेखन-कला शताब्दियों से ज्ञात थी, परन्तु साहित्यिक कार्यों में उसका प्रयोग नहीं होता था, इस विचित्र व्यवहार के अनेक कारण संभव हैं। पहला कारण यह हो सकता है कि लिखने की उपयुक्त तथा पर्याप्ति सामग्री नहीं थी, परन्तु यदि लिखने की उग्र आवश्यकता अनुभव की गई होती तो इसकी व्यवस्था की जा सकती थी। ऐसी आवश्यकता न केवल नहीं थी, अपितु पुरोहितों का स्वार्थ भी इसी में था कि जिन पाठ्यों को वे पढ़ाते थे, वे लिखित रूप में न आने पाएं। प्राचीनतम साहित्य के वाहक वे ही थे। प्राचीन पवित्र ग्रन्थों के लिखित रूप में न होने से उस ज्ञान का एकाधिकार उनके हाथ में था, जो उनकी समृद्धि का कारण था। जो उनके पास कुछ पढ़ने के लिए आता था, वह उन्हें खूब भेंटें देता था; तथा यह उनके अधिकार में था, कि जिसे वे पवित्र ज्ञान न देना चाहें, न दें। यह बात उनके लिए कितनी महत्त्वपूर्ण थी, यह इससे सिद्ध होता है कि धर्मशास्त्रों में इस बात पर पुनः पुनः बल दिया गया है कि निम्नतम जाति (शूद्रों और चाण्डालों) को पवित्र पाठ्यों को सुनने का अधिकार नहीं है क्योंकि शूद्र शव या श्मशान के समान अपवित्र हैं, इसलिए यदि वे कहीं आसपास भी हों तो वेदों का उच्चारण नहीं किया जाना चाहिए। एक प्राचीन धर्मशास्त्र (गौतम स्मृति)[2] में कहा गया है—"यदि कोई शूद्र वेद सुन ले तो उसके दोनों कान पिघले हुए रांगे या लाख से बंद कर दिए जाएं, यदि वह पवित्र पाठ्यों का उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा का छेदन कर दिया जाए, यदि वह इन्हें कण्ठस्थ करले तो उसके शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दिए जाएं।" ऐसी

१. भारतीय लेखन के विषय में देखिए वार्थ RHR 41. इस विषय में श्याम जी कृष्ण वर्मा की युक्तियां भी उल्लेखनीय हैं (OC VI, Leyden).

२. १२. ४-६.

स्थिति में पुरोहित लोग उन पवित्र कृतियों को लिखित रूप देकर अनधिकारियों के लिए उनका द्वार खोलने का खतरा कैसे मोल ले सकते थे ? इसके अतिरिक्त गुरुमुख से उच्चारण के द्वारा पवित्र पाठ्यों का संप्रेषण सुरक्षा की प्राचीन विधि चली आ रही है, उन्हें वे क्यों लिखित रूप में लाएं, जो कि एक नया आविष्कार है ? तथा लिखित रूप न देने का मुख्य कारण[1] यह था कि भारतीय लेखन-कला से तब परिचित हुए, जबकि उनके पास विशालकाय समृद्ध साहित्य अत्यन्त प्राचीन काल से था जो केवल उच्चारण के द्वारा संप्रेषित किया जाता रहा था।

यह निश्चित है कि अत्यन्त प्राचीन काल के भारतीयों—ब्राह्मणों और बौद्धों, दोनों—के सम्पूर्ण साहित्य का अभ्युदय लेखनकला के बिना हुआ और वह शताब्दियों तक मौखिक रूप से संप्रेषित किया जाता रहा।[2] जो भी किसी पाठ्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहता था, उसे किसी गुरु के पास जाना पड़ता था और श्रवण के माध्यम से उसे प्राप्त करना पड़ता था। इसलिए प्राचीन साहित्य में पुनः पुनः ये वर्णन हैं कि जब कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय कोई ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो सुदीर्घ यात्रा करके किसी प्रसिद्ध गुरु के पास जाता है, इसके लिए वर्णनातीत कष्ट सहता है और त्याग करता है, जिससे कि वह इस ज्ञान का सहभागी बन सके, इसके लिए अन्य कोई तरीका नहीं है। इसलिए प्राचीन भारतीय परम्परा में पवित्र ज्ञान का वाहक और संरक्षक गुरु सर्वाधिक समादरणीय है। शारीरिक पिता के समान और कभी उससे भी आदरणीयतर के रूप में उसका वर्णन है। उसे ब्रह्मन् की मूर्ति कहा गया है। जो उसकी श्रद्धा और विनय से सेवा करते हैं, उन्हें स्वर्ग मिलता है। इसलिए विद्यारम्भ संस्कार अत्यन्त पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण है। उसमें शिष्य विधिवत् गुरु के संरक्षण में दिया जाता है। यह उपनयन या वेदारम्भ संस्कार कहलाता है। प्रत्येक हिन्दू के लिए यह अनिवार्य है। जिसका उपनयन संस्कार न हो, वह जाति से च्युत हो जाता है। किसी भी ग्रन्थ की सत्ता तभी तक रहती थी, जब तक उसके अध्यापन-अध्ययन की गुरु-शिष्य-परम्परा रहे। जिन्हें हम साहित्य की विभिन्न शाखाएं, विभिन्न आध्यात्मिक तथा दार्शनिक प्रणालियां, किसी ग्रन्थ के विभिन्न संस्करण या आवृत्तियां कहते हैं, वे प्राचीन भारत में विभिन्न शिक्षण-सम्प्रदाय थे, जिनमें ग्रन्थविशेषों की शिक्षा दी जाती थी तथा पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप में उनका ग्रहण व अध्ययन करती थी। यदि हम इस तथ्य को ध्यान में रखें, तभी प्राचीनतम भारतीय साहित्य के विकास के विषय में कुछ जान सकेंगे।

यह भी अवधेय है कि धार्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य के संक्रमण की विधियां परस्पर विभिन्न थीं। धार्मिक ग्रन्थों को पवित्र समझा जाता था, अतः

१. तुलना कीजिए टी. डब्ल्यु. राइस डेविड्स, *Buddhist India*, pp. 112 f.

२. इत्सिंग ने लिखा है कि उस समय (सातवीं शताब्दी) में वेदों का मौखिक सम्प्रेषण ही होता था।

उनके अध्ययन-अध्यापन में अक्षरशः शुद्धता का ध्यान रखना अनिवार्य था। शिष्य गुरुमुख से उच्चारित एक एक शब्द का ध्यान से उच्चारण करता था तथा कण्ठस्थ करता था; उच्चारण, स्वर तथा पठनशैली में अल्पतम त्रुटि भी अक्षम्य थी। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार मौखिक रूप से संक्रमित ज्ञान में किसी मूल पाठ की अशुद्धता के लिए अवकाश ही नहीं था। लिखने या लिखे हुए की प्रतिलिपि करने में कुछ त्रुटियां आ ही जाती हैं। उदाहरणार्थ, हमारे पास इस बात के लिए निश्चित प्रमाण हैं कि ऋग्वेद के मन्त्र जिस रूप में आज हमें मुद्रित संस्करणों में मिलते हैं, वे लगभग ५०० ई० पू० में भी उसी रूप में थे। इनके प्रत्येक शब्द, उदात्तादि स्वर ठीक वैसे ही हैं। परन्तु लौकिक साहित्य के विषय में यह सख्ती नहीं थी, विशेष रूप से महाभारत, पुराण आदि के विषय में। वहां पाठ्य में परिवर्तन के लिए बहुत अवकाश था। तथ्य तो यह है कि प्रत्येक गुरु व वाचक अपना यह अधिकार समझता था कि उसमें स्वेच्छा से संशोधन, परिवर्धन व परिवर्तन कर दे—कुछ श्लोक निकाल दे या स्वयं नये बनाकर जोड़ दे। इन ग्रन्थों के प्राचीन शुद्ध मूलपाठ का निर्णय करते हुए अत्यन्त कठिनता का सामना करना पड़ता है। वस्तुतः यह कार्य प्रायः असंभव ही है। इसके विपरीत, जो पाठ्य मौखिक परम्परा से चले आ रहे हैं जैसे कि वेद; उनके शुद्ध पाठ के निर्णय में प्रातिशाख्य ग्रन्थ (शिक्षा ग्रन्थ) तथा कभी-कभी टीकाएं बहुत उपयोगी व सहायक सिद्ध होती हैं। पाण्डुलिपियां जो हमें उपलब्ध हैं, उनमें से प्रायः सभी ऐसी हैं जो बहुत प्राचीन नहीं हैं। प्राचीन भारत में पाण्डुलिपियां ताल-पत्रों या भोजपत्रों (भूर्जत्वक्) पर लिखी जाती थीं। भारतीयों की परम्पराप्रियता का प्रमाण यह है कि आज भी वे तालपत्रों या भोजपत्रों पर लिखी जाती हैं, जबकि आज अच्छे से अच्छे कागज व मुद्रण की सुविधाएं सरलता से उपलभ्य हैं। ये तालपत्र व भोजपत्र बहुत शीघ्र भुरभुरा जाते हैं और भारतीय जलवायु में तो बहुत देर तक टिके नहीं रह सकते। इसलिए जिन पाण्डुलिपियों से आज हम पुस्तकें मुद्रित करते हैं, वे कुछ शताब्दियां ही पुरानी हैं। १४वीं० श० की लिखी कोई-कोई ही पाण्डु-लिपि मिलती है। ११वीं और १२वीं श०[1] की अत्यल्प पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं। प्राचीनतम भारतीय पाण्डुलिपियां नेपाल, जापान तथा तुर्किस्तान में प्राप्त हुई हैं। नेपाल में प्राप्त हुई पाण्डुलिपियां ७वीं श० की हैं। जापान में तालपत्रों पर पाण्डुलिपियां मिली हैं; वे छठी श० के पूर्वार्ध की हैं। १८८९ से कुछ पाण्डुलिपियां काशगर तथा इसके समीपवर्ती स्थानों में मिली हैं, जिनका काल ५वीं श० है। १९०० में एम० ए० स्टीन ने कोहतान के समीप तक्लमकान में खुदाई करके ५०० छोटे-छोटे काष्ठफलक प्राप्त किए। इनका काल ४०० ई० पू० या इससे भी पुराना है। पाण्डुलिपियों की खोज करते हुए 'प्रशियन तुरफान गवेषकदल' ने तथा बाद में एम० ए० स्टीन ने कुछ पन्ने प्राप्त किए हैं, जिनका काल लगभग ईसा की प्रथम-

---

१. कीलहॉर्न ने पश्चिमी भारत की ११ वीं श० की कुछ पाण्डुलिपियों की खोज की है।

द्वितीय शताब्दी है।[1]

हम पहले चर्चा कर चुके हैं कि बौद्धकाल में काष्ठ का लेखन-पत्रों के रूप में प्रयोग किया जाता था। काष्ठ का यह उपयोग काफी प्राचीन काल से चला आ रहा होगा। लेखन के लिए तालपत्रों का प्रयोग १०० ई० से चला आ रहा है। लेखन-सामग्री के रूप में कार्पास-वस्त्र, चर्म या धातु का प्रयोग भारत में नाममात्र ही किया गया। बौद्ध-साहित्य में न केवल अभिलेखों, अपितु श्लोकों व उपदेश-वाक्यों के लिखने के लिए भी स्वर्ण-पत्रों का उल्लेख है। एक स्वर्ण-पत्र उपलब्ध हुआ है, जिस पर भक्तिपूर्ण लेख खुदा हुआ है। रजत-पत्रों पर लिखे गए अभिलेख तथा लघु-पाण्डुलिपियां भारत में प्राप्त हुई हैं। अभिलेखों, विशेष रूप से दान-पत्रों के लिखने के लिए ताम्र-पत्रों का तो बहुत प्रयोग होता था और वे बहुसंख्या में प्राप्त भी हुए हैं। चीनी यात्री ह्युएन्त्सांग ने लिखा है कि सम्राट् कनिष्क ने बौद्ध धार्मिक लेख ताम्र-पत्रों पर उत्कीर्ण करवाए थे। यह तथ्य है कि नहीं, यह हम नहीं जानते; पर इसमें अविश्वास की कोई बात प्रतीत नहीं होती क्योंकि ताम्र-पत्रों पर उत्कीर्ण साहित्यिक कृतियां प्राप्त हुई हैं। इस पर तो कोई कठिनता से ही विश्वास करता कि भारत में साहित्यिक कृतियां पाषाण पर भी उत्कीर्ण करवाई गई थीं, यदि कुछ वर्ष पूर्व पाषाण-फलकों पर उत्कीर्ण लेख हमें अजमेर में न मिलते। इन पाषाण-फलकों पर राजा तथा उसके दरबारी कवि के पूरे नाटक उत्कीर्ण हैं।

तथापि, हम आज जिन पाण्डुलिपियों के आधार पर पुस्तकें मुद्रित करते हैं, उनमें से अधिकांश कागज पर लिखी हुई हैं। भारत में कागज मुसलमानों के द्वारा आया तथा यह माना जाता है कि कागज पर लिखी गई प्राचीनतम पाण्डुलिपि १२२३-२४ ई० की है।

भारतीयों का अध्ययन-अध्यापन के लिए मौखिक परम्परा के प्रति आग्रह होते हुए भी कई शताब्दी पूर्व उन्होंने पाण्डुलिपियों का संग्रह तथा पुस्तकालयों में व्यवस्थापन शुरू कर दिया था। ऐसे पुस्तकालय 'सरस्वती-भाण्डागार' कहलाते थे। ऐसे अनेक भाण्डागार मठों, मन्दिरों, राजप्रासादों तथा धनिकों के गृहों में विद्यमान थे और अब भी हैं। महाकवि बाण (लगभग ६२० ई०) के विषय में कहा जाता है कि उसका निजीरूप में एक पुस्तकालयाध्यक्ष था। इससे सिद्ध होता है कि उसका एक बड़ा निजी पुस्तकालय रहा होगा। ११वीं श० में धार के राजा भोज का एक पुस्तकालय था। शताब्दियों के बीतने के साथ इन पुस्तकालयों में पुस्तकों की संख्या भी खूब बढ़ती गई। बुह्लर ने खम्बे में दो जैन-पुस्तकालयों तथा दक्षिण भारत में तंजौर के राजकीय पुस्तकालय के विषय में जानकारी दी है जिनमें क्रमशः ३०,००० और १२,००० पाण्डुलिपियां हैं। सम्पूर्ण भारत में फैले हुए ऐसे पुस्तकालयों

1. देखिए ल्यूडर्स—*Ueber die literarischen Funde von Ostturkestan*, pp. 90 ff.

की खोज का काम १८६८ में शुरू हुआ। कोलब्रुक तथा उससे पूर्व अन्य कई अंग्रेज, इससे पूर्व ही हजारों पाण्डुलिपियां यूरोप ला चुके थे। १८६८ में ह्विटले स्टोक्स ने भारत में उपलभ्य सब संस्कृत पाण्डुलिपियों की सूची बनाने का कार्य प्रारम्भ किया। ह्विटले स्टोक्स केल्टिक विद्वान् के रूप में सुप्रसिद्ध है। उस समय वह शिमला में इण्डियन कौन्सिल (भारतीय परिषद्) का सेक्रेटरी था। तब से भारतीय सरकार ने संस्कृत पाण्डुलिपियों की खोज के लिए बरसों वार्षिक बजट में २४,००० रुपए की एक बड़ी राशि निर्धारित किए रखी। इस प्रकार भारत की अंग्रेजी सरकार और अंग्रेज, जर्मन तथा भारतीय विद्वानों की लगन तथा अनथक परिश्रम से हमें पाण्डुलिपियों की विशाल राशि प्राप्त हुई, जिनके द्वारा हम भारतीय साहित्य के बारे में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

भारतीय भाषाएं और साहित्य[1]

हमें जो भारतीय साहित्य प्राप्त हुआ है, उसका अधिकांश संस्कृत में है। परन्तु भारतीय साहित्य और संस्कृत साहित्य को अभिन्न नहीं समझना चाहिए। व्यापक अर्थों में भारतीय साहित्य का अर्थ न केवल सुदीर्घ काल और सुविशाल क्षेत्र में पाया जाने वाला साहित्य है अपितु विभिन्न भाषाओं में लिखा जाने वाला साहित्य भी है। भारत की भाषाओं के, जिनका संबन्ध भारत-यूरोपीय परिवार से है, विकास के क्रम से तीन वर्ग हैं। इनमें से कुछ आनुपूर्वी से हैं और कुछ समानान्तर। वे वर्ग निम्न हैं—

(१) प्राचीन भारतीय
(२) मध्य भारतीय भाषाएं तथा बोलियां
(३) अर्वाचीन भारतीय भाषाएं तथा बोलियां

१. प्राचीन भारतीय

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद, इन चार भागों में विभक्त वेद भारत का प्राचीनतम साहित्य है। वेद की भाषा को सीमित अर्थों में कभी 'प्राचीन भारतीय' और कभी 'वैदिक' ('वैदिक संस्कृत' भी, जो नामकरण युक्तिसंगत नहीं है) कहा जाता है। संभवतः इस भाषा का 'प्राचीन उच्च भारतीय'[2] नाम उपयुक्ततम है। यह भाषा उस समय के सामान्य जनों द्वारा बोली जानेवाली किसी 'बोली' पर आधृत थी। वेद की भाषा अब कहीं बोली नहीं जाती। यह एक साहित्यिक भाषा है जो

---

१. देखिए आर. जी० भण्डारकर, JBRAS 16, 245 ff. तथा जी० ग्रियर्सन BSOS 1, 3, 1920, pp. 51 ff.

२. राइस डेविड्स ने यह नामकरण किया है—*Buddhist India*, p. 153.

ब्राह्मणों और पुरोहितों के द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रान्त की गई। इसे जानबूझ कर, आर्ष, (प्राचीन) रूप में सुरक्षित रखा गया। वह 'बोली' जिस पर 'प्राचीन उच्च भारतीय' आधृत थी, भारत के उत्तर-पश्चिम में बाहर से आए हुए आर्यों की बोली थी। इसका प्राचीन फारसी तथा 'अवेस्ता की भाषा' से अन्तरंग संबन्ध है तथा यह मूल भारत-ईरानी भाषा से विशेष भिन्न नहीं है। वस्तुतः वेदों की भाषा और मूल भारत-ईरानी भाषा में परस्पर विभिन्नता संस्कृत और पालि की परस्पर विभिन्नता से कम ही है। ध्वनि की दृष्टि से तो वैदिक भाषा तथा संस्कृत भाषा लगभग एक ही हैं। दोनों में मात्र भेद यह है कि वैदिक भाषा अत्यन्त प्राचीन है तथा उसमें शब्दों और धातुओं की व्याकरण-संबन्धी रूप-समृद्धि बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ, वेदों में लेट् लकार है जो कि संस्कृत में विलुप्त ही हो गया है। इसी प्रकार संस्कृत में केवल तुम् (तुमुन्) प्रत्यय ही रह गया है, जबकि वेद में इस अर्थ को बताने वाले लगभग १२ प्रत्यय हैं। वेद में लुङ् लकार के अनेक रूप हैं जो कि संस्कृत में उत्तरोत्तर कम होते गए। इसके अतिरिक्त संस्कृत की अपेक्षा वेदों में शब्द तथा धातु से परे आने वाली विभक्तियां अधिक पूर्ण हैं।

वेद की 'प्राचीन भारतीय' में कुछ अर्वाचीन रूप का भी समावेश हो चुका था—ऋग्वेद के दशम मण्डल, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में। वैदिक वाङ्मय का गद्य तो लगभग संस्कृत ही है। ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की भाषा में 'प्राचीन उच्च भारतीय' (वैदिक भाषा) के कहीं कहीं अवशेष मिलते हैं तथा केवल वेदाङ्गों से संबन्ध रखने वाले सूत्र-ग्रन्थों की भाषा भी शुद्ध संस्कृत ही है; उनमें कहीं कहीं अपवाद रूप से ही वैदिक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। वैदिक गद्य-पुस्तकों तथा सूत्रों में वेदों से उद्धृत मन्त्रों में ही 'प्राचीन उच्च भारतीय' के दर्शन होते हैं।

वैदिक गद्य साहित्य—ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा सूत्रों—की भाषा पाणिनि (संभवतः ५०० ई० पू०) की व्याकरण से नियमित भाषा से अत्यल्प ही भिन्न है। इस भाषा का उपयुक्त नाम संभवतः 'प्राचीन संस्कृत' होगा। यह वह भाषा है जो पाणिनि के समय तथा संभवतः उससे पूर्व भी शिक्षितों, पुरोहितों तथा विद्वानों के द्वारा बोली जाती थी। यह वह संस्कृत है, जिसके विषय में पतञ्जलि (२०० ई० पू०) ने कहा है कि इसको शुद्ध रूप में सीखने के लिए इसका श्रवण शिष्टों के मुख से करना चाहिए। शिष्ट शब्द का प्रयोग साहित्य, व्याकरण आदि में पारङ्गत ब्राह्मणों के लिए किया गया है। परन्तु संस्कृत बोलने वालों का क्षेत्र बहुत विस्तृत था, जैसा कि हमें पतञ्जलि के महाभाष्य से पता चलता है। पतञ्जलि ने एक कथा दी है, जिसमें कि एक ब्राह्मण के साथ एक सूत का संस्कृत में संवाद है। दोनों में कुछ शब्दों के निर्वचन के विषय में विवाद होता है। संस्कृत नाटकों में राजा, ब्राह्मण तथा शिष्ट जन संस्कृत में बात करते हैं तथा स्त्रियां और सामान्य जन प्राकृतों (सामान्य जनों की बोलियों) में। अपवाद रूप से कुछ शिक्षित स्त्रियां (परि-व्राजिकाएं, नगरवधुएं इत्यादि) संस्कृत में तथा कुछ अशिक्षित ब्राह्मण प्राकृतों में बात

करते हैं। इन प्राकृतों में ही वास्तविक जनजीवन की छाया मिलती है। ईसा के बाद की शताब्दियों में ही नहीं, जबकि संस्कृत-नाटक लिखे गए, अपितु बहुत पूर्व की शताब्दियों में यही अवस्था रही होगी। यह निश्चित है कि संस्कृत जन-सामान्य की भाषा नहीं थी, यह शिक्षित लोगों के व्यवहार की भाषा थी; हां, इसे समझने वालों का क्षेत्र काफी बड़ा था। संस्कृत नाटकों में संस्कृत बोलने वाले और प्राकृत बोलने वाले पात्र परस्पर वार्तालाप करते हैं, इससे सिद्ध होता है कि जनता में जो संस्कृत नहीं भी बोल सकते थे, संस्कृत समझते अवश्य थे।[1]

महाभारत, पुराण आदि के गायक राजदरबारों तथा समृद्धिशालियों और शिष्टों के घरों में कथा करते थे; दरबारी और सामान्य जन श्रोता के रूप में होते थे। इससे भी सिद्ध होता है कि संस्कृत बोलने वालों का क्षेत्र बहुत बड़ा था। महाभारत, पुराण आदि की भाषा भी संस्कृत ही है। इसे हम पौराणिक संस्कृत कह सकते हैं; यह संस्कृत अत्यल्प ही भिन्न है। इसमें कुछ आर्ष प्रयोग हैं तथा व्याकरण के नियमों का पालन सख्ती से नहीं किया गया; इसलिए इसे हम संस्कृत का जनसामान्य में प्रचलित रूप कह सकते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि जनसामान्य में प्रचलित महाभारत पुराण आदि[2] संस्कृत में लिखे ही नहीं जाते, यदि सामान्यतया सब संस्कृत न समझते होते। उस समय संस्कृत की वही स्थिति थी जो आज जर्मनी में अर्वाचीन उच्च जर्मन की है। इसे सब समझते हैं यद्यपि इसका स्वरूप जनसामान्य में बोली जाने वाली बोलियों से भिन्न है।

संस्कृत को 'उच्च भाषा', 'शिष्ट भाषा' या 'साहित्यिक भाषा' किसी भी नाम से कहें; 'संस्कृत' शब्द के अर्थ से ही सिद्ध है कि यह 'भली भांति बनाई गई', 'व्यवस्थित' 'मृष्ट' 'पूर्ण' 'पवित्र', 'पावन' है। यह ऊंचे स्तर की भाषा मानी जाती थी।

---

१. संस्कृत नाटकों में जैसी भाषा-संबन्धी स्थिति है, उसमें आज के भारत में भी अत्यल्प परिवर्तन देखने में आता है। आज भी भारत के किसी धनी परिवार में विभिन्न प्रदेशों के नौकर १०, १२ विभिन्न भाषाएँ व बोलियाँ बोलते हैं। जी० ए० ग्रियर्सन ने एक बंगाली परिवार का वर्णन किया है। उसके घर में बोली जाने वाली भाषाओं व बोलियों की संख्या कम से कम १३ है। गृह-स्वामी यूरोपियनों के साथ परिष्कृत बंगला में बात करता है और अपने दैनिक व्यवहार में वह सामान्य बंगला का प्रयोग करता है जोकि साहित्यिक बंगला से काफी भिन्न है। उसकी पत्नी १०० मील दूर प्रदेश की रहने वाली है और वहाँ की बोली बोलती है। उसकी दूसरी पत्नी की भाषा लखनऊ की आम बोलचाल की उर्दू है और जब वह क्रुद्ध होती है तो अजीब खिचड़ी भाषा बोलती है। गृहस्वामी का व्यापार मैनेजर 'धाकी' बोलता है। उसके नौकरों में कोई 'उड़िया' बोलता है तो दूसरे 'भोजपुरी', 'अवधी', 'मैथिली', 'अहीरी' और 'चेटगैया' बोलते हैं। वे सब एक-दूसरे की बात समझ लेते हैं। यह तो कभी मुश्किल से ही होता है कि बोलने वाला श्रोता की भाषा में बोल रहा हो। (Ind. Ant., 30, 1901, P. 556)

२. कुछ विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि महाभारत, पुराण आदि पहले प्राकृत बोलियों में लिखे गए थे, फिर उनका अनुवाद संस्कृत में हुआ। अपितु इस मान्यता के पक्ष में कोई प्रतिपादक युक्ति नहीं है, जैसा कि जैकोबी ने सिद्ध किया है—एच० जैकोबी (ZDMG., 48, 407 ff.)

सामान्य जन की भाषा का नाम था प्राकृत। 'प्राकृत' शब्द का अर्थ है मूल, स्वाभाविक, सामान्य, सर्वसाधारण। इससे ही उसका 'जनसामान्य की भाषा' होना सिद्ध हो जाता है।

तथापि संस्कृत को मृत भाषा कदापि नहीं कहा जा सकता, हां, निगड़ित भाषा कहा जा सकता है क्योंकि इसका स्वाभाविक विकास एक सीमा पर पहुँचकर वैयाकरणों के नियमों के कारण रुक गया। पाणिनि (लगभग ५०० ई० पू०) के व्याकरण के द्वारा संस्कृत का ऐसा अपरिवर्तनीय रूप निर्मित हुआ जो कि शाश्वत काल के लिए भाषा का मानदण्ड बन गया। जिसे हम शिष्ट संस्कृत कहते हैं, उसका तात्पर्य है 'पाणिनीय संस्कृत' अर्थात् वही संस्कृत शुद्ध है जो पाणिनि के नियमों के अनुसार है[1] तथापि, इन व्याकरण के निगड़ों में भी यह भाषा जीवित रही। एक हजार वर्ष तक काव्यात्मक तथा वैज्ञानिक साहित्य की विशाल राशि इस 'शिष्ट भाषा' में सृष्ट हुई। तथा च, संस्कृत आज भी मृतभाषा नहीं है। आज के दिन भी संस्कृत में अनेक पत्र पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं और आधुनिक विषयों पर पुस्तक-पुस्तिकाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। आज भी जनता में महाभारत की कथा होती है। इससे सिद्ध होता है कि लोग कुछ न कुछ तो समझते ही हैं। मुझे प्रसन्नता हुई और आश्चर्य भी, जब मैंने शान्तिनिकेतन में 'मुद्राराक्षस' तथा 'उत्तररामचरित' के कुछ दृश्यों का अभिनय देखा। दर्शक वहां बहुसंख्या में थे। उन्होंने उन्हें समझा और आनन्द लिया। ये नाटक आलंकारिक एवं पर्याप्त क्लिष्ट भाषा में लिखे हुए हैं। आज के दिन भी संस्कृत में काव्य व नाटक रचे जाते हैं तथा अन्य विषयों पर पुस्तकें लिखी जाती हैं। अनेक स्थानों पर वैज्ञानिक विषयों पर भी संस्कृत में विचार-विनिमय होता है। कम से कम संस्कृत का इतना प्रचलन तो है ही जितना कि मध्ययुग में लैटिन का था या जितना आज यहूदियों में हिब्रू का है।[2]

---

१. भारतीय वैयाकरणों द्वारा नियन्त्रित साहित्यिक भाषा को ही भारतीय जन संस्कृत मानते हैं। जब 'वैदिक संस्कृत', इस प्रकार कहते हैं, तब वस्तुत: 'प्राचीन भारतीय' से तात्पर्य होता है।

२. उत्कीर्ण लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'संस्कृत' उत्तर भारत की एक बोली का परिष्कृत व परिवर्तित रूप है, जिसका निर्माण वैयाकरणों ने किया और यह रूप धीरे-धीरे संपूर्ण भारत में शिक्षितवर्ग के द्वारा अपना लिया गया—देखिए बुहलर *Ep. Ind.*, 1, p. 5। महाभारत (१.७८.१३) में संस्कृत को पवित्र भाषा (ब्राह्मी वाक्) कहा गया है और संभवत: सदा ही यह समाज के एक विशेष वर्ग की भाषा रही—देखिए विन्डिश्च, *Ueber den sprachlichen charakter des Pali*; थॉमस—JRAS; डब्ल्यू. पीटर्सन JOAS; टी. मिकल्सन JAOS; आज के भारत में भी संस्कृत के प्रचलन के विषय में पॉल डूसन कहता है (*Erinnerungen an Indien*, 1904, pps 2f.)—"संस्कृत के परम्परागत विद्वान् तथा भारतीय विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक तो प्रवाहरूप से संस्कृत में भाषण करते ही हैं और उनके श्रोता भी अनायास समझ लेते हैं; उतना तो समझ ही लेते हैं जितना कि हमारे भाषाविज्ञान के विद्यार्थी लैटिन को समझ लेते

संक्षेप में, साहित्य की दृष्टि से 'प्राचीन भारतीय' का विभाजन निम्न है—

(१) प्राचीन उच्च भारतीय

(२) संस्कृत—

(क) प्राचीन संस्कृत, वैदिक गद्य ग्रन्थों की भाषा (उद्धृत मन्त्रों को छोड़ कर), तथा पाणिनि की भाषा।

(ख) पौराणिक संस्कृत—महाभारत, पुराण इत्यादि की भाषा।

(ग) शिष्ट भाषा—पाणिनि के बाद 'शिष्ट-संस्कृत-साहित्य' की भाषा।

मध्य भारतीय भाषाएं तथा बोलियां

संस्कृत के विकास के साथ-साथ व समानान्तर आर्य भारतीयों में जन-सामान्य द्वारा बोली जाने वाली बोलियों का विकास भी हुआ। जिन भाषाओं व बोलियों को हम 'मध्य भारतीय' कहते हैं, वे सीधा संस्कृत से नहीं निकली हैं। उनका मूल है वे भारत-आर्य बोलियां जो सर्वसामान्य में बोली जाती थीं और जो 'प्राचीन उच्च भारतीय' और संस्कृत का आधार हैं या उनसे संबद्ध हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारत एक विशाल देश है; अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि आर्य प्रव्रजक जब पश्चिम से पूर्व और दक्षिण में धीरे-धीरे फैले तो अनेक बोलियों का विकास हुआ। इन बोलियों की अनेकरूपता का प्रमाण हमें भारतीय उत्कीर्ण लेखों से मिलता है जो कि 'मध्य भारतीय' में लिखे हुए हैं, संस्कृत में

हैं। परन्तु संस्कृत बोलने वालों का क्षेत्र इससे कहीं बड़ा है—अनेक साधु, यति तथा सामान्य-जन भी इसमें सरलता से वार्तालाप करते हैं। मैंने अनेक बार घंटों बनारस के महाराज से संस्कृत में वार्तालाप किया है अनेक कारखानों के मालिक, उद्योगपति तथा व्यापारी भी थोड़ा बहुत संस्कृत बोल लेते हैं और समझ तो पूरी तरह लेते हैं। जब मैं किसी गांव में जाता था तो संस्कृत बोलने वाले की खोज करता था। एकदम एक या दो व्यक्ति मिल जाते थे जो मेरे मार्ग-दर्शक का कार्य करते थे और मेरे मित्र बन जाते थे।" भारत में डूसन जब अंग्रेजी में व्याख्यान देता था तो प्रायः उसे उस व्याख्यान को संस्कृत में दुहराने के लिये कहा जाता था और उसके बाद विचार-विनिमय होता था जिसमें कुछ लोग संस्कृत में बोलते थे, कुछ अंग्रेजी में और कुछ हिन्दी में। हिन्दी पूर्ण रूप से समझ ली जाती थी क्योंकि शुद्ध हिन्दी संस्कृत से अत्यल्प ही भिन्न है, उसमें केवल संस्कृत की विभक्तियाँ नहीं हैं, अन्यथा वह संस्कृत ही है। प्रत्येक हिन्दू उतनी संस्कृत तो समझता ही है, जितनी कि एक इटैलिन लैटिन। तथा च वास्तविक "हिन्दुस्तान (उत्तर भारत) में लिपि भी वही है जो संस्कृत की, अतः संस्कृत एक हद तक नौकर और मजदूर भी समझते हैं। यदि बनारस चिट्ठी भेजी जाए और पता संस्कृत में लिखा है तो भी डाकिया उसे यथास्थान पहुँचा देगा।" 'संस्कृत जीवित भाषा है' इस संबन्ध में अन्य द्रष्टव्य स्रोत—श्याम जी कृष्ण वर्मा OC V Berlin; आर० जी० भण्डारकर JBRAS; विन्डिश्च, OC XIV Paris, हर्टेल—तन्त्राख्यायिका—अंग्रेजी अनुवाद, तथा HOS, Vol. XII.

नहीं। इन सर्वसामान्य की भाषाओं में अनेकों ने साहित्यिक भाषा का पद प्राप्त कर लिया। उनमें से कुछ का यहाँ संक्षेप से वर्णन किया जाएगा—

(१) मध्य भारतीय साहित्यिक भाषाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'पालि' है। यह भाषा श्रीलंका, बर्मा (ब्रह्मदेश) तथा स्याम के बौद्धों की शास्त्रीय भाषा है। बौद्धों के प्राचीनतम पवित्र ग्रन्थ इसी भाषा में सुरक्षित हैं। बौद्ध विद्वान् स्वयं कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मणों के समान पढ़े-लिखे शिष्टों की संस्कृत में प्रचार नहीं किया, अपितु लोगों की भाषा में ही समझाया। सर्वप्रथम बुद्ध ने मगध देश (दक्षिणी विहार) में प्रचार किया; उनका मुख्य कार्यक्षेत्र वही रहा; इसलिए बौद्ध लोग कहते हैं कि पालि और मागधी भाषाएं अभिन्न हैं। परन्तु यह तथ्य नहीं है क्योंकि मगध की बोली, जिसे हम पृथक् स्रोत से जानते हैं, पालि से भिन्न है। हां, यह संभव है कि पालि को हम एक मिश्रित भाषा कहें, जिसका आधार मागधी है।[१] 'पालि' शब्द का अर्थ है 'पंक्ति', इसका विकसित अर्थ हुआ व्यवस्था, विधान, नियम और फिर अर्थ हुआ 'पवित्र ग्रन्थ', और फिर इस शब्द का अर्थ हुआ पवित्र ग्रन्थों की भाषा। इसकी तुलना में इससे विभिन्न प्राचीन सिंहली भाषा है जिसमें प्राचीन पालि ग्रन्थों की टीकाएं लिखी गई।

(२) पालि-साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध संस्कृत साहित्य भी उपलब्ध है। इन बौद्धग्रन्थों में प्रायः पद्य संस्कृत में हैं, बीच-बीच में छन्दोबद्ध कथन हैं जिन्हें गाथा (गीत या पद्य) कहते हैं। ये गाथाएं एक 'मध्य भारतीय' बोली में लिखी गई हैं। इसे 'गाथा बोली' का नाम दिया गया है। परन्तु यह नामकरण पूर्णतया उपयुक्त नहीं है क्योंकि इस बोली का गद्यभागों में तो कहीं-कहीं पद्य रूप में समावेश है; परन्तु कई पूरे के पूरे गद्य ग्रन्थ इस बोली में लिखे गए हैं। यह एक 'मध्य भारतीय बोली' है जिसमें अव्यवस्थित ढंग से संस्कृत प्रत्यय लगा दिए गए हैं तथा कई संस्कृत प्रयोग प्रविष्ट कर दिए गए हैं और इस प्रकार इसे संस्कृत के समीप लाने का प्रयास किया गया है। अतः सेनार्ट का सुझाव है कि इसका नाम 'मिश्रित संस्कृत'[२] रखा जाना चाहिए।

(३) बौद्धों के समान जैनों ने भी अपने पवित्र ग्रन्थों के लिए संस्कृत का

---

१. यह विन्डिश्च का मत है—*Ueber den sprachlichen Charakter des Pāli* (OC XIV, Paris)। जी० ए० ग्रियर्सन (Bhandarkar Com. Vol.) भी इससे सहमत है। ग्रियर्सन स्टेन कोनो से सहमत है (ZDMG., 64) कि पालि पैशाची-प्राकृत से मिलती-जुलती है। पैशाची-प्राकृत संभवतः पूर्वी गान्धार तथा तक्षशिला जिले की स्थानीय बोली थी। तक्षशिला बुद्ध के समय एक महान् शिक्षा-केन्द्र था।

२. देखिए एस० लेफमैन, ZDMG; तथा ई० सेनार्ट—*Ind. Ant.*, 21। हरप्रसाद शास्त्री (*Ind. His. Qu.* 1, 1925) का मत है कि यह संस्कृतीकृत बोली नहीं है; यह उत्तर भारत में सर्वसामान्य में बोली जाने वाली भाषा है।

प्रयोग नहीं किया; उन्होंने 'मध्य भारतीय' बोलियों में ग्रन्थ लिखे हैं; ये प्राकृत भाषाएँ हैं जो अनेकरूपा[1] हैं।

(क) जैन प्राकृत (जिसे अर्धमागधी या आर्ष भी कहते हैं)—यह जैन शास्त्रों के प्राचीन ग्रन्थों की भाषा है।

(ख) **जैन महाराष्ट्री**—इसमें जैन-शास्त्रों की टीकाएं लिखी गई तथा जैनों के धार्मिकेतर काव्य ग्रन्थ[2] लिखे गए। इस बोली का उस प्राकृत से अन्तरंग संबन्ध है जिसका कि लौकिक साहित्य के लिए साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। इसका विवरण निम्न है—

(४) **महाराष्ट्री**—मराठों के प्रदेश महाराष्ट्र की भाषा। सर्वसम्मति से यह सर्वोत्कृष्ट प्राकृत है। भारतीय जब 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका अभिप्राय महाराष्ट्री से होता है। विशेष रूप से इसका प्रयोग गीतिकाव्य के लिए होता था, मुख्य रूप से संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त गीतों के लिए। परन्तु महाराष्ट्री में पूरे काव्य भी लिखे गए हैं। नाटकों में प्रयुक्त होने वाली अन्य प्राकृत बोलियां निम्न हैं—

(५) **शौरसेनी**—नाटकों के गद्य में इसका प्रयोग कुलीन स्त्रियां करती हैं। इस बोली का आधार शूरसेन प्रदेश की बोली है, जिसकी राजधानी मथुरा है।

(६) **मागधी**—निम्न वर्ग के लोग नाटकों में मागधी का प्रयोग करते हैं। यह मगध की बोली है। तथा

(७) **पैशाची**—नाटकों में समाज के निम्नतम वर्ग के लोग इसका प्रयोग करते हैं। संभवतः पैशाची पिशाच नामक एक जाति की बोली थी। भारतीय इसे पिशाचों (राक्षसों के एक वर्ग) की बोली कहते हैं। कथा-साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्कथा पैशाची बोली में लिखा गया था।

(८) अन्तिम है **अपभ्रंश**—सर्वसामान्य में लिखी जाने वाली कविता में इसका प्रयोग होता था। यह जैन-प्रेमकथाओं की भी भाषा है और कहीं-कहीं थोड़ा बहुत नाटकों में भी प्रयुक्त हुई है। अपभ्रंश प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच की कड़ी है क्योंकि यह उस साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती थी, जिसका आधार यद्यपि प्राकृत था, परन्तु जिसका सर्वसामान्य की बोलियों

---

१. हिन्दू इन सामान्यजन में बोली जाने वाली भाषाओं को प्राकृत नहीं कहते; वे उन्हीं जनसामान्य-भाषाओं को प्राकृत कहते हैं, जिनका साहित्य में प्रयोग हुआ है। इस अध्याय के विषय के विस्तृत ज्ञान के लिए देखिए—आर पिशेल का ग्रन्थ *Grammatik der Prākrit-sprachen* (in Grundriss 1, 8 Einleitung) तथा एच० जैकोबी in A BAY A XXIX,4, 1918, PP. 81 ff.

२. देखिए एच० जैकोबी, *Ueber das Prākrit in der Erzählungs-litteratur der Jainas*, in RSO, II, 1909, PP. 231 ff.

से अन्तरंग तादात्म्य था ।[1]

आधुनिक भारतीय भाषाएं तथा बोलियां[2]

लगभग १००० ई० तक आधुनिक भारत-आर्य भाषाएं 'मध्य भारतीय' बोलियों से विकसित हो चुकी थीं। तथा १२वीं शताब्दी से इनका अपना साहित्य मिलना शुरू हो जाता है। यह साहित्य अंशतः स्वतन्त्र और अंशतः संस्कृत पर निर्भर है। इन आधुनिक भाषाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हिन्दी है। यह प्राचीन मध्य देश की भाषा है, जिसमें गङ्गा के दोआब का अधिकांश भाग, उत्तर में हिमालय से लगे हुए समतल भाग, दक्षिण में नर्मदा नदी तक का प्रदेश तथा पूर्व में कानपुर तक का प्रदेश आ जाता है। हिन्दी की अनेक बोलियों में से कन्नौजी, बुंदेली तथा ब्रजभाषा (मथुरा-प्रदेश की भाषा) में उल्लेखनीय साहित्य का सर्जन हुआ है। हिन्दुस्तानी या उर्दू भी हिन्दी का ही एक रूप है जिसमें कि फारसी और अरबी[3] के शब्दों और व्याकरण का पर्याप्त मिश्रण है। इसका उद्भव १२वीं शताब्दी में उस समय मुसलमानों के राज्य के केन्द्र दिल्ली के पड़ौस में 'फौजियों के शिविर' (उर्दू) में हुआ; इसीलिए इसे उर्दू (शिविर भाषा) कहते हैं। १६वीं शताब्दी में इसमें भी साहित्य की रचना का प्रारम्भ हो गया। उच्च हिन्दी 'उच्च दोआब' की भाषा की ओर झुकी हुई है, यह प्रदेश अभी फारसी से प्रभावित नहीं हुआ है। मध्यदेश से लगे हुए प्रदेशों की भाषाओं का मध्यदेश की भाषा से निकट संबन्ध है। ये भाषाएं निम्न हैं—उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, पश्चिम में राजस्थानी और गुजराती, पूर्वीपहाड़ी या नेपाली, केन्द्रीय पहाड़ी तथा पश्चिमी पहाड़ी। राजस्थानी तथा गुजराती का अन्तरंग संबन्ध है। राजस्थानी की एक बोली मारवाड़ी का तो गुजराती से पृथक् करना ही मुश्किल है। पूर्वी हिन्दी का, जिसमें कि तुलसीदास ने लिखा, बहिरंग भाषाओं से अधिक संबन्ध है। बहिरंग भाषाएं निम्न हैं—लहँदा (पश्चिमी पंजाब की भाषा), उत्तर-पश्चिम में सिन्धी, दक्षिण में मराठी, पूर्व में बंगाली तथा असमिया। मैथिली बिहारी भाषा की एक बोली है। १८वीं श० के प्रारम्भ से साहित्यिक बंगाली सर्वसामान्य में बोली जाने वाली बंगाली से बहुत भिन्न हो गई है क्योंकि इसने अत्यधिक शब्दों को आत्मसात् कर लिया है। वाराणसी की उच्च हिन्दी में भी यही प्रवृत्ति देखने में आ

---

१. अपभ्रंशों के विषय में देखिए एच० जैकोबी in A Bay A, XXIX, 4, 1918; XXXI, 2, 1921 तथा *Festschrift für Wackernagel*. जैकोबी की सम्मति है कि अपभ्रंश सर्वप्रथम अहीर और गूजर कवियों द्वारा प्रयुक्त की गई।

२. इस प्रकरण का आधार है सर जॉर्ज ग्रियर्सन द्वारा कृत भारत-आर्य प्रादेशिक भाषाओं का वर्णन। ई० जै० रैप्सन : *Cambridge History of India* (1, 37, ff.) से भी तुलना करें।

३. यह फारसी-अरबी लिपि में भी लिखी जाती है।

रही है । तथापि आजकल बंगाली तथा हिन्दी के अच्छे अच्छे लेखक यह प्रयत्न कर रहे हैं कि अपनी भाषाओं को उधार लिए हुए संस्कृत शब्दों से मुक्त रखा जाए । दर्दीय (दर्द सम्बन्धी) अथवा आधुनिक पिशाच भाषाओं का एक पृथक् वर्ग है । इनमें से काश्मीरी में प्रभूत साहित्य है ।

अन्त में, श्रीलंका की भाषा सिंहली एक 'भारत-यूरोपीय' बोली है जो कि 'मध्य भारतीय' से उद्भूत हुई है । श्री लंका में बौद्ध धर्म तथा बौद्ध साहित्य के प्रवेश के बाद साहित्यिक गतिविधि का प्रारम्भ हुआ । शुरू-शुरू में यह धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्या के रूप में ही थी । परवर्ती शताब्दियों में लौकिक साहित्य भी लिखा गया, जिस पर संस्कृत कविता का बहुत प्रभाव है ।[1]

अब तक जिन भारतीय भाषाओं की चर्चा की गई, वे सब भारत-यूरोपीय वर्ग की हैं । इसके अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाएं भी हैं । उदाहरणार्थ, मुण्डा-भाषाएं—ये वे बोलियां हैं जो महादेव-शैलमाला, सन्थाल परगना तथा छोटा नागपुर में बोली जाती हैं; तिबती-बर्मी भाषाएं (भारत के उत्तरीय तथा उत्तर-पूर्वीय सीमान्त पर) तथा विशेष रूप से उल्लेखनीय दक्षिण भारत की द्राविड़ भाषाएँ । द्राविड़ भाषाएं किसी समय उत्तर भारत में भी प्रचलित रही होंगी[2] क्योंकि भारत-आर्य-भाषाओं पर इनका पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।[3] सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण द्राविड़ भाषाएं हैं—मलयालम (मलाबार के समुद्री तट पर), कन्नड़, तेलगू तथा तमिल । यद्यपि ये भाषाएं भारत-यूरोपीय परिवार की नहीं हैं, परन्तु इन पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है तथा इन भाषाओं का जो साहित्य संस्कृत पर निर्भर हैं, वह कम महत्त्व का नहीं है ।

इस ग्रन्थमाला में हम मुख्य रूप से संस्कृत, पालि तथा प्राकृत भाषाओं में लिखे गए साहित्य पर ही विचार करेंगे । परिशिष्ट में आधुनिक भारतीय साहित्य का दिग्दर्शन भी किया जाएगा ।

---

१. देखिए विल्हेल्म गीगर, *Literatur und Sprache der Singhalesen* in 'Grundriss' 1.10.

२. गङ्गा के मैदानों तथा बलोचिस्तान में भी कहीं-कहीं कोई द्राविड़ बोली (ब्राहुई) बोली जाती थी ।

३. देखिए ग्रियर्सन, BSOS, 1, 3, 1920, pp. 71 f.

प्रथम परिच्छेद

वेद अथवा वैदिक साहित्य

वेद का स्वरूप

वेद भारतीय साहित्य की ही नहीं, भारत-यूरोपीय साहित्य की भी प्राचीनतम कृति हैं। विश्व-साहित्य के इतिहास में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कम से कम ३००० वर्ष से करोड़ों हिन्दू वेदों का ईश्वरीय वाणी के रूप में आदर करते आए हैं ; वेद उनके सब विचार और भावों का मानदण्ड रहे हैं। अपनी पुरातनता के कारण वेद भारतीय साहित्य में सर्वप्रमुख हैं; अतः जिसे वेदों से परिचय नहीं, वह भारतीयों के आध्यात्मिक जीवन तथा संस्कृति को नहीं समझ सकता। वेदों से अनभिज्ञ व्यक्ति बौद्ध धर्म को भी अवगत नहीं कर सकता ; बौद्ध धर्म का उद्भव भी भारत में ही हुआ। बौद्ध धर्म का वेद से वही संबन्ध है जो न्यू टेस्टामेन्ट का ओल्ड टेस्टामेन्ट से।

तो, फिर वेद क्या हैं ?

वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान—सर्वोत्कृष्ट ज्ञान अर्थात् पवित्र धार्मिक ज्ञान। वेद कुरान की भांति एक ग्रन्थ में बद्ध साहित्यिक कृति नहीं हैं, न ही ये बाइबल (सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ) की भांति किसी कालविशेष में लिखे गए ग्रन्थों का संग्रह है, न ही ये त्रिपिटक (बौद्धों का बाइबल) की तरह ही हैं। वेद तो एक विशाल साहित्य-राशि का नाम है जिसका सर्जन अनेक शताब्दियों में हुआ और जो अनेक शताब्दियों से पीढ़ी दर पढ़ी मौखिक रूप से संक्रान्त होता रहा है तथा प्रागैतिहासिक काल में किसी परवर्ती पीढ़ी के द्वारा अपनी पुरातनता तथा विषयवस्तु की उदात्तता के कारण 'पवित्र ज्ञान' व 'ईश्वरीय ज्ञान' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। यह कोई ऐसा धार्मिक शास्त्र नहीं है जो किसी काल विशेष में किसी विद्वत्परिषद् के द्वारा स्वीकृत किया गया हो। इस साहित्य की पवित्रता में विश्वास, ऐसा लगता है, स्वयमेव हो गया और इस विश्वास का विरोध भी न के बराबर हुआ।

परन्तु, आज जिसे वेद या वैदिक साहित्य कहते हैं, उसमें तीन वर्ग सम्मिलित हैं—

(१) संहिताएं (संग्रह)—सूक्तों, प्रार्थनाओं, स्तुतियों, आशीः (इच्छा) के प्रकट करने वाले मन्त्रों, कर्मकाण्डीय विधिमन्त्रों तथा गीतों का संग्रह।

(२) ब्राह्मण-ग्रन्थ—विशालकाय गद्य-साहित्य। इसमें धर्म-विधान सामग्री है; विशेष रूप से यज्ञ तथा पृथक्-पृथक् यज्ञीय कर्मकाण्डों तथा अनुष्ठानों पर विचार है।

(३) आरण्यक-ग्रन्थ (अरण्यसंबन्धी ग्रन्थ) तथा उपनिषद् (निगूढ़ सिद्धान्त) —ये अंशतः ब्राह्मणग्रन्थों के भाग रूप में या उनसे संबद्ध हैं तथा अंशतः स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में माने जाते हैं। इनमें अरण्यवासी संन्यासियों व तपस्वियों द्वारा ईश्वर, संसार तथा मनुष्यों के संबन्ध में किए गए पर्यालोचन हैं। इनमें प्राचीनतम भारतीय दर्शन की प्रभूत सामग्री भी है।

किसी समय संहिताओं की एक बड़ी संख्या रही होगी जिनका उद्भव विभिन्न सम्प्रदायों, पुरोहितों, तथा उद्‌गाताओं में हुआ तथा जो पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रान्त होती रहीं। तथापि, यह स्मरण रखना चाहिए कि ये बहुसंख्यक संहिताएं एक ही संहिता के पाठ-भेद के रूप में ही थीं। इन्हें ही भारतीय विभिन्न 'शाखाएं' कहते हैं। संहिताओं के रूप में वेद चार भागों में विभक्त हैं। इनमें किसी की एक और किसी की एकाधिक शाखाएँ उपलब्ध हैं। ये हैं—

(१) ऋग्वेद संहिता—यह स्तुति-गीतों [ऋक् (ऋच्) बहुवचन—ऋचः] का वेद अथवा ज्ञान है।

(२) अथर्ववेद संहिता—वशीकरण, अभिचार व मन्त्र-तन्त्र का वेद।

(३) सामवेद संहिता—गीतों (सामन्) का वेद।

(४) यजुर्वेद संहिता—यज्ञीय मन्त्रों (यजुष्—बहुवचन—यजूंषि) का वेद। इसके दो भाग हैं—

(क) कृष्ण यजुर्वेद संहिता—यह अनेक शाखाओं में उपलब्ध है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं—तैत्तिरीय संहिता और मैत्रायणी संहिता।

(ख) शुक्ल यजुर्वेद—इसकी दो शाखाएं वाजसनेयि संहिता तथा माध्यन्दिन संहिता उपलब्ध हैं।

इन चार विभिन्न संहिताओं के कारण भारतीयों में 'चार वेद' इस रूप में कहने की परम्परा है—ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और [शुक्ल तथा कृष्ण] यजुर्वेद। प्रत्येक ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् इन चार वेदों में से किसी एक से संबद्ध है। उदाहरणार्थ ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद से, शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद से तथा छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद से संबद्ध है, इत्यादि।

किसी न किसी वेद से संबद्ध होने के कारण ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य में अनेक ग्रन्थ हैं जो विभिन्न कालों में रचित हुए; परन्तु इनकी अविच्छिन्न परम्परा है। इस विशाल साहित्य में धार्मिक विषय, गीत, प्रार्थनाएं, शास्त्रीय

तथा आध्यात्मिक रचनाएं हैं। यह समग्र साहित्य सम्मिलित रूप से ब्राह्मण धर्म की आधारभित्ति है। ब्राह्मण-धर्म के लिए इस साहित्य का वही महत्त्व है जो यहूदियों के लिए ओल्ड टेस्टामेन्ट और ईसाइयों के लिए न्यू टेस्टामेन्ट का है। जिस प्रकार यहूदी और ईसाई अपने पवित्र ग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उसी प्रकार 'ब्राह्मणीय भारतीय' भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं। परन्तु, यह स्मरण रखना चाहिए कि इस 'पवित्र धार्मिक कृति' के लिए भारतीयों में शब्द है श्रुति अर्थात् सुनना या सुना गया क्योंकि ये ईश्वरीय ग्रन्थ लिखे नहीं गए थे केवल भाषित और श्रुत थे। भारतीय-दर्शन का संपूर्ण इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि भारत में यह सर्वसम्मत विश्वास रहा है कि न केवल ऋग्वेद की ऋचाएं ही ब्रह्म का निःश्वसित हैं, जिनका कि प्राचीन ऋषियों ने दर्शन (साक्षात्कार) किया प्रत्युत वैदिक साहित्य की अन्तिम कृतियों—उपनिषदों—का भी प्रत्येक शब्द ब्रह्ममुखोद्भूत निर्भ्रान्ति ज्ञान है। भारत के विभिन्न ब्राह्मण-दर्शनों में परस्पर कितना भी मतभेद क्यों न हो परन्तु वे प्रायः सब वेदों और उपनिषदों को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं और अपने सिद्धान्तों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए इनका ही आश्रय लेते हैं। यह ठीक है कि इन ग्रन्थों की व्याख्या करते हुए विभिन्न व्याख्याकारों ने अत्यन्त स्वतन्त्रता एवं स्वेच्छा से काम लिया है और सब ने इनमें से यथेप्सित अर्थ निकाला है। वेदों के विषय में एक उल्लेखनीय बात यह है कि बौद्ध वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते, परन्तु वे भी इन्हें मूल रूप से ब्रह्मा के द्वारा ही सृष्ट मानते हैं। हां, वे यह अवश्य कहते हैं कि 'ब्राह्मणों' ने इनमें गड़बड़ की है, अतः इनमें अनेक त्रुटियाँ आ गई हैं।

वेद शब्द का प्रयोग वेदों से लेकर उपनिषद् तक के साहित्य के लिए ही होता है। इसके अतिरिक्त अन्य साहित्यिक ग्रन्थ भी हैं, जिनका कि वेद से अन्तरंग सम्बन्ध है, परन्तु वे वेद के भाग के रूप में स्वीकृत नहीं हैं। वे हैं कल्पसूत्र या कर्मकाण्ड-ग्रन्थ। उन्हें सूत्र नाम से भी अभिहित किया जाता है। ये एक विशेष सूत्रात्मक शैली में लिखे गए हैं। इनमें सम्मिलित हैं—

(१) श्रौतसूत्र—इनमें बड़े-बड़े यज्ञों के अनुष्ठान की विधि वर्णित है। ये यज्ञ प्रायः कई दिन तक चलते थे। इनमें कई यज्ञाग्नियां प्रज्वलित की जाती थीं तथा बहुसंख्यक पुरोहित नियुक्त करने होते थे।

(२) गृह्यसूत्र—इनमें साधारण दैनिक अनुष्ठानों और यज्ञों का वर्णन है। ये जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के समय किए जाते थे।

(३) धर्मसूत्र—आध्यात्मिक तथा लौकिक जीवन के नियमों के ग्रन्थ। ये भारतीयों के प्राचीनतम विधि-ग्रन्थ (कानून के ग्रन्थ) हैं।

ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के समान ये सूत्र-ग्रन्थ भी किसी न किसी वेद से सम्बद्ध हैं। इनका उद्भव किसी वेद विशेष का अध्ययन करने वाले

श्रोत्रियों में हुआ । परन्तु, इन सूत्र-ग्रन्थों को मानव-कृत माना जाता है, ईश्वरीय ज्ञान नहीं । ये वेद का भाग नहीं हैं । इन्हें वेदाङ्ग (वेदों के सहायक ग्रन्थ) कहा जाता है ।

वेदाङ्ग छः हैं—कल्पसूत्र, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र तथा ज्योतिर्विज्ञान । इनके विषय में विस्तृत विचार इस ग्रन्थ के अन्त में करेंगे ।

वैदिक साहित्य तथा तत्संबद्ध साहित्य के इस विहङ्गमावलोकन के बाद वैदिक संहिताओं पर अब कुछ विस्तृत विचार प्रस्तुत करेंगे ।

ऋग्वेदसंहिता

ऋग्वेदसंहिता का सामान्य प्रचलित अभिधान ऋग्वेद है । यह प्राचीनतम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । इसकी कई शाखाएं थीं, परन्तु अब केवल एक शाखा उपलब्ध है ।[1] इसमें १०२८ सूक्त हैं, जो दस मण्डलों में विभक्त हैं ।[2]

इस सूक्त संग्रह में प्राचीनतम भारतीय साहित्य संगृहीत है । यह तथ्य इन सूक्तों की भाषा से निर्विवाद रूप से प्रमाणित है । परन्तु इन सूक्तों की भाषा से यह भी सिद्ध होता है कि यह संग्रह एकरस रचना नहीं है, इसमें भी पुराने नये सूक्त हैं । जैसा कि 'हिब्रू-गीत-पुस्तक' में हुआ, वेद में भी विभिन्न समयों में लिखे गए सूक्त हैं ।[3] इन सूक्तों का संबन्ध प्रागैतिहासिक काल के प्रसिद्ध व्यक्तियों से स्थापित कर दिया गया। प्रायः ऐसा हुआ कि जो सूक्त जिस परिवार में चल रहा था, उसके किसी पूर्वज को ऋषि के रूप में उल्लिखित कर दिया गया । अधिकांश प्राचीनतम सूक्त द्वितीय से सप्तम मण्डल में हैं । इन्हें प्रायः 'परिवार-मण्डल' कहते हैं क्योंकि इनमें से प्रत्येक मण्डल ऋषियों के किसी परिवार विशेष से सम्बद्ध है । भारतीय परम्परा के अनुसार ऋषि वे हैं, जिन्होंने मन्त्रों का साक्षात्कार किया । इनमें से कुछ ऋषियों के नाम ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं । अनुक्रमणियों में इनकी पूरी सूची है । परिवार-मण्डलों के ऋषि हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज तथा वसिष्ठ । ये तथा इनके वंशज भारतीयों के द्वारा द्वितीय से सप्तम मण्डलों के ऋषि (पाश्चात्यों के मत में लेखक) माने जाते हैं । अष्टम मण्डल के ऋषि कण्व तथा अङ्गिरस स्तोतृ वर्ग के हैं। अनुक्रमणियों में शेष मण्डलों (१,९,१०) के प्रत्येक सूक्त के ऋषि अथवा लेखक का नाम है । यह अवधेय है कि इनमें स्त्री ऋषि (ऋषिकाएं) भी हैं । परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इन ऋषियों के नामों का कोई महत्त्व नहीं है । वैदिक सूक्तों के रचयिताओं के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते । जैसा कि बहुत पूर्व सिद्ध किया जा चुका है[4] कि उस परम्परा का,

---

१. शाकल शाखा ।

२. इसके अतिरिक्त एक यान्त्रिक विभाग भी है । ऋग्वेद को आठ भागों में विभक्त किया गया है; प्रत्येक भाग अष्टक है । प्रत्येक अष्टक वर्गों में विभक्त है और प्रत्येक वर्ग में पांच मन्त्र हैं ।

३. ऋग्वेद की भाषा के विषय में देखिए जे० वाकरनेगल, *Altindische Grammatik.*

४. लुडविग—*Der Ṛgveda* तथा ओल्डनबर्ग, *Uber die Liedverfasser des Ṛgveda* in ZDMG., Vol. 42.

जिसमें यह माना जाता है कि गृत्समद विश्वामित्र इत्यादि ऋषि तथा उनके कुछ वंशज इन सूक्तों के ऋषि हैं, सूक्तों में कथित बातों से ही खण्डन हो जाता है। सूक्तों में तो इन प्राचीन ऋषियों के वंशजों को ही ऋषि के रूप में कहा गया है। गृत्समद, विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि नाम अत्यन्त प्राचीन हैं तथा भारतीय साहित्य में इनका बीसियों प्राचीन कथाओं और आख्यानों में नायक के रूप में वर्णन है; ऋग्वेद में भी इनकी अत्यन्त प्राचीन काल के सुदूर प्रागैतिहासिक काल के पुरुषों के रूप में चर्चा है तथा इनको सूक्तों के परिवारों के पुरखों (पितरः) के रूप में ही कहा गया है। नवम मण्डल की व्यवस्था कुछ भिन्न प्रकार की है। इसमें एकसूत्रता है। इसके सारे सूक्तों का देवता सोम है । सोम एक पौधे का नाम है। इससे एक मादक रस का अभिषव किया जाता था। भारत-ईरानी काल में यह देवताओं के लिए रुचिकर पेय के रूप में माना जाता था और इसलिए इसका प्राचीन भारतीयों और ईरानियों के यज्ञों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईरानी इसे 'होम' (Haoma) कहते थे। प्राचीन भारतीय देवगाथाओं में सोम को देवताओं का अमृत कहा गया है और यह दिव्य अमृत पेय है चन्द्रमा—आकाश में चमकती हुई सुनहरी बूंद।[1] । इसलिए ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम को देवों के प्रिय यज्ञीय पेय के रूप में ही नहीं कहा गया है, चन्द्रमा—नभ का राजा—भी कहा गया है। सोम-परम्परा का सम्बन्ध, भारत-ईरानी काल से है, अतः नवम मण्डल के सूक्तों का अति प्राचीन काल मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है; इन सूक्तों का सोम-याग से अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। ऋग्वेद के सबसे परवर्ती सूक्त प्रथम तथा दशम मण्डल में मिलते हैं। इन सूक्तों में विषयों का भी बहुत वैविध्य है।[2] परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रथम तथा दशम मण्डल में अत्यन्त प्राचीन सूक्त नहीं हैं। कुल मिलाकर इस समस्या का निर्णय सरल नहीं है कि कौन से सूक्त प्राचीन हैं और कौन से परवर्ती, क्योंकि इस निर्णय का आधार भाषा को बनाया जाता है। परन्तु भाषा में भेद न केवल सूक्तों के पौर्वापर्य से ही है, इसका कारण यह भी है कि उस सूक्त विशेष का उद्भव किस परम्परा में हुआ और रचयिताओं का प्रयोजन क्या था, उनका उद्भव पुरोहितों की परम्परा में हुआ कि सर्वसाधारण के धर्म में, इससे भी भाषा में अन्तर सम्भव है।

---

१. संस्कृत 'इन्दु' शब्द का अर्थ है बूंद तथा चन्द्रमा। ए० हिलेब्रांड ने सर्वप्रथम इस ओर ध्यान खींचा कि ऋग्वेद में सोम का अर्थ केवल औषधिविशेष ही नहीं, चन्द्रमा भी है। (परवर्ती साहित्य में तो सोम तथा चन्द्रमा पर्यायवाची शब्द हैं ही)—देखिए *Vedische Mythologie* (Breslau 1891 ff.)

२. मण्डलों की व्यवस्था के विषय में देखिए—मण्डल २-७—ए० बर्गेन, J.A., 1886-7, मण्डल १, ८-१०—ए० बार्थ RHR., 19, 1889=Oeuvres 11, 8 ff.

पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सूक्तों पर विस्तृत विचार के लिए देखिए, ब्लूमफील्ड, JROS., 21, 1910.

उदाहरणार्थ सोम या इन्दु के प्रति की गई स्तुति के मंत्रों की भाषा से किन्हीं अन्य सूक्तों की भाषा भिन्न हो सकती है, परन्तु इस कारण ही वे परवर्ती हों, यह आवश्यक नहीं।[1]

कुछ तथाकथित सूक्त ऐसे भी हैं जो कुल मिलाकर ऋग्वेद के पूर्ण हो जाने के बाद उसमें जोड़े गए हैं। यह बात उनके खिल (पूरक) नाम से ही स्पष्ट है। परन्तु यह भी संभव है कि इन खिलों में कुछ सूक्त ऋग्वेद-संहिता के सूक्तों से कितने ही प्राचीन हों और किसी कारण से ऋग्वेद संहिता में सम्मिलित न किए गए हों। अष्टम मण्डल के अन्त में प्रत्येक पाण्डुलिपि में ११ बालखिल्य सूक्त दिए गए हैं, पर वे उस मण्डल का भाग नहीं माने जाते। वे संभवतः अत्यन्त प्राचीन काल के हैं। ११ सुपर्ण सूक्त, 'प्रैषसूक्तानि' तथा गद्य 'निविदः' संभवतः अपेक्षाकृत अत्यन्त प्राचीन हैं। 'निविदः' यज्ञीय गीतों के लघु संग्रह हैं।[2]

सूक्तों के पौर्वापर्य के विषय में आगे वेदों के काल-निर्णय के प्रकरण में विस्तार से विचार करेंगे। यहां इतना जान लेना पर्याप्त है कि संपूर्ण ऋग्वेद (परवर्ती सूक्त भी) अत्यन्त प्राचीन काल का है, जैसा कि 'अल्फ्रेड लुडविग का कथन है[3] "भारतीय ज्ञात साहित्य में जो कुछ भी है, वेद में उसके आधार पर कुछ नहीं है, जबकि संपूर्ण भारतीय साहित्य वेद पर आधृत है।'

भाषा के प्रामाण्य के अतिरिक्त वैदिक छन्दों के आधार पर भी वेदों की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है। वेदों के छन्दों तथा लौकिक संस्कृत के छन्दों में अत्यधिक अन्तर है। वेदों में ऐसे अनेक छन्द हैं जिनका लौकिक संस्कृत काव्य में चिह्न भी नहीं है तथा लौकिक संस्कृत काव्य में सैंकड़ों ऐसे छन्द हैं जिनका कोई भी प्राग्रूप वेदों में नहीं है। कुछ वैदिक छन्द परवर्ती संस्कृत काव्य में मिलते हैं, परन्तु उनकी लय वैदिक छन्दों से अत्यधिक सशक्त है। प्राचीन वैदिक छन्दों में अक्षरों की संख्या निश्चित होती है, जबकि मात्राएं अंशतः ही निश्चित होती हैं। वैदिक मन्त्रों में प्रत्येक पंक्ति में ८, ११ या १२ अक्षर होते हैं, अत्यल्प उदाहरणों में ५ भी। इन पंक्तियों को पाद[4] कहते हैं तथा लय चार (या पाँच) अन्तिम अक्षरों में निश्चित

---

१. देखिए, ब्लूमफील्ड, *On the Relative Chronology of the Vedic Hymns* (JAOS., 21, 1900).

२. एक खिल 'शिवसंकल्प' है जिसका स्वरूप उपनिषद् का है। इसका प्रथम भाग (१-१५) प्राचीन है, शेष सम्प्रदाय-विशेष से संबद्ध है।

३. वेदों की विषयवस्तु और भाषा के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर तो वेद अत्यन्त प्राचीन हैं ही, बाह्यसाक्ष्य के आधार पर भी ये अति प्राचीन सिद्ध होते हैं क्योंकि वे आध्यात्मिक तथा धार्मिक जीवन के साहित्य के आधार हैं तथा वेदों के काव्यमय अंश सब काव्यों का आधार हैं, परन्तु उनका अपने सिवाय कोई आधार नहीं है।' *Der Ṛgveda* III, पृ० १८३।

४. पाद का अर्थ है पांव तथा चतुर्थ भाग। यहां चतुर्थांश से तात्पर्य है।

जिसमें यह माना जाता है कि गृत्समद विश्वामित्र इत्यादि ऋषि तथा उनके कुछ वंशज इन सूक्तों के ऋषि हैं, सूक्तों में कथित बातों से ही खण्डन हो जाता है। सूक्तों में तो इन प्राचीन ऋषियों के वंशजों को ही ऋषि के रूप में कहा गया है। गृत्समद, विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि नाम अत्यन्त प्राचीन हैं तथा भारतीय साहित्य में इनका बीसियों प्राचीन कथाओं और आख्यानों में नायक के रूप में वर्णन है; ऋग्वेद में भी इनकी अत्यन्त प्राचीन काल के सुदूर प्रागैतिहासिक काल के पुरुषों के रूप में चर्चा है तथा इनको सूक्तों के परिवारों के पुरखों (पितरः) के रूप में ही कहा गया है। नवम मण्डल की व्यवस्था कुछ भिन्न प्रकार की है। इसमें एकसूत्रता है। इसके सारे सूक्तों का देवता सोम है। सोम एक पौधे का नाम है। इससे एक मादक रस का अभिषव किया जाता था। भारत-ईरानी काल में यह देवताओं के लिए रुचिकर पेय के रूप में माना जाता था और इसलिए इसका प्राचीन भारतीयों और ईरानियों के यज्ञों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईरानी इसे 'होम' (Haoma) कहते थे। प्राचीन भारतीय देवगाथाओं में सोम को देवताओं का अमृत कहा गया है और यह दिव्य अमृत पेय है चन्द्रमा—आकाश में चमकती हुई सुनहरी बूंद।[1] । इसलिए ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम को देवों के प्रिय यज्ञीय पेय के रूप में ही नहीं कहा गया है, चन्द्रमा—नभ का राजा—भी कहा गया है। सोम-परम्परा का सम्बन्ध, भारत-ईरानी काल से है, अतः नवम मण्डल के सूक्तों का अति प्राचीन काल मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है; इन सूक्तों का सोम-याग से अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। ऋग्वेद के सबसे परवर्ती सूक्त प्रथम तथा दशम मण्डल में मिलते हैं। इन सूक्तों में विषयों का भी बहुत वैविध्य है।[2] परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रथम तथा दशम मण्डल में अत्यन्त प्राचीन सूक्त नहीं हैं। कुल मिलाकर इस समस्या का निर्णय सरल नहीं है कि कौन से सूक्त प्राचीन हैं और कौन से परवर्ती, क्योंकि इस निर्णय का आधार भाषा को बनाया जाता है। परन्तु भाषा में भेद न केवल सूक्तों के पौर्वापर्य से ही है, इसका कारण यह भी है कि उस सूक्त विशेष का उद्भव किस परम्परा में हुआ और रचयिताओं का प्रयोजन क्या था, उनका उद्भव पुरोहितों की परम्परा में हुआ कि सर्वसाधारण के धर्म में, इससे भी भाषा में अन्तर सम्भव है।

१. संस्कृत 'इन्दु' शब्द का अर्थ है बूंद तथा चन्द्रमा। ए० हिलेब्रांड ने सर्वप्रथम इस ओर ध्यान खींचा कि ऋग्वेद में सोम का अर्थ केवल औषधिविशेष ही नहीं, चन्द्रमा भी है। (परवर्ती साहित्य में तो सोम तथा चन्द्रमा पर्यायवाची शब्द हैं ही)—देखिए *Vedische Mythologie* (Breslau 1891 ff.)

२. मण्डलों की व्यवस्था के विषय में देखिए—मण्डल २-७—ए० बर्गेन, J.A., 1886-7, मण्डल १, ८-१०—ए० बार्थ RHR., 19, 1889=Oeuvres 11, 8 ff.

पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सूक्तों पर विस्तृत विचार के लिए देखिए, ब्लूमफील्ड, JROS., 21, 1910.

उदाहरणार्थ सोम या इन्दु के प्रति की गई स्तुति के मंत्रों की भाषा से किन्हीं अन्य सूक्तों की भाषा भिन्न हो सकती है, परन्तु इस कारण ही वे परवर्ती हों, यह आवश्यक नहीं।[1]

कुछ तथाकथित सूक्त ऐसे भी हैं जो कुल मिलाकर ऋग्वेद के पूर्ण हो जाने के बाद उसमें जोड़े गए हैं। यह बात उनके खिल (पूरक) नाम से ही स्पष्ट है। परन्तु यह भी संभव है कि इन खिलों में कुछ सूक्त ऋग्वेद-संहिता के सूक्तों से कितने ही प्राचीन हों और किसी कारण से ऋग्वेद संहिता में सम्मिलित न किए गए हों। अष्टम मण्डल के अन्त में प्रत्येक पाण्डुलिपि में ११ बालखिल्य सूक्त दिए गए हैं, पर वे उस मण्डल का भाग नहीं माने जाते। वे संभवतः अत्यन्त प्राचीन काल के हैं। ११ सुपर्ण सूक्त, 'प्रैषसूक्तानि' तथा गद्य 'निविदः' संभवतः अपेक्षाकृत अत्यन्त प्राचीन हैं। 'निविदः' यज्ञीय गीतों के लघु संग्रह हैं।[2]

सूक्तों के पौर्वापर्य के विषय में आगे वेदों के काल-निर्णय के प्रकरण में विस्तार से विचार करेंगे। यहां इतना जान लेना पर्याप्त है कि संपूर्ण ऋग्वेद (परवर्ती सूक्त भी) अत्यन्त प्राचीन काल का है, जैसा कि 'अल्फ्रेड लुडविग का कथन है[3] "भारतीय ज्ञात साहित्य में जो कुछ भी है, वेद में उसके आधार पर कुछ नहीं है, जबकि संपूर्ण भारतीय साहित्य वेद पर आधृत है।'

भाषा के प्रामाण्य के अतिरिक्त वैदिक छन्दों के आधार पर भी वेदों की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है। वेदों के छन्दों तथा लौकिक संस्कृत के छन्दों में अत्यधिक अन्तर है। वेदों में ऐसे अनेक छन्द हैं जिनका लौकिक संस्कृत काव्य में चिह्न भी नहीं है तथा लौकिक संस्कृत काव्य में सैंकड़ों ऐसे छन्द हैं जिनका कोई भी प्राग्रूप वेदों में नहीं है। कुछ वैदिक छन्द परवर्ती संस्कृत काव्य में मिलते हैं, परन्तु उनकी लय वैदिक छन्दों से अत्यधिक सशक्त है। प्राचीन वैदिक छन्दों में अक्षरों की संख्या निश्चित होती है, जबकि मात्राएं अंशतः ही निश्चित होती हैं। वैदिक मन्त्रों में प्रत्येक पंक्ति में ८, ११ या १२ अक्षर होते हैं, अत्यल्प उदाहरणों में ५ भी। इन पंक्तियों को पाद[4] कहते हैं तथा लय चार (या पाँच) अन्तिम अक्षरों में निश्चित

---

१. देखिए, ब्लूमफील्ड, *On the Relative Chronology of the Vedic Hymns* (JAOS., 21, 1900).

२. एक खिल 'शिवसंकल्प' है जिसका स्वरूप उपनिषद् का है। इसका प्रथम भाग (१-१५) प्राचीन है, शेष सम्प्रदाय-विशेष से संबद्ध है।

३. वेदों की विषयवस्तु और भाषा के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर तो वेद अत्यन्त प्राचीन हैं ही, बाह्यसाक्ष्य के आधार पर भी ये अति प्राचीन सिद्ध होते हैं क्योंकि वे आध्यात्मिक तथा धार्मिक जीवन के साहित्य के आधार हैं तथा वेदों के काव्यमय अंश सब काव्यों का आधार हैं, परन्तु उनका अपने सिवाय कोई आधार नहीं है।' *Der Ṛgveda* III, पृ० १८३।

४. पाद का अर्थ है पांव तथा चतुर्थ भाग। यहां चतुर्थांश से तात्पर्य है।

होती है, वहाँ भी अन्तिम अक्षर की लय में शिथिलता स्वीकृत है। आठ अक्षरों के पाद की सामान्य व्यवस्था निम्न है—

o o o o ⏑ — ⏑

ऐसे तीनों पादों से गायत्री छन्द तथा चार पादों से अनुष्टुप् छन्द बनता है। वैदिक काव्य में अनुष्टुप् की अपेक्षा गायत्री का प्रयोग बहुत है। लौकिक संस्कृत में अनुष्टुप् सर्वाधिक प्रचलित छन्द है। वैदिक अनुष्टुप् से ही लौकिक संस्कृत काव्य का अनुष्टुप् (श्लोक) विकसित हुआ। महाभारत पुराण इत्यादि का तो मुख्य छन्द ही यह है। वेदों में एक पङ्क्ति नाम का छन्द है, जिसका अत्यल्प प्रयोग है, इसमें आठ-आठ अक्षरों के पांच पाद होते हैं तथा महापङ्क्ति में छः पाद।

११ अक्षरों वाले पाद में चतुर्थ या पञ्चम अक्षर के बाद यति होती है। इसकी सामान्य व्यवस्था निम्न है—

o o o o || o o o — ⏑ — ⏓

अथवा o o o o o || o o — ⏑ — ⏓

ऐसे चार पादों से त्रिष्टुप् छन्द बनता है।

१२ अक्षरों के पाद में ११ अक्षरों के पाद से केवल यही अन्तर है कि इसमें एक अक्षर अधिक है; अन्यथा और बातों में बिल्कुल एक जैसे हैं। इस पाद की सामान्य व्यवस्था निम्न है—

o o o o || o o o — ⏑ — ⏑ ⏓

अथवा o o o o o || o o — ⏑ — ⏑ ⏓

१२ अक्षरों के ऐसे चार पादों से जगती छन्द बनता है।

पांच अक्षरों के चार या आठ पादों से द्विपदा विराट् नाम का छन्द बनता है। इसकी सामान्य व्यवस्था निम्न है—

⏓ — ⏑ — ⏓

विभिन्न प्रकारों के पादों के मिश्रणों से अन्य छन्द भी बनते हैं जैसे कि उष्णिक् और बृहती। इनके पाद में ८ या १२ अक्षर होते हैं।

प्राचीन भारतीय छन्दों में अक्षरों की संख्या[1] का कितना महत्त्व है यह ब्राह्मणों और उपनिषदों से पता चलता है जहां पुनः पुनः छन्दों में अक्षरों की संख्या के आधार पर रहस्यमयी उद्भावनाएं की गई हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा गया है— "भूमि, अन्तरिक्ष तथा द्यु में मिला कर आठ अक्षर हैं। इसलिए जो गायत्री को जानता है, वह तीनों लोकों को प्राप्त कर लेता है।" यह तर्क बड़ा विचित्र-सा प्रतीत

---

१. देखिए वेबर, *Ind. Stud.* 8, 178f.

होता है।"[1] कर्मकाण्ड की गुप्त विद्या में छन्दों का अत्यन्त महत्त्व माना गया है। वहां छन्दों को दिव्य माना गया है, देवता रूप में उन्हें यज्ञों में हवि दी जाती है।[2] छन्दों के साथ अनेक पौराणिक गाथाएं संबद्ध हैं, विशेष रूप से गायत्री के साथ; गायत्री द्युलोक से सोम को लाती है। यह भी कहा गया है कि अन्य सत्त्वों की भांति प्रजापति ने छन्दों को भी उत्पन्न किया।[3] इस सबसे यह सिद्ध होता है कि ये छन्द अत्यन्त प्राचीन काल के हैं तथा परम्परा यह है कि वे अज्ञात काल से चले आ रहे हैं। इस प्रकार छन्दों का काल भी सूक्तों की प्राचीनता का प्रमाण है।[4]

ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दशाओं पर दृष्टिपात करने से भी यह सिद्ध होता है कि यह अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। सूक्तों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भारतीय-आर्य सिन्धु नदी के प्रदेश में ही—आधुनिक पंजाब में ही—अवस्थित थे।[5] आर्य पश्चिम से, हिन्दुकुश के दर्रों को पार करते हुए 'पांच नदियों के प्रदेश' में प्रविष्ट हुए। ऋग्वेद के गीतों में उन युद्धों की चर्चा है जो आर्यों[6] को दस्युओं के साथ करने पड़े। भारत के मूल निवासियों को वे दस्यु या 'कृष्ण वर्ण' कहते थे। दस्युओं के विषय में ऋग्वेद में कहा है कि वे देवों, नियमों तथा यज्ञों से अनभिज्ञ हैं। इन आर्येतरों—दस्युओं या दासों से निरन्तर युद्ध करते हुए धीरे-धीरे आर्य गङ्गा के पूर्ववर्ती प्रदेश की ओर बढ़े। परवर्ती काल के भारत की कल्पना गङ्गा के बिना नहीं की जा सकती। तब से आज तक भारतीयों के काव्य और धर्म में गङ्गा का बहुत महत्त्व है; परन्तु ऋग्वेद में इसकी चर्चा नाममात्र है।

---

१. बृहदारण्यक-उपनिषद् ५.१५। 'द्यु' का उच्चारण 'दिउ' किया जाएगा।

२. वसिष्ठ-धर्मसूत्र, १३.३ तथा अन्यत्र।

३. उदाहरणार्थ देखिए शतपथ ब्राह्मण, ८.१.१.२। कर्मकाण्ड के प्रतीकवाद तथा रहस्य-विद्या में छन्दों का कितना महत्त्व है। यह कर्मकाण्डीय संहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में आए सैंकड़ों सन्दर्भों से स्पष्ट है। देखिए वेबर *Ind. Stud.* 8, pp. 8ff, 28ff.

४. देखिए E.V. Arnold, *Vedic Metre*, Cambridge, 1905, तथा A.B. Keith and Arnold JRAS., 1906, 484 ff., on the metre of the Ṛg-veda, as a criterion of its age.

५. ई० डब्ल्यू० हॉपकिन्स (The Punjab and the *Ṛgveda*, JAOS., 19, 1938, 19-28) की सम्मति है कि ऋग्वेद की अधिकांश ऋचाओं की रचना अम्बाला के समीपवर्ती प्रदेश—सरस्वती और घग्गर (दृषद्वती) नदी के मध्यवर्ती प्रदेश—में हुई। ऋग्वेद के 'नदी-स्तुति' सूक्त में पंजाब की नदियां वर्णित हैं, RV. X.75, cf. A. Stein, JRAS., 1917, 91ff., मैं हर्टेल के इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि 'ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग ईरान में लिखे गए, भारत में नहीं (Indo-German. Forschungen, 41, 1923, p. 188).

६. संस्कृत 'आर्य'=अवेस्तिक ऐर्य (Airya)=प्राचीन पर्शियन 'अरिय' (ariya), 'विश्वास पात्र', 'एक ही जाति के जन'। हेरोडोटस (vii, 62) का कथन है कि मीडिया-निवासी (Medes) अपने को एप्टॉट (*Aptot*) कहते थे। इस प्रकार 'आर्य' भारतीयों तथा ईरानियों, दोनों के लिए समान रूप से व्यवहृत होता है। वेद और अवस्ता (प्राचीन ईरानियन) की भाषाओं के पारस्परिक अन्तरंग सम्बन्ध के विषय में पहले कह आए हैं।

हीन (Heine) ने गङ्गा पर गीत लिखा है—

गङ्गा-तट पर मधुर सुरभियां, दीप-पंक्तियां झिलमिल-झिलमिल
प्रांशु विशालवृक्षावलियां हैं खड़ी हुई गौरव से बोझिल।
औ' पद्म-प्रसूनों के पास बैठ घुटनों के बल कुछ झुक करके
कितनी मंजु मौन आकृतियां देख रहीं, लोचन हैं स्वप्निल॥

हीन (Heine) का यह गीत कालिदास तथा उसके परवर्ती भारत की जनता और दृश्यों का सजीव वर्णन करता है। परन्तु ऋग्वेद में यह वातावरण अदृष्ट व अश्रुत है। प्रसून परवर्ती भारतीय काव्य का हृदय है, परन्तु वैदिक कवियों ने इसकी उपमान के रूप में चर्चा नहीं की है। कुल मिला कर ऋग्वेद में वर्णित पशु और वनस्पति जगत् परवर्ती भारत से भिन्न है। ऋग्वेद में न्यग्रोध वृक्ष की चर्चा ही नहीं है। आज के भारत के सर्वाधिक भयङ्कर शिकारी पशु चीते की भी ऋग्वेद के सूक्तों में चर्चा नहीं है। यह पशु बंगाल का है; उस समय तक आर्य बंगाल नहीं पहुँचे थे। भारत में परवर्ती काल में चावल लोगों का मुख्य भोजन है, ऋग्वेद में इसका कहीं भी वर्णन नहीं है। ऋग्वेद में सिर्फ जौ (यव) का वर्णन है। जब ऋग्वेद के सूक्त लिखे जा रहे थे, तब आर्यों में कृषि का अल्प ही प्रचलन था, आय का मुख्य स्रोत पशुपालन था तथा मुख्य पशु बैल (वृषभ) था। अश्व का भी बहुत महत्त्व था; युद्धों में वह ही मुख्य सहायक था, तथा रथ का वाहक था। रथ-धावन-प्रतियोगिताएं होती थीं। कितने ही गीतों और स्तुतियों में गौओं, वृषभों और अश्वों के लिए पुनः पुनः प्रार्थना की गई है। मूल-निवासियों में भी परस्पर गौओं और वृषभों को अधिगत करने के लिए लड़ाइयां होती रहती थीं। इसलिए युद्ध के लिए एक प्राचीन शब्द है 'गविष्टि'। अत्यन्त अलङ्कृत काव्यमय अभिव्यक्तियों में गौओं और वृषभों की प्राप्ति की कामना की गई है।[१] अपने वत्सों के प्रति द्रुतगति से उन्मुख गौओं का रम्भा-रव प्राचीन भारतीयों के लिए मधुर संगीत था। एक वैदिक कवि कहता है कि स्तोता इन्द्र को ऐसे पुकार रहे हैं जैसे कि माता गौ अपने वत्स को देखकर रँभाती है।" अनेकत्र वृषभ और गौएं देव और देवियों के उपमान के रूप में प्रयुक्त हैं। गौओं का दुग्ध उनका मुख्य भोजन तो था ही, परन्तु दुग्ध और घृत यज्ञ के लिए भी अत्यावश्यक थे। गौ के स्तनों से निकले धारोष्ण दुग्ध के पान का रिवाज था। वैदिक कवि कहते हैं कि कैसा चमत्कार है कि गौ के अन्दर से गर्मागर्म दूध निकलता है। जैसा कि एक जर्मन शिशु-गीत में कहा गया है—

मुझको बतलाओ, होता है
कैसे यह यहां चमत्कार

१. अफ़्रीका के दिनकों और काफिरों में आज भी यह स्थिति है।

लाल रंग की धेनु, किन्तु है
हिम-सी धवल दूध की धार

ऐसे ही वैदिक गायक इन्द्र के इस अद्भुत चमत्कार पर चकित है कि उसने लाल या काली गौओं में शुभ्र धवल दूध उत्पन्न कर दिया है। तथापि, गौओं और वृषभों को इतना आदर की दृष्टि से देखा जाना, उनके, विशेष रूप से वृषभों के, यज्ञों में बलि देने में तथा उन्हें मार कर खाने में बाधक नहीं था। गौओं को कभी भी मारा न जाए, ऐसा निषेध-नियम प्राचीनतम काल में नहीं था। परन्तु गौ का एक पर्याय-वाची शब्द अघ्न्या (न मारने योग्य) वेद में मिलता है, इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि गौओं को अपवाद रूप परिस्थितियों में ही मारा जाता था।[1] वृषभ के चर्म का भी उपयोग किया जाता था। इस चर्म की बोतलें, धनुष की डोरी तथा तांत बनाई जाती थी। वैदिक काल में अनेक प्रकार के उद्योग विकसित हो चुके थे। इनमें भी बढ़ई का स्थान प्रमुख था, वह मंजूषा भी बनाता था और रथ भी। धातु-शिल्पी भी थे जो एक पक्षी के पंखों को धौंकनी के रूप में काम में लाते थे। जलपोत-यात्रा अभी प्रारम्भ-काल में थी। चप्पुओं वाली नौका नदियों में चलती थी जो कि पेड़ के तने को खोखला करके बनाई जाती थी। वैदिक भारतीय समुद्र से तो अभिज्ञ थे, परन्तु इसमें बहुत सन्देह है[2] कि काफी समुद्री व्यापार होता था। परन्तु यह निश्चित है कि व्यापारी थे और व्यापार-कार्य बड़े पैमाने पर होते थे। मुद्रा के रूप वृषभ और स्वर्णाभूषण थे। वृषभों और अश्वों के अतिरिक्त वैदिक कवि देवताओं से स्वर्ण के लिए बहुत प्रार्थना करते थे; धनी यजमानों से वे दान के रूप में इसकी आशा करते थे।

वेदों में पशु-पालन, कृषि, व्यापारों और उद्योगों, युद्ध के वीर-कार्यों तथा यज्ञों का तो प्रभूत वर्णन है, परन्तु सूक्तों में भी उस जातपांत की चर्चा नहीं है जो परवर्ती काल में विकसित हुई, जिसने भारतीयों के संपूर्ण सामाजिक जीवन को ग्रस्त कर लिया और आज भी जो भारत का अभिशाप है। केवल एक सूक्त में चार वर्णों —ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—की चर्चा है। योद्धा और पुरोहित तो थे, परन्तु शुद्ध रूप से क्षत्रिय जाति का वर्णन कहीं नहीं है, न ही कृषक, पशुव्यापारी, व्यापारी, कारीगर या मजदूर आदि का निम्न जाति के रूप में वेदों में वर्णन है। हां राजा के यहां पुरोहित होता था जो उसके लिए यज्ञ करता था, यह परम्परा बाद में भी चलती रही। परन्तु वैदिक काल तथा वेदोत्तर काल में भी स्पष्ट वर्णन हैं कि जहां गृहपति बिना पुरोहित की सहायता से यज्ञ करता है। यज्ञ में पत्नी भी

१. देखिए ए० ए० मैकडोनल तथा ए० बी० कीथ—*Vedic Index of Names and Subjects*, London, 1912, 11, 145ff.

२. वेदों में गौ, वृषभ इत्यादि को उपमान बनाकर बहुत अलंकार हैं, परन्तु जलपोत-यात्रा से मुश्किल से ही कोई उपमान लिया गया है। होमर से तुलना कीजिए; जलपोत-यात्रा से संबद्ध उपमान भरे पड़े हैं।

भाग लेती थी; वास्तविकता तो यह है कि यह धार्मिक नियम था कि पति-पत्नी दोनों मिल कर यज्ञ करें। पत्नियों के यज्ञ में भाग लेने से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वेद के प्राचीनतम काल में स्त्रियों की स्थिति इतनी निम्न नहीं थी जितनी परवर्ती काल में हो गई। परवर्ती धर्मशास्त्रों ने स्त्रियों के यज्ञ में भाग लेने पर तथा पवित्र ग्रन्थों के पढ़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। ऋग्वेद (८.३) में हम पढ़ते हैं कि पति-पत्नी (दम्पती) एक मन वाले होकर सोम का अभिषव करते हैं, उसे छानते हैं और उसमें दूध मिलाते हैं और देवताओं की स्तुति करते हैं। परन्तु मनु ने अपने धर्म शास्त्र (मनुस्मृति) में यह कहा है कि यदि स्त्री यज्ञ करे तो देवता अप्रसन्न हो जाते हैं (४.२०६) तथा जो स्त्री अग्निहोत्र करती है, नरक को जाती है (११.३७)। उपनिषदों में स्त्रियां दार्शनिक पर्यालोचनों में क्रियात्मक भाग लेती हैं और वेदों में तो वे सहभोजों, नृत्यों और अन्य उत्सवों में सार्वजनिक रूप से भाग लेती दिखाई देती हैं। वेदों में जब यह आता है कि उत्सव-समारोहों में सुन्दर स्त्रियां एकत्र होती हैं, तो इसका अनिवार्य रूप से कदापि यह मतलब नहीं है कि वे वेश्याएं थीं, जैसा कि कई विद्वान् सोचते हैं। तथापि, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद-काल में कुछ ऐसी स्त्रियां वेश्या बन जाती थीं जो असहाय व अरक्षित होती थीं, जिन्हें एक वैदिक कवि 'अभ्रातृका: कुमार्यः' कहता है परन्तु पिशल और गैल्डनर[1] ने यह मत प्रतिष्ठापित किया है कि वैदिक काल में 'बड़े पैमाने पर वेश्यावृत्ति' थी; जैसी कि बुद्ध के काल में वैशाली में थी या पैरिक्ल्स के काल में एथेन्स में थी; परन्तु वे अपने मत को सिद्ध करने में सफल नहीं हुए हैं, यद्यपि उन्होंने परिश्रम बहुत किया है।

परन्तु, प्राचीन भारत में नैतिक स्थिति के विषय में हमें अत्यन्त उच्च धारणा भी नहीं बनानी चाहिए और एक पूर्ण आदर्शवादी चित्र भी नहीं बना लेना चाहिए जैसा कि कभी-कभी मैक्समूलर ने किया है। ऋग्वेद के सूक्तों में अगम्यागमन (incest), सतीत्वहरण, पति-पत्नी में बेवफ़ाई, गर्भपात, धोखा, चोरी, डाका इत्यादि भी वर्णित हैं। परन्तु इस सबमें ऐसी कोई युक्ति नहीं है जिसका कि ऋग्वेद की पुरातनता से विरोध हो। आधुनिक नृवंशविज्ञान न तो यह मानता है कि आदिम लोग 'प्रकृति के विकारहीन शिशु' थे और न यही मानता है कि वे असभ्य जंगली या नर-भक्षक दैत्य थे। नृवंश विज्ञान-विशारद जानता है कि आदिम लोग, अर्धसभ्य लोग और आज की सभ्य जातियां—सब में सब कालों में सब प्रकार के लोग थे; सदा ही लोगों में अनन्त तारतम्य दिखाई देता है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि हम यह कल्पना करें कि ऋग्वेदकालीन लोग या तो भोले भाले गड़रिये थे, या असभ्य जंगलियों के गिरोह थे। इसके विपरीत न ही यह मानना चाहिए कि वे पूर्ण शुद्ध संस्कृति से संपन्न लोग थे। ऋग्वेद के मन्त्रों से जो संस्कृति का

१. *Vedische Studien*, 1, p. xxv.

चित्र उभरता है वह यह है कि आर्य भारतीय कर्मठ, आनन्दी तथा योद्धा लोग थे, उनकी आदतें सीधी-साधी थीं, परन्तु अंशतः जंगलीपन भी लिए हुए थीं। हीनरिच त्सिमर ने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक[1] में इसका युक्ति-युक्त प्रतिपादन किया है। वैदिक गायक देवताओं से शत्रु के विरुद्ध सहायता की, युद्ध में विजय की, यश और शत्रुओं से लूटे हुए प्रभूत धन की, समृद्धि की, प्रभूत स्वर्ण की, अमित गौओं, वृषभों के समूह की, खेतों में वृष्टि की, सन्तानों की और दीर्घायुष्य की प्रार्थना करते हैं। अभी तक हमें ऋग्वेद के सूक्तों में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिला जिससे कि आर्यों का चरित्र स्त्रैण, निवृत्तिवादी या निराशावादी सिद्ध हो, जो चरित्र भारतीयों का परवर्ती काल में बन गया और परवर्ती भारतीय साहित्य में जिसके पुनः पुनः दर्शन होते हैं।

वेदों के काल के विषय में विद्वानों में तीव्र मतभेद है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि 'वेद इतने प्राचीन हैं कि उनमें इतनी भारतीयता नहीं है जितना कि आर्य भारतयूरोपीय मानसिक जीवन चित्रित है। उनका विचार है कि सूक्तों का काल भारत-यूरोपीय 'प्रागैतिहासिक काल' के इतना समीप है कि उनमें 'आर्यों का वर्णन' है, वास्तविक भारतीयों का नहीं। इसके विपरीत अन्य विद्वान् यह कहते हैं कि ऋग्वेद पूर्णतया भारतीयों की कृति है। इसमें विशुद्ध रूप से भारतीय विचारधारा चित्रित है, अतः इसकी व्याख्या करते हुए उनके सिवाय अन्य कोई सिद्धान्त व नियम लागू नहीं किये जाने चाहिएँ, जो इतर भारतीय साहित्य की व्याख्या में किये जाते हैं।'[2]

यहां हमें यह महत्त्वपूर्ण तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि अभी तक ऋग्वेद की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनकी व्याख्या इतने निश्चित रूप से हो चुकी है जितनी कि अन्य किसी भारतीय साहित्य के ग्रन्थ की। परन्तु दूसरी ओर ऐसे सूक्तों, मन्त्रों तथा मन्त्र-खण्डों की संख्या भी बहुत बड़ी है जिनका ठीक अर्थ बहुत संदेहास्पद है। इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए। जब कोई भारतीय साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति ऋग्वेद के किसी अनुवाद को पढ़ता है तो उसे प्रायः आश्चर्य होता है कि इन सूक्तों में कितनी ही बातें कवित्वहीन, तथा वस्तुतः समझ में न आने वाली तथा निरर्थक हैं। परन्तु इसका कारण अधिकांशतः यही है कि अनुवादक इतने पर ही सन्तोष नहीं करते कि उतने भाग का ही अनुवाद कर दें जिसे वे समझ सकते हैं। उन्होंने यह फैसला कर रखा होता है कि 'प्रत्येक शब्द या वाक्य' का अनुवाद करेंगे, उसका भी जिसे अभी तक कोई भी भलीभांति नहीं समझ पाया है।

---

१. *Altindisches Liben*, Berlin, 1879.

२. देखिए Barth, *Oeuvres*, II, 237 ff.; H. Oldenberg *Vedaforschung*, *Stuttgart*, 1905; Winternitz, WZKM, 19, 1905, 419 ff.

परन्तु, इस बात के लिए हम भी पूर्णतया दोषी नहीं हैं कि हम अभी तक ऋग्वेद को पूरी तरह नहीं समझ पाए हैं तथा सारे ऋग्वेद के अनुवाद में ऐसा पर्याप्त भाग होगा जो कि अशुद्ध होगा। कारण यह है कि ये सूक्त अत्यन्त प्राचीन हैं और प्राचीन काल के भारतीयों के लिए भी ये दुर्बोध हो चुके थे। पर्याप्त काल पूर्व भारतीय विद्वानों ने ऋग्वेद की व्याख्या का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। कई निघण्टु (वैदिक शब्द कोश) बनाए गये थे जिनमें कठिन और अस्पष्टार्थ शब्दों का संग्रह किया गया था। जिन व्याख्याकारों के ग्रन्थ हमें मिलते हैं, उनमें प्राचीनतम यास्क है, जिसने अपने ग्रन्थ 'निरुक्त' में निघण्टुकोशों के आधार पर कई मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की है। यास्क निर्विवाद रूप से पाणिनि[1] का पूर्ववर्ती है। यास्क ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती १७ विद्वानों की सम्मतियां यत्रतत्र दी हैं जो कि प्रायः परस्पर विरोधी हैं। यास्क ने पूर्वपक्ष के रूप में कौत्स का मत उद्धृत किया है कि 'वेद-व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि मन्त्र अस्पष्ट, परस्पर विरोधी उक्तियों से पूर्ण एवं अनर्थक हैं।' यास्क ने इसका उत्तर दिया है कि यह स्थाणु का अपराध नहीं है कि इसे अंधा नहीं देख पाता (**नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति**)। यास्क स्वयं कठिन शब्दों की व्याख्या करता हुआ प्रायः निर्वचनों का आश्रय लेता है (जो कि प्रायः आधुनिक भाषा विज्ञान की कसौटी पर खरे नहीं उतरते) और प्रायः एक शब्द के दो या दो से अधिक निर्वचन प्रस्तुत करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यास्क के समय में भी कई शब्दों की व्याख्या अविच्छिन्न परम्परा के द्वारा स्थापित नहीं हुई थी। हमारे पास यास्क के पूर्ववर्ती विद्वानों की कोई कृति नहीं है। उसके बाद भी कई व्याख्याकार हुए, उनकी भी कोई कृति उपलब्ध नहीं है। फिर १४वीं श० में हमें ऋग्वेद का भाष्य मिलता है। यह है सायण-कृत प्रसिद्ध भाष्य। कुछ प्राचीन यूरोपीय विद्वानों ने अपनी व्याख्या को पूर्ण रूप ने सायण-भाष्य पर आधृत किया; वे यह मान कर चले हैं कि सायण के पास विश्वसनीय परम्परा थी। अंग्रेज विद्वान् एच० एच० विलसन ने संपूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है, जो कि अक्षरशः सायण-भाष्य पर आधृत है। दूसरी ओर अन्य विद्वान् हैं जो कि भाष्य करते हुए भारतीय भाष्य को कोई भी महत्त्व नहीं देते। वे कहते हैं कि ऋग्वेद के

१. निरुक्त की प्राचीनता इसकी भाषा से सिद्ध है, यह इतर वैदिकेतर साहित्य की अपेक्षा अधिक आर्ष है—एस० भण्डारकर, JBRAS, 16, 1885, 265. f. लक्ष्मणस्वरूप अपने निरुक्त के अनुवाद में यास्क का काल ७०० ई० पू० से ५०० ई० पू० के मध्य कहता है। उसने औरों के द्वारा स्वीकृत मत दे दिया है, कोई नई युक्ति नहीं दी। यास्क समग्र वैदिक संहिताओं, गोपथ ब्राह्मण सहित प्रमुख ब्राह्मण-ग्रन्थों, प्रातिशाख्यों तथा कुछ उपनिषदों से परिचित था, देखिए लक्ष्मणस्वरूप का निरुक्तानुवाद, आक्सफोर्ड, १९२० पृ० ५४ तथा पी० डी० गुणे, भण्डारकर स्मारक ग्रन्थ, पृ० ४३। यास्क वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानता था, परन्तु यास्क के समय ऐसे भी व्यक्ति थे जो इस पर संदेह करते थे, स्वरूप, निरुक्त, पृ० ७१। सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने निरुक्त के परिशिष्ट में यास्क का काल अत्यन्त प्राचीन (१९०० ई० पू० के लगभग !) सिद्ध किया है।

दो हजार वर्ष बाद सायण ने भाष्य किया। उसे हम यूरोपीय लोगों से अधिक ज्ञान क्या हो सकता है; हमारे पास तो आधुनिक भाषा विज्ञान की निधि भी है। इन विद्वानों में रुडोल्फ रॉथ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका एक शिष्य तथा अनुयायी एच० ग्रासमान था। उसने ऋग्वेद के समग्र सूक्तों का पद्यानुवाद प्रकाशित किया[1]। अब अधिकांश शोधकर्ता मध्यमार्ग का अनुसरण करते हैं। उनका यह मत है कि 'भारतीयों के भाष्य का अन्धानुकरण तो उचित नहीं है, परन्तु यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उनके पास अविच्छिन्न परम्परा का कुछ अंश तो था ही और हम पाश्चात्यों की अपेक्षा भारतीय वातावरण का परिचय उन्हें निर्विवाद रूप से अधिक था, अतः प्रायः वे ठीक अर्थ करते हैं।' इन पाश्चात्य भाष्यकारों में एल्फ्रेड लुडविग का नाम उल्लेखनीय है। उसने सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद, विद्वत्तापूर्ण भाष्य के साथ प्रस्तुत किया है।[2] उसने सायण-भाष्य का पूर्णतया उपयोग किया है तथा इसके साथ आधुनिक खोजों से भी लाभ उठाया है। लुडविग के कार्य को आर० पिशेल तथा के० एफ० गेल्डनर ने आगे वढ़ाया। उनके 'वेद-अध्ययन' (Vedische studien)[3] में कई अव्याख्यात वैदिक मन्त्रों को स्पष्ट किया गया है। इनका यह दृढ़ मत है, इसमें कोई अतिशयोक्ति भी नहीं है, कि ऋग्वेद पूर्णतः भारतीय मन की सृष्टि है और इसे समझने के लिए परवर्ती भारतीय साहित्य का मनन अत्यावश्यक है।

वेदों की व्याख्या की दृष्टि से एक अन्य प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय है— क्या ये वैदिक गीत दिव्य प्रेरणा-संवलित कवियों के हृदय से निकले नैसर्गिक उद्‌गार हैं, जिन्हें कि भारतीय पुरोहितों ने कर्मकाण्ड के लिए विनियुक्त कर लिया; अथवा ये उन पुरोहितों के द्वारा इसी उद्देश्य से निर्मित, योजनापूर्वक घड़े हुए गीत हैं।

आधुनिक भाष्यकारों के दो दल हैं; दोनों की सम्मति परस्पर विरोधी है। एक पक्ष के प्रतिनिधि रूप में कायगी (Kaegi) को रखा जा सकता है। वह अपने प्रशंसनीय ग्रन्थ 'ऋग्वेद—भारतीयों का प्राचीनतम साहित्य'[4] में कहता है—

---

१ लीपज़ाइग, १८७६ तथा १८७७. राथ-मत-अनुप्राणित निम्न ग्रन्थ ग्रासमान के अनुवाद से उत्कृष्टतर है—*Siebenzig Lieder des Ṛgveda Ubersetzt von Karl Geldner and Adolf Kaegi. Mit Beitragen von R. Roth, Tubingen*, 1875.

२. इसके अतिरिक्त ऋग्वेद या ऋग्वेद के उपभाग के अन्य अधोलिखित अनुवाद द्रष्टव्य हैं—ग्रिफिथ (अंग्रेजी), मैक्समूलर तथा ओल्डनबर्ग (अंग्रेजी), गेल्डनर (जर्मन), हिलब्रांड (जर्मन), मेकडानल (अंग्रेजी), ई. जे थॉमस (अंग्रेजी)।

३. इसी दिशा में निम्न लेखकों के ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं—ओल्डनबर्ग, गेल्डनर, एम. ब्लूमफील्ड, ई. डब्ल्यू फे तथा ए. बी. कीथ।

४. *Der Ṛgveda die alteste Litteratur der Inder* इसका अंग्रेजी अनुवाद—*The Ṛgveda, the oldest Literature of Indians* कुछ परिवर्तनों के साथ आर० एरोस्मिथ ने प्रस्तुत किया है।

"अत्यधिक बहुसंख्यक ऋग्वेद के मन्त्र भक्तों के हृदय से निकले हुए सहज उद्गार हैं, इनमें देवताओं की स्तुति है, उनके माहात्म्य का कीर्तन है। इन मन्त्रों में शाश्वत अमर देवताओं से प्रार्थना की गई है और उन्हें आमन्त्रित किया गया है कि वे उनकी पवित्र हृदय से दी गई भेंट को स्वीकार करने का अनुग्रह करें। गायक के हृदय में यह भावना काम कर रही है कि इस दिव्य भाव को मेरे हृदय में 'देवता' ने रखा है, यह दिव्यानुभूति उसी देवता के अनुग्रह से हो रही है, इसे मैं सुन्दर से सुन्दर अभिव्यक्ति दूं।" कायगी यह स्वीकार करता है कि ऋग्वेद संहिता में कुछ निम्न स्तर के मन्त्र भी संगृहीत हो गए हैं, परन्तु कुल मिला कर ऋग्वेद के मन्त्रों में "आदिमकाल के कवियों की सशक्त वाणी का सजीव उद्गार ध्वनित हो रहा है। यदि हम (ज़र्मन लोग) यह जानना चाहते हैं कि हमारी जाति के प्रथम विकास का स्वरूप क्या था, उस समय के हमारे पूर्वजों के धार्मिक व नैतिक विचार, क्रिया-कलाप आदि कैसे थे, तो यह स्वाभाविक है कि ऋग्वेदों के गीतों की ओर खिंचे जाएं। वे लोग शिशु सदृश सरल थे, उनकी अनुभूति पवित्र एवं मृदुल थी, उनकी भाषा सशक्त अलंकारों से युक्त थी, उनकी कल्पना की उड़ान असीम थी।" अब हम सुनें कि भारतीय साहित्य का विशेषज्ञ मेधावी एवं विवेचक एच० ओल्डन-बर्ग इस विषय में क्या कहता है। वह अपनी पुस्तक 'वेद का धर्म' (पृ० ३)[१] में लिखता है—'भारतीय साहित्य के इस प्राचीनतम ग्रन्थ में हमें उत्तरोत्तर बौद्धिक शक्तिहीनता के दर्शन होते हैं। वैदिक आर्यों के पूजा मन्दिर नहीं होते थे। वे खुले मैदान में घास बिछाकर यज्ञाग्नि प्रज्वलित करते थे और वे जंगली पुरोहित अपने जगली देवताओं का आह्वान करते थे। वेदों में वर्णन है कि वे देवता अपने रथों पर बैठकर आकाश मार्ग से आते थे और यज्ञ में पुरोडाश, घी और मांस का भक्षण करते थे और मादक सोमरस पीकर साहस और दिव्यशक्ति प्राप्त करते थे। ऋग्वेद के कवि प्राचीनकाल परम्परा का अनुकरण करते हुए महान् धूमधड़ाके वाले सोम-याग के लिए मन्त्र रचना करते थे। वे देवताओं के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण लच्छेदार विशेषण पर विशेषण दिए जाते थे। ऐसी कविता कर्मकाण्ड में दक्ष पुरोहित वर्ग में ही जन्म ले सकती है।"

मेरी सम्मति में ये दोनों ही सम्मतियां अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। ऋग्वेद की व्याख्या के विषय में विवादास्पद प्रश्नों का उत्तर मध्य मार्ग का अनुसरण करने से मिलेगा। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेद संहिता में पूर्वकाल के और अपेक्षतया परवर्ती कालों के सूक्त संगृहीत हैं। स्वभावतः उन सूक्तों के मूल, विषय तथा महत्त्व में भी अन्तर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूक्तों की बहुसंख्या ऐसी है जिनका कर्मकाण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं है और उनमें आदिम धार्मिक काव्य के

---

१. *Religion des Veda*, Berlin.

नैसर्गिक उद्गार हैं ।[1] यदि इन काव्य-मन्त्रों से युक्त अनेक सूक्त परवर्ती काल में यज्ञीय कर्मकाण्ड के लिए प्रयुक्त किए गए, इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि वे इस प्रयोजन से लिखे गए थे । दूसरी ओर यह भी निश्चित है कि कुछ सूक्त लिखे ही यज्ञीय कर्मकाण्ड के लिए गए थे, जिन्हें पुरोहितों ने परवर्ती काल में अपनी दक्षता से व्यवस्थित कर लिया । डब्ल्यू० डी० ह्विटनी[2] का यह कहना भी अतिरंजना-पूर्ण है कि 'वेद इतना भारतीय लेखन प्रतीत नहीं होता जितना कि भारत-यूरोपीय । परन्तु पिशेल तथा गेल्डनर (विलसन के साथ) की यह सम्मति भी अतिरंजनापूर्ण ही है कि 'ऋग्वेद के समय भारतीय जन जिस सस्कृति के उत्कर्ष पर पहुँच गए थे वह उस संस्कृति से कुछ विशेष भिन्न नहीं है, जो भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय थी ।[3]

ऋग्वेद तथा अन्य भारतीय साहित्य के बीच खाई तो अवश्य है, पर इतनी बड़ी नहीं है जितनी कि कुछ प्राचीन शोधकर्ताओं ने कल्पित की है ।[4] दोनों साहित्यों का अन्तर भाषा, संस्कृति तथा धर्म आदि के अन्तर से स्पष्ट है । ऋग्वेद का कविता की दृष्टि से कोई भी मूल्य निर्धारित किया जाए; इतना तो निश्चित है कि भारतीय धर्म के विकास की प्रारम्भिक दशा को, भारत-यूरोपीय लोगों के, वस्तुतः समग्र मानव-जाति के पुराण-शास्त्र को जानने के लिए ऋग्वेद के सूक्तों से अधिक मूल्य-वान् सामग्री विश्व में नहीं है ।

यदि कुछ शब्दों में कहें तो ऋग्वेद की ऋचाएं हमारे लिए इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि इनमें अभी पुराण शास्त्र (देवता विज्ञान) बनने की प्रक्रिया में है ।[5] हम इनमें देवताओं को इस रूप में देखते हैं, मानो वे हमारे लोचनों के सम्मुख संचरण कर रहे हैं । अनेक सूक्तों में हमें यह दृष्टिगोचर होता है कि ये न तो किसी सूर्य देव को संबोधित किए गए हैं, न ही किसी चन्द्र देव को, न

---

१. परन्तु हमें प्रशंसा करते हुए आलोचक दृष्टि का त्याग नहीं कर देना चाहिए जैसा कि एच. ब्रनहोफर ने अपने निबन्ध 'भारतीय गीत की भावना' (*Ueber den Geist der indischen Lyrik*) में किया । वह ऋग्वेद के एक परवर्ती सूक्त के कवि के विषय में कहता है—'वह आदिम काल के कुहरे में सर्व शिरोमणि कवि-सम्राट् है । तथा वह कहता है—'वेद बुलबुल का प्रभात-गीत है; मानवता की चेतना में महत्ता को उद्बुद्ध करता है ।' वेद के विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह ऐसा नहीं है ।

२. *Language and its Study*, London, १८७६, २२७ ।

३. *Vedische Studien*, I. pp. xxii, xxvi.

४. हिलब्रांड की *Vedische Mythologie* ११. ८. भी द्रष्टव्य है ।

५. एल द ला वाले पूसँ (*Le Vedisme*, pp. ६१, ff. ६८) इस दृष्टिकोण का विरोध करता है और ए. बी. कीथ उससे सहमत है । परन्तु मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि पुराण शास्त्र सर्वप्रथम ऋग्वेद-संहिता काल में अभ्युदित हुआ । इस पुराणशास्त्र का प्रारम्भ संहिता के निर्माण से पूर्वतर काल में हुआ ।

ही किसी अग्नि देव को, न ही किसी द्युदेव को, न ही किन्ही मरुदेवों, न ही किसी अग्नि देव को, न ही किसी जल देवी को, न ही किसी उषा देवी को और न ही किसी पृथ्वी देवी को, अपितु साक्षात् देदीप्यमान सूर्य को, रात्रि के आकाश में जगमगाते चन्द्र को, घर के चूल्हे में, यज्ञ वेदि में या मेघमाला से द्रुतगति से निष्क्रमण करती हुई विद्युत् के रूप में भी अग्नि को, दिन के शुभ्र आकाश को या रात्रि तारक मण्डित आकाश को, गर्जन करते हुए तूफानों को, मेघों तथा नदियों में बहते हुए जलों को, चमकती हुई उषा को या विस्तीर्ण शस्यश्यामला पृथ्वी को पुकारा गया है; इन सब में प्रकृति के दृश्यों की महिमा का गान किया गया है, अर्चना की गई है। ऋग्वेद की ऋचाओं में इन दृश्यों ने धीरे-धीरे देवों और देवियों का रूप लिया है यथा सूर्य, सोम (चन्द्र), अग्नि, द्यौ, मरुतः, वायु, आपः (जल), उषस्, तथा पृथिवी—ये नाम अब भी यह द्योतित करते हैं कि उनका वास्तविक स्वरूप क्या था। इस प्रकार ऋग्वेद के गीतों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि पुराण शास्त्र के प्रमुखतम देव विशिष्ट प्राकृतिक शक्तियों के चेतनत्वारोपण (व्यक्तीकरण) हैं। कुछ ऐसे देव भी हैं जिनका वास्तविक स्वरूप तिरोहित हो गया है और जिन्हें अधिकतर शक्तिशाली, उदात्त, विशिष्ट, चमत्कारी शक्तियों से संपन्न के रूप में स्तुत किया गया है, जैसे इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, पूषन्, अश्विनौ, रुद्र तथा पर्जन्य। परन्तु इनके नामों से भी स्पष्ट है कि ये मूलतः प्राकृतिक शक्तियां ही थीं। इनके अनेक विशेषण स्वतन्त्र रूप से देव बन गए हैं, पहले ये विशेषण इनके किसी युग विशेष के विशिष्ट वर्णनमात्र थे—जैसे—सविता='प्रेरक' जीवनदाता तथा विवस्वत्=देदीप्यमान पहले सूर्य के विशेषण थे, फिर पर्यायवाची हो गए और फिर स्वतन्त्र पृथक् देव के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। इसके अतिरिक्त विभिन्न जातियों और कालों के देवों ने भी वैदिक भारतीयों के बहुदेववाद में स्थान पा लिया है।[1] इसी कारण, हम देखते हैं कि मित्र, विष्णु और पूषन् ऋग्वेद में सूर्यदेव के रूप में वर्णित हैं। पूषन् संभवतः किसी छोटी सी गड़रिया जाति का सूर्य देव था, इससे पूर्व कि पूषन् वैदिक देव समाज में 'मार्गों के देव', 'पथिकों के रक्षक', 'सब मार्गों के जानने वाले देव' तथा 'भटके हुए गृहपशुओं को वापिस लाने वाले देव' के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, यह संभवतः किसी छोटी गड़रिया-जाति का सूर्यदेव था। मित्र और अवेस्ता का मिथ्र अभिन्न हैं। यह प्राचीन आर्यों का सूर्यदेव था जबकि भारतीय और ईरानी एक जाति के रूप में थे। यह सरल नहीं है कि सब देवों की मूल प्राकृतिक शक्ति को हम बता ही सकें। आज भी इन्द्र, वरुण, रुद्र, अदिति तथा अश्विनौ प्रभृति के मूल प्राकृतिक रूप के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। इस प्रकार किसी की सम्मति में इन्द्र तूफान का देवता है तो दूसरे की सम्मति में प्राचीन सूर्यदेव; वरुण को कुछ

१. देखिए हिलब्रांड : *Vedische Mythologie* II., 14 ff.

विद्वान् द्युलोक का देव कहते हैं तो कुछ चन्द्र देव। रुद्र के विषय में प्राय: यह मत है कि वह तूफानों का देव है क्योंकि इसे मरुतों का पिता कहा गया है, परन्तु ओल्डनबर्ग की सम्मति में वह पर्वत और जंगल का देवता है और हिलब्रांड इसे उष्ण-जलवायु वाले प्रदेशों का भयंकर देवता मानता है।[१] किसी की सम्मति में अदिति आकाश का विस्तार है और किसी की सम्मति में 'अनन्त विस्तीर्ण पृथ्वी।' 'अश्विनौ' निर्विवाद रूप से ग्रीक दिओस्कुरी (Dioskuri) से संबद्ध है। जर्मन तथा लैटिक (Lettic) पुराण शास्त्र में भी इनका प्रतिरूप है; परन्तु यास्क से पूर्वकाल में भी ये भारतीय भाष्यकारों के लिए एक पहेली थे, कुछ प्रचलित थे। द्युलोक तथा पृथ्वीलोक (द्यावापृथिव्यौ) 'दिन और रात', 'प्रभातकालीन तथा सायंकालीन संध्याएं', 'सूर्य और चन्द्र', 'प्रभात का तारा तथा संध्या का तारा', और मिथुन नक्षत्र।[२] सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि अधिकांश देवशास्त्र के विद्वान् इस तथ्य से सहमत हैं कि वैदिक देवों का मूल प्राकृतिक दृश्य हैं।[३] कुछ देवता ऐसे भी हैं जो भावों का मूर्तीकरण हैं, परन्तु उनमें से लगभग सभी दशम मण्डल में हैं—यथा विश्वकर्मन्, प्रजापति, श्रद्धा, मन्यु (क्रोध) इत्यादि। कुछ तथाकथित गौण देव भी है, पर वे ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं जैसे ऋभवः (ऋभु), जो प्रेत या पिशाच के सदृश हैं; अप्सराएं, गन्धर्व जो जंगल या खेतों में घूमने वाली प्रेतात्माएँ हैं। सूक्तों में अनेक दैत्यों और बुरी प्रेतात्माओं का भी वर्णन है। ये देवताओं के शत्रु हैं। 'असुर' शब्द परवर्ती साहित्य में देवताओं के शत्रु दैत्य के रूप में है, ऋग्वेद में अभी दूसरा पुराना अर्थ—'चामत्कारिक शक्ति से युक्त या देव' है।[४] अत्यल्प स्थानों पर इसका अर्थ दैत्य है। अवेस्ता में यही 'असुर' 'अहुर' नाम से है और अच्छे अर्थों में प्रयुक्त है। ऋग्वेद में दास या दस्यु भारत के मूलवासियों के लिए भी प्रयुक्त है, परन्तु अधिकतर इसका अर्थ दैत्य है। रक्षस् और राक्षस ऋग्वेद तथा परवर्ती साहित्य में हर दुष्ट व समाज-अहितकारी के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'पितरः' पुरखों के लिए प्रयुक्त है, ऋग्वेद में ये देवों के समान पूजित हैं। पितरों का राजा यम है, जो

---

१. ई. अर्बमैन रुद्र को भारत के आदिवासियों का देवता मानता है—'शिव' का पुरातन रूप—देखिए उसका शोध-निबन्ध—'*Rudra Untersuchungen Zum altindischen Glauben und Kultus*, Uppasala, १९२२.

२. वैदिक पुराणशास्त्र (देवशास्त्र) का विषय विवादास्पद है इति नैश्चित्य से कुछ नहीं कहा जा सकता। जिज्ञासु पाठकों को निम्न ग्रन्थों से विशेष सहायता मिल सकती है: *Vedic Mythology* (A. A. Macdonell), *Religion des Veda* (Oldenberg), *Vedische Mythologie* (Hillebrandt) तथा *La religion vedique d'apre's les hymnes du Ṛgveda* (Abel Bergaigne)।

३. स्टैन कोनो अपने ग्रन्थ *The Aryan Gods of the Mitani people* में इस मत का विरोध करता है। मैं उसकी युक्तियों से सहमत नहीं हूं।

४. देखिए ओल्डनबर्ग: Religion des Veda, p. 162 ff.; V. K. Rajwade, proc. 10c, II, pp. 1 ff.

उच्चतम स्वर्ग में निवास करता है। यम भारत-ईरानी प्रागैतिहासिककाल की देन है, अवेस्ता में इसका नाम यिम (yima) है। इसे ऋग्वेद में प्रथम मनुष्य, मानव जाति का आदि पुरुष कहा गया है। सबसे प्रथम मरने के कारण वह मृतों के लोक का राजा भी कहा गया है। संभवतः मूलतः यम प्रतिदिन अस्त होने वाले सूर्य या प्रति मास मरने वाले चन्द्र का प्रतीक था। मृतों का राज्य (प्रदेश) स्वर्ग में है; मरते हुए व्यक्ति को यह सन्तोष होता था कि मृत्यु के बाद वह उच्चतम स्वर्ग में राजा यम के साथ रहेगा। आवागमन या शाश्वत पुनर्जन्म के दुःखद विश्वास का ऋग्वेद में चिह्न भी नहीं है। इस विश्वास ने परवर्ती शताब्दियों में भारत की संपूर्ण दार्शनिक विचारधारा को ग्रस्त कर रखा है। इस प्रकार इस विषय में भी हमें यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेद की जीवन-दर्शन विचारधारा परवर्ती शताब्दियों के साहित्य की विचारधारा से नितान्त भिन्न है।

ऋग्वेद के गीतों की धार्मिक दृष्टि परवर्ती काल की दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों में भिन्न है। इससे सिद्ध होता है कि इन ऋग्वेद के गीतों में वस्तुतः प्राचीन भारतीय आर्यों के सर्वसामान्य विश्वासों का प्रतिफलन है। यद्यपि यह सच है कि ऋग्वेद के गीतों को वस्तुतः सर्वसामान्य की कविता नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनके अधिकांश भाग का उद्भव कुछ कवि-परिवारों तथा सीमित पुरोहितों के वर्ग में हुआ; परन्तु इससे इस परिणाम पर कदाचित् नहीं पहुंचना चाहिए कि इन पुरोहितों और कवियों ने सर्वसामान्य के विश्वासों व विचारधारा से बिल्कुल अलग-अलग होकर इन गीतों को लिखा। निर्विवाद, ऐसी भी कुछ बातें हैं जो देवों के विषय में कही गई हैं और वे 'कवि-विशेषों' की क्षणिक कल्पनाएं हैं, परन्तु कुल मिला कर, यह तो हमें सर्वथा स्वीकार कर लेना चाहिए कि इन पुरोहितों और कवियों का आधार सर्वसामान्य में प्रचलित धर्म व विचारधारा ही थी, कि वे जैसा कि हिलब्रांड ने बिल्कुल ठीक ही कहा है, सर्वसामान्य से ऊपर तो स्थित थे, परन्तु बाहर नहीं।[1]

इस प्रकार, ये गीत आर्यभारतीयों के प्राचीनतम धार्मिक विश्वास की जानकारी देने की दृष्टि से हमारे लिए अत्यधिक महत्त्व के हैं। काव्यकला की दृष्टि से भी इनका विश्व-साहित्य में प्रमुख स्थान है। यह सच है कि इन सूक्तों के कवि हिब्रू लोगों की कविता की ऊंची उड़ानों तथा गंभीर जोश तक कभी-कभी ही पहुंचते हैं। ओल्डटेस्टामेंट में स्तोत्रकार डेविड जेहोवा के प्रति जो भाव रखता है वह चट्टान के समान दृढ़ है, वह उसे संभ्रम से देखता है। वैदिक कवि का विश्वास और प्रकार का है, वह जिस देवता के प्रति सूक्त में सम्मान प्रदर्शित करता है, वह उसके साथ अधिक परिचय और मिश्रता के सम्बन्ध में स्थित है। प्राचीन भारत के पुरोहित

१. देखिए ओल्डनबर्ग; *Aus Indien und Iran*, p. 19; *Religion des Veda*, p. 13; Hillebrandt, *Vedische Myhologie*, II.4.

कवियों की प्रार्थनाएं हिब्रू लोगों की भांति अन्तरतम से नहीं निकलतीं । वे जब किसी देवता की प्रशंसा के गीत गाते हैं तो यह आशा करते हैं कि इसके बदले में वह उन्हें गौओं के रूप में सम्पदा और वीर पुत्र देगा और वे देवता को यह कहने में डरते भी नहीं । वे आदान-प्रदान के सिद्धान्त को मानते हैं । उदाहरणार्थ एक वैदिक कवि देव इन्द्र को कहता है (ऋ० ८. १४. १, २)—

जैसा तू है, यदि वैसा मैं
वसु-अधिपति अद्वितीय होता।
कर मन भर वस्तु प्राप्त, गो-सखा
होता मेरा प्रमुदित स्तोता ।।
महा शक्ति के पति, मैं तुझ-सा
होता गोपति, तो यह करता ।
निज स्तोता को सबल मनीषी
करता, वसु-निधि से घर भरता ।।

तथा एक दूसरा कवि अग्नि को निम्न शब्दों में संबोधित करता है (ऋ० ८. १९. २५, २६)—

अग्नि, शक्ति के पुत्र, तेज है तेरा मित्र समान ।
मैं तुझको तन-मन-धन से हूं देता हवि का दान ।।
यदि तू होता मर्त्य और मैं होता अग्नि, अमर्त्य ।
वसो तुझे अभिशाप पाप से यहां बचाता नित्य ।।
जैसे मैं तव, अग्नि कभी तू होता मेरा स्तोता ।
तुझे उपेक्षा, दुर्गति, दुख का नहीं स्पर्श भी होता ।।

अब मैं उन सूक्तों की चर्चा करूंगा, जो विशुद्ध देवताओं की स्तुति में लिखे गए हैं, उनका कोई निश्चित कर्मकाण्डीय उद्देश्य नहीं है। उन सूक्तों का स्वरूप अन्यों से बिल्कुल विभिन्न है । वह स्वरूप देवताओं के अनुकूल हैं जिन्हें वे संबोधित हैं । यह निर्विवाद रूप से स्वीकृत है कि वरुण के प्रति लिखे गए गीत उदात्ततम है और सर्वाधिक दिव्यप्रेरणा से प्रेरित हैं। वैदिक देवों में वरुण का स्वरूप पृथक् है, वह मनुष्यों से अत्यन्त ऊंचे आसन पर आसीन है । कवि उसके सामने भयभीत हुआ, कांपते हुए अत्यन्त विनीत आदर की भावना के साथ जाता है । वैदिक देव-समूह में वरुण मनुष्यों की नैतिक गतिविधि से सबसे अधिक संबद्ध है और वह पापियों को दण्ड देता है । इसलिए कवि पश्चात्ताप करता हुआ उसके पास जाता है और अपने पापों के लिए क्षमा मांगता है । इस प्रकार ऋग्वेद में वरुण-सूक्त ही ऐसे हैं जिनकी कि ओल्ड टेस्टामेन्ट के भक्ति-गीतों से तुलना की जा सकती है । उदाहरण के लिए ऋग्वेद का निम्न सूक्त (५. ८५) द्रष्टव्य है—

श्रुत सम्राट् वरुण की स्तुति में प्रिय, गभीर गा गीत बृहत्
उसने किया प्रहार कि जैसे रिपु-हन्ता हो शस्त्रालंकृत
चर्म समान, सूर्य के संमुख इस पृथ्वी को करने प्रसृत
तरु शिखरों पर वायु, वाजियों में बल, गति के पंख लगाए
हृदय-हृदय में बुद्धि जगाए, जल-समूह में अग्नि[1] जलाए
सूर्य व्योम में, सोम अद्रि पर बैठा प्रेमी वरुण सजाए
औंधी करके मशक वरुण ने अमृत जल का स्रोत बहाया
पृथ्वी द्युलोक अन्तरिक्ष का कण कण नवरस से सरसाया
विश्व भुवन के राजा ने यव किए पुष्ट, भू को नहलाया
वरुण आर्द्र कर देता है यह विततभूमि-द्युलोक-कण कण
उसके मन में दुग्ध-प्राप्ति[2] की इच्छा का होता जबकि स्फुरण
पर्वत उनको पहना देते अभ्र-वसन[2] श्यामल नव उज्ज्वल
ढीला कर देते वीर[2] उन्हें, करते अपना शक्ति-प्रदर्शन
विश्रुत असुर वरुण की महती माया के गाऊं गीत अहा
अन्तरिक्ष में खड़ा हुआ है वह किसी काम में व्यस्त वहां
बना सूर्य को मान-दण्ड वह पृथ्वी को है माप रहा
कवितम देव वरुण की है यह शंसनीय अति महती माया
इससे बढ़ कर और न कोई; पार किसी ने यहां न पाया
भर भर जल कितनी ही नदियां एक समुद्र-मध्य गिरती हैं
सब मिल उसे नहीं भर पातीं, मैंने देववरुण-यश गाया
प्रेम-मित्रता-पूर्ण सखा, भ्राता, प्रतिवेशी या कि अपरिचित
सबके प्रति हो जाती है त्रुटि हमसे वरुण, यहां प्रतिदिन नित
दूर दोष कर यह, तू हमको इससे बचा, रहें हम रक्षित
जैसे कितव जुए में छलते, किया किसी से यदि हमने छल
जाने या अनजाने हमने किये पाप प्रतिदिन नित प्रतिपल
इन पापों को शिथिल निगड़-सम हम से दूर, वरुण, तू कर दे
हम तेरे प्रिय बनें, वरुण, तू दे अपनी बाहों का संबल ।

वरुण परवर्ती पुराण-शास्त्र जल का देवता है। वेदों में ही वह जल के देवता का स्वरूप प्राप्त कर चुका था; इसलिए वह पापियों को दण्ड देता है, विशेष रूप से जलोदर रोग के द्वारा। जलोदर-ग्रस्त एक कवि की प्रार्थना है (ऋ० ७. ८९)—

---

१. बादलों में बिजली।

२. अभ्र (बादल)=गौएं; दुग्ध=बादलों का जल; वीर=मरुत: (मानसून की हवाएं)।

—१—

हो, राजन् दिव्य वरुण विश्वेश
मृण्मय[1] गृह में मेरा न प्रवेश
महाशक्तिशालिन् सुख दे, रक्षा कर, रक्षा कर, सुख दे

—२—

वरुण महागर्जन यह तेरा उठता, अन्तरिक्ष में भरता
फूली हुई मशक के सम मैं हाय, लड़खड़ाता हूं चलता
महाशक्तिशालिन्, सुख दे, रक्षा कर, रक्षा कर, सुख दे

—३—

दीप्तिमान् महनीय वरुण, मैं शक्तिहीनता के कारण
करता त्रुटियां, मार्गभ्रष्ट हो भटक भटक जाता क्षण क्षण
महाशक्तिशालिन्, सुख दे, रक्षा कर, रक्षा कर, सुख दे

—४—

जल-राशि-मध्य यह तेरा भक्त उपासक खड़ा हुआ है
फिर भी प्यास लगी है इसको (यह भ्रम में पड़ा हुआ है)
महाशक्तिशालिन्, सुख दे, रक्षा कर, रक्षा कर, सुख दे

—५—

हम अपूर्ण मनुज, द्रोह हैं दिव्य जनों से करते रहते
औ' प्रमाद के कारण तेरे रोज-रोज नियम तोड़ते
महाशक्तिशालिन्, सुख दे, रक्षा कर, रक्षा कर, सुख दे

इन्द्र देव को संबोधित सूक्तों की भावना इससे पूर्णतः भिन्न है। इन्द्र को वैदिक भारतीयों का वास्तविक राष्ट्रीय देव कहा जा सकता है। ऋग्वेद के काल में भारतीय जन युद्ध तथा संघर्ष में रत थे, इसलिए इन्द्र पूर्णतः युद्धलीन देव है। उसकी अत्यधिक शक्ति तथा संघर्षरतता का पुनः पुनः वर्णन है तथा वैदिक कवि इन्द्र के दस्युओं से हुए युद्धों का रुचिपूर्वक वर्णन करता है। दस्युओं को इन्द्र वज्र से नष्ट करता है। विशेष रूप से इन्द्र-वृत्र-युद्धों का अनेक सूक्तों में वर्णन है। पुनः पुनः वृत्र पर इन्द्र की शानदार विजयों का चित्रण है। पुनः पुनः इन्द्र की प्रशंसा है कि उसने वज्र से वृत्र का वध किया। वृत्र (संभवतः 'निरोधक, आवरक') सर्पाकार कथित है जो पर्वतों में जलों को रोके रखता है। इन्द्र इन जलों को मुक्त करना चाहता है। सोमपान करके इन्द्र को उत्साह व जोश आता है और वह दैत्य (वृत्र) का वध कर डालता है तथा बन्धन से छूटे हुए जल द्रुतगति से वृत्र के शव पर

1. संभावित अर्थ कब्र अथवा शव-भस्म-कलश।

धारा रूप में बहते हैं। इन्द्र के इस महान् कार्य का ऋ. १.३२ में ब्योरेवार वर्णन है, जिसके प्रथम दो मन्त्र हैं—

आज करूंगा इन्द्र-वीर-कार्यों का मैं निज मति से प्रवचन।
जिन अग्र-गण्य कार्यों को वह वज्री करता रहता क्षण क्षण ।।
अहि का हनन, वारि का तर्दन (मेघ फटे, वारि-राशि निःसृत)।
हुईं प्रवाहित पर्वत-भेदन करके वाहिनियां गति-स्पन्दित ।।
उसने पर्वत के आश्रय में स्थित उस अहि का कर दिया हनन।
त्वष्टा ने उसके हित तक्षित किया वज्र निर्घोष-परायण ।।
जैसे वत्सों के प्रति उत्सुक गौएं द्रुतगति चलें रँभाती।
बहीं वारि की ये धाराएं, जो समुद्र में जा मिल जातीं ।।

वेद-मन्त्रों के वर्णनों से यह निःसन्देह सिद्ध होता है कि इन्द्र-वृत्र-युद्ध किसी विशिष्ट प्राकृतिक दृश्य का रूपकात्मक वर्णन है। जब इन्द्र वृत्र का वध करता है, तब द्युलोक तथा पृथ्वी लोक कांपने लगते हैं। इन्द्र वृत्र का वध केवल एक बार नहीं करता, पुनः पुनः करता है, और उससे यह प्रार्थना की जाती है कि भविष्य में भी सदा करता रहे, जिससे कि जल बन्धन से छूटें। प्राचीन वेद-व्याख्याकार भी यह कहते हैं कि यह तडिज्झंझा का देवता है, तथा बादल ही पर्वत हैं जिनमें जल निरुद्ध है, इन बादलों में अवृष्टि का दैत्य वृत्र जलों को रोके रखता है। अधिकांश यूरोपीय देवशास्त्री इस सम्मति से सहमत हैं तथा उनका कथन है कि इस इन्द्र-वृत्र-युद्ध का प्राग्रूप प्रागैतिहासिक भारत-यूरोपीय काल में देखा जा सकता है। इन्द्र ट्यूटोनिक टूनर[1] और म्योल्निर[2] (गर्जन रूपी हथौड़ा) ही वज्र है। सर्प के साथ युद्ध तडिज्झंझा का आलङ्कारिक वर्णन है। हिलब्रांड इस गाथा में एक अन्य रूपक देखता है। उसके मत में वृत्र शीत-दैत्य है और इन्द्र सूर्य देव तथा इन्द्र जिन जल धाराओं को मुक्ति दिलवाता है, वे वृष्टि-जल-धाराएं नहीं हैं, अपितु भारत के उत्तम-पश्चिम की नदियां हैं जो शीतकाल में सूख जाती हैं तथा सूर्य के द्वारा हिमालय के हिम के पिघलने पर जल-पूर्ण हो जाती हैं।

संभव है कि इन्द्र-वृत्र-युद्ध में उपरिलिखित अलङ्कार हों, परन्तु यह निश्चित है वैदिक कवियों को प्रकृति की शक्तियों के रूप में इन्द्र-वृत्र का स्पष्ट ज्ञान नहीं था। उनके लिए इन्द्र एक शक्तिशाली विजेता था, जिसमें दैत्यों जैसी शक्ति थी, तथा भारत के आदिम कृष्णवर्ण निवासी ही वृत्र थे। इन्द्र केवल वृत्र से ही नहीं लड़ता, अन्य भी अनेक दैत्यों से उसकी लड़ाइयां होती हैं। इन्द्र की दैत्यों से लड़ाइयों में आर्य प्रव्रजकों की यहां के मूलवासियों से होने वाली लड़ाइयों की झलक है। इसलिए भी, इन्द्र प्रमुख रूप से योद्धाओं का देवता है। वैदिक देव-समूह में सर्वाधिक सजीव चित्रण इन्द्र का ही है, उसके व्यक्तिगत स्वभाव, कार्यकलाप आदि

1. Thunar.		2. Mjolnir.

का जितना ब्योरेवार वर्णन है, उतना किसी अन्य देव का नहीं है । इस युद्धरत देवता के ये वर्णन ऋग्वेद के २५० सूक्तों में विस्तार से किए गए हैं । इन्द्र अपने सुन्दर होंठों से सोम के प्याले गटागट पी जाता है और जब जी भर पी चुकता है तो अपने जबड़ों की हड्डियों को आनन्दपूर्वक फिराता है तथा अपनी सुन्दर दाढ़ी हिलाता है । उसके केश और सारा शरीर स्वर्ण के समान दीप्तिमान है । आकार में वह दैत्य के समान है; द्युलोक और पृथ्वी लोक उसके सामने इतने बड़े भी नहीं कि उसकी करधनी का काम दे सकें । शक्ति तथा उत्साह में न तो कोई दिव्य, न ही पार्थिव प्राणी उसका मुकाबला कर सकता है । जब उसने इन दोनों अनन्त लोकों को पकड़ा तो ये दोनों उसकी एक मुट्ठी में आ गए । उसका अति-प्रयुक्त विशेषण 'वृषभ' है । उसकी शक्ति अनन्त है । उसकी सोम-पान की क्षमता भी अनन्त है, जिसका कि मन्त्रों में वर्णन है, जो कि प्राय: हास-परिहास के पुट के बिना नहीं है । वृत्र का वध करने से पूर्व उसने सोम के भरे हुए तीन तालाब पिए; एक स्थान पर यह कहा गया है कि एक बार तो वह सोम-रस से भरे हुए ३० तालाब पी गया । इन्द्र अभी माता के गर्भ से बाहर आया ही था कि कई कटोरे सोम के पी गया । इन्द्र का जन्म भी सामान्य तरीके से नहीं होता; मां के गर्भ में उसने कहा कि मैं इस मार्ग से नहीं निकलना चाहता, यह खराब मार्ग है, मैं तो पार करके एक पार्श्व से बाहर जाऊंगा (ऋ० ४. १८.२) । कभी-कभी तो वह इस सोमपान के शुभकार्य में अति कर देता था । ऋग्वेद १०. ११९ में एक वैदिक कवि इस का वर्णन करता है—इन्द्र सोच रहा है कि मैं क्या करूं और कहता है—"मैं इस तरह करूंगा; नहीं, इस तरह", "मैं पृथ्वी को उठा कर यहां रखूंगा; नहीं, मैं वहां रखूंगा", इत्यादि । प्रत्येक मन्त्र के अन्त में टेक है—"तो क्या मैंने अत्यधिक सोमपान कर लिया है ?"

यह युद्धरत राष्ट्रीय देवता, अन्य सब देवताओं की अपेक्षा देवों का प्रमुख बनने के लिए उपयुक्त है । प्रशंसा तो ऋग्वेद में प्रत्येक देवता की ही सीमातीत है । जिस देवता का वर्णन चलता है वह ही प्रमुख और सब देवताओं से बड़ा हो जाता है । यह एक प्रकार की चाटुकारिता है जिससे कि स्तोता उस देवता की कृपा प्राप्त करना चाहता है । यह ठीक वैसा ही है जैसा कि परवर्ती काल में दरबारी कवियों ने टटपूंजिए छोटे-छोटे राजाओं को भी अखिल विश्व का सम्राट् कह कर स्तुति की । तथापि, वेद के वर्णनों से यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि प्राचीनतम काल में इन्द्र देवताओं का राजा था जैसे कि जीयस (Zeus) ग्रीक ओलिम्पस का ।

देवों के प्रमुख के रूप में ऋ० २.१२ में इन्द्र की स्तुति है । इन्द्र-गीतों के नमूने के तौर पर उसे प्रस्तुत किया जा सकता है—

जो कि मनस्वी पैदा होते ही था उज्ज्वलगुण-निष्णात
प्रज्ञा और कर्म में दे दी, सब देवों को जिसने मात

जिस पौरुषशाली के बल विक्रम के सम्मुख कांप रहे
द्युलोक पृथ्वी दोनों; लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
जिसने थामा इस विस्तृत पृथ्वी को, जो थी कांप रही
शान्त किया पर्वतमाला को जो प्रकुपित थी सभी कहीं
जिसके बहुत बड़े पैमाने अन्तरिक्ष को माप रहे
जिसने द्युलोक थामा; लोगो देव इन्द्र हम उसे कहें
जिसने कर अहि का हनन, मुक्त की ये सप्त नदी-धारें
वल-गुहा-बद्ध गौओं को जो लाया निकाल; बल धारे[1]
जो दो चट्टानों के अंदर कर अग्नि सृष्ट दीप्त रहे
जो युद्धों में विजयी; लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
जो कि चराचर को कर देता अस्थिर, मच जाती हलचल
दास वर्ण को वश में करके कर देता गुहा-लीन निश्चल
विजयी द्यूतकार ज्यों लक्ष, पुष्टि अरि की वह सपदि गहे
जो है विश्व-विजेता; लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
जिस घोर देव के बारे में पूछ रहे—'कहां कहो वह ?'
वह है ही नहीं, लक्ष्य कर उसको, लोग स्पष्ट देते कह
नष्ट पुष्टि अरि की करता द्यूतकार के दांव सदृश है
(अरि की सभी पुष्टि करता धूलिसात् भूकम्प सदृश है)
श्रद्धा उस पर रखो; लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
धनिक अधन दोनों को है जो बन सहाय सदा बढ़ाता
स्तोता प्रार्थी ब्राह्मण को जो ऋद्धि सिद्धि सुख का दाता
सोम-सवन-हित जिस जन ने निज कर में हैं पाषाण गहे
उसे सुखद सुशिप्र; लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
गौएं अश्व, सकल रथ, ग्राम सदा जिससे रहें नियन्त्रित
जन्म सूर्य को और उषा को जो देने वाला वन्दित
जो जल-नेता, जिसके आदेशों पर जल के ओघ बहें
जो है विश्व-विधाता; लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
युद्ध परस्पर करते जिसे खड़े दोनों सैन्य पुकारें
खड़े हुए जो प्रतिमुख दोनों मन में शत्रु-भाव धारे

---

१. वृत्र-हनन के बाद गौओं को मुक्त कराना इन्द्र का महत्तम वीर कार्य है । इसकी हरकुलिस के कार्य से तुलना की जाती है । हरकुलिस ने तीन सिर वाले जेरोनियस का हनन किया था और उसके द्वारा चुराए गए वृषभों को छुड़ा कर लाया था। इसी प्रकार हरकुलिस और कैकस । देखिए ओल्डनबर्ग—*Religion des Veda*, p. 143 f. हिलब्रांड *Vedische Mythologie*, III, 260. ff.

[1]दो स्थित हुए एक रथ पर कर पृथक् पृथक् आह्वान रहे
जो सबका है आश्रय लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
जिसके बिना नहीं कर सकते जन जगती में प्राप्त विजय
जिसे पुकारें सहायता हित सब के सब जन युद्ध-समय
जिसके सम्मुख अभिमानी जन का अभिमान न टिका रहे
जो कि दस्यु का हन्ता; लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
शम्बर असुर पर्वतों में था जान बचा कर छिपा पड़ा
चालिसवें[2] दिवस शरद् ऋतु के जिसने उसको धर पकड़ा
ओज दिखाते बड़े हुए उस अहि दानव को जो न सहे
करे हनन उसका जो, लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
जो सप्तरश्मि,[3] वृषभ शक्तियुत उसके हैं कर्म महान्
बहने लगीं सप्त नदियां ये गाती गति का गान
रौहिण के द्युलोक में चढ़ने के सब विफल प्रयत्न रहे
जो वज्र बाहु मारे; लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
द्युलोक पृथ्वी, दोनों ये जिसके संमुख सीस झुकाएं
जिसके बल के संमुख पर्वत भय से कांप कांप जाएं
जो वज्रहस्त जो वज्रबाहु सोमपान में लीन रहें
जो प्रसिद्ध है सब में; लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
करे सोम का सवन, पचन जो मनुज करे महिमा-कीर्तन
करे यज्ञमय यत्न निरन्तर[4]; उसका जो सहाय प्रतिक्षण
जिसे ब्रह्म सोम बढ़ाते, हम राधस् देते जिसे रहे
जो सहाय कर्मठ का; लोगो, देव इन्द्र हम उसे कहें
दुर्धर्ष घोर वीर इन्द्र, जो करे सोम का सवन, पचन
उसे समृद्ध बनाता तू, है तेरे हैं विश्वसनीय वचन
दे हमको आशी: हम तेरे बने रहें प्रिय यहां सतत
वीर पुत्र घर में हों, धर्म-सभा में प्रवचन करें मुदित ।

वरुण और इन्द्र के सूक्तों से हमें यह ज्ञात होता है कि वैदिक कवियों में रस, शक्ति और जीवन का अभाव नहीं है तो अग्नि-सूक्तों से हमें यह ज्ञात होता है

---

१. अर्थात् योद्धा और सारथि ।

२. अन्य भाष्यकार—'चालिसवीं शरद् ऋतु' ।

३. इन्द्र के रथ की सप्त वल्गाएं हैं (ऋ. २.१८. १; ६. ४४. २४). अर्थात् अनेक अश्व उसके रथ में जुते हुए हैं । ऋग्वेद में 'सप्त' का अर्थ प्राय: अनेक होता है ।

४. ये प्राचीन काल के चार यज्ञीय पुरोहित हैं ।

इन कवियों ने सीधी-सीधी स्नेहपूर्ण मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्तियों में भी सफलता प्राप्त की है। यज्ञ-वेदि में प्रदीप्त होने वाली तथा घर के चूल्हे में प्रज्वलित होने वाली अग्नि का वर्णन मर्त्यों के रूप में किया गया है; वह मर्त्यों और देवों में मध्यस्थ है तथा उसको कवि मित्र के रूप में स्मरण करता है। कवि अग्नि से प्रार्थना करता है कि वह हमारा ऐसे कल्याण करे जैसे कि 'पिता पुत्र का करता है' और वह यह मान कर चलता है कि वह मेरे गीत से प्रसन्न हो गया है और वह अपने स्तोता की इच्छाएं पूर्ण करेगा। इन्द्र योद्धाओं का देवता है और अग्नि गृहस्थ का। अग्नि उसकी पत्नी और बच्चों की रक्षा करता है और परिवार को समृद्ध बनाता है। उसे पुनः पुनः 'गृह-पति' कहा गया है। वह प्रत्येक घर में 'अतिथि' है, अतिथियों में प्रमुख' है। वह 'अमर्त्य' मर्त्यों में वास कर रहा है, परिवार को समृद्ध करना उसके हाथों में है। आदि काल से ही वधू अपने नए गृह (पतिगृह) में आने से पूर्व अग्नि की प्रदक्षिणा करती है और इसलिए अग्नि 'कुमारिकाओं का प्रेमी' 'स्त्रियों का पति' भी (ऋ० १. ६६.४) कहा गया है। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि अग्नि कुमारिकाओं का पति है तथा वर वधू को अग्नि से प्राप्त करता है। विवाह, सन्तानोत्पत्ति तथा अन्य पारिवारिक उत्सवों में अग्नि से सीधी-साधी प्रार्थनाएं की जाती हैं। विवाह-संस्कार में पत्नी के हित के लिए प्रार्थना की जाती है—"गृह-पति अग्नि उसकी रक्षा करे। वह इसकी सन्तान को दीर्घायुष्य प्रदान करे, उसका गर्भ सुरक्षित रहे, वह जीवित सन्तानों को जन्म दे; वह अपने पुत्रों की प्रसन्नता को देखे!" यज्ञीय अग्नि के रूप में वह देवों और मर्त्यों के मध्य 'सन्देश-वाहक' (दूत) है। यह भी कहा गया है कि वह मर्त्यों की हवि देवों तक पहुँचाता है, कहीं कहीं यह भी वर्णन है कि वह देवों को यज्ञ-भूमि पर लाता है। इसलिए उसे पुरोहित कहते हैं। उसे मतिमान्, ब्रह्मा, पुरोहितं, होता (मुख्य पुरोहित) इत्यादि अनेक अभिधानों से स्मरण किया गया है। सूक्तों में, विशेष रूप से अग्नि-सूक्तों में पुराण-गाथा के प्रारम्भ तथा काव्य-कला को पृथक् करना बहुत दुष्कर है। प्रभूत घृत की आहुतियों से यज्ञीय अग्नि की ज्वाला को संदीप्त रखा जाता है तथा कवि कहता है—अग्नि का चेहरा (अनीक, आकृति) चमक रहा है, उसकी पीठ चमक रही है, उसके बालों से घी चू रहा है। उसे ज्वाला-केश या रक्त केश या, 'रक्त-वर्ण दाढ़ी वाला', 'तिग्म दंष्ट्राओं वाला' तथा 'सुनहरे झिलमिलाते दांतों वाला' कहा गया है। उसकी जिह्वाओं का वर्णन है, उसे सब ओर किरणें प्रसारित करने वाली प्रदीप्त अग्नि कहा गया है; उसकी चार आंखों की चर्चा है। इन सब वर्णनों के आधार पर स्पष्ट है कि अग्नि सूक्तों में पुराण-गाथा और काव्य दोनों हैं। इसी भांति अग्नि की तड़तड़ाहट और सरसराहट की वृषभ की हुंकार (गर्जन) से तुलना की गई है[1]—तथा अग्नि को वृषभ कहा गया है। नोकीली, ऊपर उठती हुई ज्वालाओं की शृंगों

---

१. यूरोपीय भाषाओं में भी 'अग्नि के गर्जन' का वर्णन होता है।

के रूप में कल्पना की गई है। एक कवि अग्नि के 'एक हजार शृंगों' की चर्चा करता है। एक कवि कहता है कि 'अग्नि अपने शृंगों को तेज करता है और क्रोध में उन्हें हिलाता है।' अग्नि का पुनः पुनः अश्व के रूप में भी वर्णन है—वह हर्षोन्माद से हिनहिनाता हुआ अश्व है, 'विद्युद्गति से दौड़ता है' तथा पुराण-गाथा और धार्मिक पूजन में उसका अश्व से निकट संबन्ध है। अग्नि को पक्षी भी कहा गया है—वह द्युलोक का श्येन है, जो द्युलोक और पृथ्वीलोक के मध्य तीव्र उड़ानें भरता है; स्पष्ट ही यह आकाश में चमकती हुई विद्युद् का वर्णन है। कवियों के मन में अग्नि के अनेक रूप हैं। एक कवि कहता है (ऋ० १.१४३.५)—"अग्नि अपनी सुदृढ़ दंष्ट्राओं से वनों को खा जाता है, उनका चर्वण करता है, वह उन पर ऐसे आक्रमण करता है जैसे कि योद्धा शत्रुओं पर।" एक अन्य कवि कहता है (ऋ० १.६५.८)—"वात-व्यजन-वर्धित अग्नि वनों में फैल गया है; अग्नि ने पृथ्वी के केश (अर्थात् घास और पौधे) काट डाले हैं।"

अनेक अग्नि-पुराणगाथाओं का कवियों ने आलंकारिक तथा रहस्यमय भाषा में वर्णन किया है। अग्नि के तीन जन्म या जन्म-स्थान हैं—आकाश में वह सूर्य-अग्नि के रूप में प्रदीप्त होता है, पृथ्वी पर मर्त्य उसे दो अरणियों में प्रदीप्त करते हैं तथा विद्युद् के रूप में वह जलों (मेघ-जलों) में जन्म लेता है। जब वह दो अरणियों की सहायता से उत्पन्न किया जाता है तो उसके बारे में कहा जाता है कि उसकी दो माताएं हैं तथा "ज्यों ही यह शिशु उत्पन्न होता है तत्काल ही अपनी दोनों माताओं को खा जाता है (ऋ० १०.७९.४)।" एक प्राचीन कवि कहता है—"कभी न श्रान्त होने वाली दस कुमारिकाओं ने इस त्वष्टा के शिशु को जन्म दिया है। दो अरणियों के प्रबल संघर्षण में व्यापृत दस उंगलियां ही ये दस कुमारिकाएँ हैं—समग्र ऋग्वेद में अग्नि को 'शक्ति का पुत्र' कहा गया है।

प्राचीन भारतीयों में अग्नि-पूजन का प्रमुख स्थान था। ऋग्वेद में लगभग २०० अग्नि-सूक्त हैं। यह स्वाभाविक ही है कि उनका यज्ञों में विनियोग किया गया है, उनमें से अधिकांश तो लिखे ही यज्ञ के प्रयोजन से गये। परन्तु शुद्ध उदात्त काव्यमय भावना से ओत-प्रोत सूक्त भी हैं, जिनमें सरल हृदय से निःसृत प्रार्थनाएँ हैं, संभवतः वे भी पुरोहितों ने लिखे होंगे, निर्विवाद ही वे ऊँचे दर्जे के कवि भी होंगे। उदाहरण के रूप में ऋग्वेद का निम्न सूक्त (ऋ. १.१) द्रष्टव्य है—

देव, यज्ञ का ऋत्विक्, होता, अग्नि पुरोहित (गुणगणयुत है)।
मैं करता उसका वन्दन, वह रमणीय वस्तु-दाता श्रुत है॥
वन्दना अग्नि की पहले ऋषियों ने की, करते हैं नूतन भी।
हम करें प्रार्थना, पास हमारे, ले आए वह देव सभी॥
अग्नि सहायक हो; शुभ यश से पुत्रों से हम सब हों शोभित।
समृद्धि पुष्टि मिले हमको मन प्रतिदिन प्रतिक्षण हो यह प्रमुदित॥

हिंसा-विहीन सर्वभूतहित यज्ञ अग्नि, तुझ को है प्यारा ।
उसकी ही तू रक्षा करे, उसे ही देवों ने स्वीकारा ।।
यह 'होता' है, सत्य रूप है, धारे कवियों की प्रज्ञाएँ ।
श्रेष्ठ कीर्ति इसकी है उज्ज्वल, देव सभी देवों को लाए ।।
अग्नि अंगिरस्, जो नर करता तुझे प्रेम से दान समर्पण ।
उसका भद्र करेगा तू, ये तेरी प्रतिश्रुति के सत्य वचन ।।
हे अग्नि, रात्रि के तम को तू कर देता है आलोक-सदन ।
प्रतिदिन हम आते हैं तुझ को प्रज्ञा से करते हुए नमन ।।
करते तेरी स्तुति, तू राजा सभी अध्वरों का ज्योतिर्मय ।
तू शाश्वत नियमों का गोप्ता, बढ़ता निज गृह में तू अक्षय ।।
अग्नि, पुत्रहित जैसे पिता, हमारे हित हो तू प्रिय सु-गमन ।
हो तू हमसे समवेत अनन्य स्वस्ति के हों हम सदा सदन ।।

ऋग्वेद में गीतिकाव्य की कुछ मुक्ताएं भी बिखरी हुई हैं । इन मन्त्रों में प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन है, भाषा अत्यन्त अलङ्कृत है । यह काव्य 'सूर्य,' 'पर्जन्य' 'मरुत्', तथा 'उषा' के सूक्तों में विशेष रूप से द्रष्टव्य है । उषा की दीप्ति के वर्णन में तो वैदिक कवि अनेक मंजुल अलंकारों का प्रयोग करते हैं—एक कवि दूसरे से बढ़ कर कहने का प्रयत्न करता है । झिलमिल करती उषा एक कुमारिका के समान चली आ रही है, उसकी माँ ने उसका सुचारु शृंगार किया है; उसे अपने शरीर सौन्दर्य पर गर्व है । उसने अत्यन्त सुन्दर वस्त्र धारण कर रखे हैं और नर्तकी के समान मर्त्यों के संमुख स्तन-प्रदर्शन कर रही है । आलोक-वसना यह कुमारी प्राची में प्रकट होती है और अपनी संमोहक कमनीयता का प्रदर्शन कर रही है । वह द्युलोक के द्वार खोलती है और अपनी सौन्दर्य दीप्ति की किरणें प्रसृत करती हुई बाहर आती है । पुनः पुनः उसके सौन्दर्य की तुलना उस स्त्री से की गई है जो प्रेमाह्वान कर रही है । उदाहरणार्थ (ऋ० ८०. ५. ६)—

ज्यों कोई हो सद्यःस्नाता ज्ञात-शुभ्र-निज-देह-रुचिरता ।
खड़ी हुई सिर ऊंचा कर, त्यों प्रदर्शनार्थ उषा यह उदिता ।।
सभी द्वेष तम को यह ज्योतिःस्नाता क्षण में दूर भगाती ।
यह द्युलोक-दुहिता प्राची में देखो मन्द मन्द मुस्काती ।।
ज्यों कोई भद्रा योषा हो नर-गण संमुख सीस झुकाए ।
त्यों द्युलोक की दुहिता प्राची में सलज्ज निज रूप दिखाए ।।
युवति उषा यह, इसके संमुख जो करते हैं दान, समर्पण ।
देती उनको वर, ले आती यथापूर्व यह ज्योतिर्मय दिन ।।

निम्न उषा-सूक्त भी पठनीय है (ऋ. ६. ६४)—

रोचमान श्री-राशि उषा की प्राची में निज झलक दिखाती ।

सलिल-ऊर्मियां शुभ्रोज्ज्वल ज्यों थिरक थिरक कर हो लहराती ।।
सुपथ बनाती उषा सभी पथ, सुगम हो गए जो थे दुर्गम ।
यह ऐश्वर्यवती समुदारा, सबको वसु देती सुमित्र-सम ।।

अहा, भद्र दर्शन हैं तेरे, तू दूर दूर तक चमक रही ।
तेरी कान्ति और किरणें ये हे देवि उषे, हैं दमक रहीं ।।
करती तू शृंगार, प्रकट आ अपना यह वक्षस् करती है ।
दमक रही है महादीप्ति से कण कण में आभा भरती है ।।

दूर दूर तक इस गतिमय सुभगा का देखो कर रहा वहन ।
अरुणवर्ण सुदीप्तिरञ्जित यह उज्ज्वलकान्ति-सुशोभित गो-गण ।।
ज्यों शर-धर शूर शत्रुओं को यह पीछा कर दूर भगाती ।
द्रुतगति योद्धा-सम तम से लड़ उसको, मद कर चूर, भगाती ।।

तव प्रगति अबाधित, तेरे हित पर्वत-पथ ये सुपथ सुगम हैं ।
तू अजेय है, आत्मदीप्तिमय, जल में भी गति सरल परम है ।।
सर्वपथे, समुदात्तदर्शने, हे द्युलोक-दुहितः, रस-झारी ।
दे समृद्धि तू हमें, कामनाएं होवें सब पूर्ण हमारी ।।
हे अजेय उषे, हमें दे तू नव नव शिव समृद्धियों से भर ।
गो-गण-वाहित रथ में भर वर तू स्वेच्छा से दान रही कर ।।
तू द्युलोक की दुहिता देवी, तुझे सुबह हम विनत बुलाते ।
तू नव नव शिव दानों से है दर्शनीय, तुझ से सुख पाते ।।

उषा काल में वास-स्थान निज छोड़ विहग जैसे उड़ जाते ।
ऐसे भोगी लोग भटकते जगह जगह जा दाँव लगाते ।।
जो दानी निःस्वार्थ मर्त्य है गृह में शान्त स्वकर्म-निरत है ।
देवि उषे, तू उसका अतिशय शुभ करती सोत्साह सतत है ।।

मरुतों के नायक वात देव का निम्न सूक्त (१०.१६४) काव्य-सौन्दर्य से ओतप्रोत है—

मैं अब करता समुद, वात की महिमा का उद्घोष ।
गर्जन, तोड़-फोड़ करता चलता है इसका घोष ।।
करता है नभ का स्पर्श, तड़ित को यह चमकाता है ।
पृथ्वी से उठता है यह धूल उड़ाता जाता है ।।
चलें वात के अनुचर, द्रुत गति के ये गीत गुँजाएँ ।
इसके समीप आते, समनों में आती जैसे योषाएँ ।।
उनके संग एक रथ पर स्थित यह देव वात बढ़ता ।
विश्व भुवन का राजा; शोभा, श्री से वदन दमकता ।।

अन्तरिक्ष में विविध पथों पर देव वात बढ़ता है ।
नहीं किसी दिन भी क्षण को विश्राम कहीं करता है ।।
प्रथम-जात, नियमों का प्रेमी, सखा जलों का पात ।
कहाँ हुआ उत्पन्न, कहाँ से आया, यह अज्ञात ।।
यह देवों की आत्मा, यह है गर्भ भुवन का भव्य ।
यह स्वेच्छा से चलता, इसकी गुण-गण-गाथा दिव्य ।।
इसके घोष सुनाई देते, दिखता है रूप नहीं ।
देव वात का हवि से पूजन करें उपासक सब ही ।।

इन काव्यमय मन्त्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसे सूक्त भी हैं, जिन्हें निर्विवाद द्वितीय श्रेणी में रखा जा सकता है । वे शुद्धरूप से कर्मकाण्ड के लिए लिखे गए । परन्तु इन दोनों प्रकारों के मन्त्रों में निश्चित विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं है । किसी मन्त्र को हम अन्तःप्रेरणायुक्त कवि का निसर्गजात काव्यमय उद्गार समझें या कर्मकाण्ड के प्रयोजन से प्रयत्नपूर्वक रचित प्रार्थना, यह व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर करता है । इन कर्मकाण्ड के मन्त्रों में अत्यधिक एकरसता है । एक देवता को संबोधित अभिव्यक्तियाँ ज्यों की त्यों दूसरे तीसरे चौथे के लिए भी दुहराई गई हैं—'तू महान है, शक्तिशाली है, हमें गौएँ दे, स्वर्ण दे' इत्यादि । कई सूक्तों में तो एक साथ ही कई देवताओं और कभी-कभी तो वैदिक देव समूह के सभी देवताओं का नाम कथन करके स्तुति की गई है क्योंकि महान् सोम-याग में प्रत्येक देवता को हविर्भाग देना होता है और उसके साथ एक एक मन्त्र का उच्चारण अनिवार्य है । उदाहरणार्थ वरुण इन्द्र तथा अग्नि को संबोधित पूर्वोद्धृत सूक्तों से निम्नलिखित कर्मकाण्डीय प्रार्थना-मन्त्रों की तुलना कीजिए (ऋ. ८. ३५)—

हमको 'इन्द्र-अग्नि' दें शान्ति सहायक रक्षक बनकर ।
'इन्द्र-वरुण' दें शान्ति, जिन्हें देते हवि हम हो तत्पर ।।
'इन्द्र-सोम' दें शान्ति, स्वास्थ्य शक्ति और सुख दान करें ।
'इन्द्र और पूषा' दें शान्ति वाज से नित गेह भरें ।।
भग दे शान्ति, शान्ति यह स्तुति दे, दे पुरन्धि शान्ति सुखद ।
सदा शान्तिकारक समृद्धि हो नर-जीवन में पद पद ।।

... ...

दे धाता शान्ति, शान्ति धर्ता दे, शान्ति भूमि विस्तृत ।
दे वह नित्य स्वधाएँ, हो जीवन स्व-शक्ति से धारित ।।
शान्ति लोक विशाल दें दोनों[1] दे अद्रि शान्ति, दृढ़ मन ।
शान्ति हमें दें गीत, खिंचे आते जिनसे देव सु-मन ।।

---

१. द्युलोक तथा पृथ्वी लोक ।

शान्ति हमें दे अग्नि, ज्योति से झिलमिल जिसका आनन।
मित्र-वरुण दें शान्ति, शान्ति दें अश्विदेव जन-भावन ॥
दे शान्ति सुकृतरत पुण्यात्माओं के हमें सुकृत नित।
शान्ति शक्ति से भूषित हो मंगलमय वात प्रवाहित ॥

इस प्रकार यह प्रार्थना १५ लंबे-लंबे मन्त्रों में चलती है।

इन कर्मकाण्डीय मन्त्रों के समूह में ही आप्रीसूक्त भी हैं। ये सूक्त कुछ दवताओं, दैत्यों तथा यज्ञ से संबद्ध कुछ आरोपित चेतनत्व वस्तुओं को तुष्ट व प्रसन्न करने के लिए हैं। आप्री-सूक्त संख्या में दस हैं तथा इनका पशु-यज्ञ में अनिवार्य रूप से विनियोग है। इन सबमें प्रत्येक में ग्यारह या बारह मन्त्र हैं तथा उनमें अग्नि का विभिन्न नामों से आह्वान किया गया है कि वह देवों को यज्ञ में लाए। चौथे या पाँचवें मन्त्रों में पुरोहित को दर्भ बिछाने के लिए कहा जाता है, जिस पर देव आकर बैठेंगे और हवि ग्रहण करेंगे। इन सूक्तों में कुछ देवियों का भी आह्वान किया गया है। उपान्त्य मन्त्र यूप को, जिससे बलि-पशु बाँधा जाता था, संबोधित है—"हे दिव्य वृक्ष, यह यज्ञीय भोजन देवताओं तक पहुँच जाए।"

नवम मण्डल में सभी यज्ञीय सूक्त हैं। वे सब सोम को संबोधित हैं तथा महान् सोम-याग में प्रयुक्त किए जाते हैं। एकरस रूप से एक ही प्रक्रिया चलती जाती है, सोम का सवन, मिश्रण तथा शोधन, पात्रों में डालना इत्यादि। पुनः-पुनः इन्द्र का सोम-पान के लिए आह्वान किया जाता है। फिर सोम और इन्द्र की संयुक्त रूप से स्तुति है; समृद्धि या वृष्टि के लिए प्रार्थना है। पवित्र (चलनी) से रिसती हुई बूंदें वृष्टि का प्रतीक हैं। इन एकरस प्रार्थनाओं में सुन्दर काव्यमय मन्त्र अत्यल्प हैं। निम्न मन्त्र की काव्य-कल्पना कमनीय है (ऋ. ९.१६.६)—

अवि-चर्म-चालनी में छाना जाता यह सोम मनोहर
श्री-शशि-सुशोभित लगता जैसे कोई शूर शक्तिधर
खड़ा हुआ हो गौओं में विजयी दलन शत्रु-दल का कर ॥

कर्मकाण्डीय प्रयोजन से रचित होने पर भी मन्त्र महान्-काव्य-सुषमा से युक्त हो सकते हैं, यह तथ्य अन्त्येष्टि क्रिया के मन्त्रों से सिद्ध है। ऐसे कुछ मन्त्र ऋग्वेद के दशम मण्डल में संगृहीत हैं। प्राचीन भारत में प्रायः शवों का दाहकर्म ही होता था; संभवतः प्राचीनतम काल में भारतीयों में शवों को भूमिस्थ करने की प्रथा थी, जैसी कि अन्य भारत-यूरोपीय जातियों में है। अधोलिखित सुन्दर मन्त्रों का संबन्ध शवों को भूमिस्थ करने से है (ऋ. १०.१८.१०-१३)—

माता भूमि, वितत है इसकी गोदी, यह पृथिवी सुखदात्री।
जा तू इसके पास चराचर की है यह निर्मात्री धात्री ॥
दान-परायण नर के हित यह मृदुल ऊन-सी युवति स्फूर्तिमय।
तुझे शिकंजे में निर्ऋति के पड़ने देगी यह न प्रेममय ॥

हे पृथिवी माता, इसके हित यह तेरी गोद विशाल खुले ।
इसे भींचना मत तू, इसको तेरा मधु मृदु चिर प्यार मिले ।।
इसको सुगम प्रवेश मिले, कर इसकी देखभाल, यह आता ।
इसे ढाँपले, शिशु को ज्यों आँचल से ढाँपा करती माता ।।
विशाल गोद खोल कर रक्खे पृथिवी, यह जन शिशु-सा आए ।
इसके ऊपर हैं मिट्टी के लोष्ठ सहस्रों गए सजाए ।।
ये लोष्ठ बने गृह, जिनमें घृत के शतशत निर्झर करें स्रवण ।
और सदा के लिए बनें ये इस जन के हित शिव सुखद शरण ।।
यह मैं थाम रहा पृथ्वी को तेरे सभी ओर कर सुस्थित ।
तुझ पर लोष्ठ रख रहा हूँ मैं, हों ये मेरे हाथ न हिंसित ।।
थामें इस स्थूणा को पितृ गण, तेरे लिए यहाँ यम अधिपति ।
सदन बनाए, जिनमें सभी व्यवस्था सुखकर हो, हो शुभ गति ।।

इसमें भी सन्देह नहीं कि शवों के दाह-संस्कार में भी इन मन्त्रों को प्रयुक्त किया जा सकता है, जैसा कि ओल्डनबर्ग का विचार है ।[1] जैसा कि हमें कर्म-काण्ड के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में शव-दाह-कर्म के बाद अस्थि-चयन होता था और वे अस्थियाँ एक कलश में रखकर भूमिस्थ की जाती थीं। इसलिए, यह भी संभव है कि ये मन्त्र उस समय बोले जाते हों। परन्तु मेरी सम्मति में यह कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। ये शब्द **'पृथ्वी माता, इसके हित यह तेरी गोद विशाल खुले । इसे भींचना मत तू इसको तेरा मधु मृदु प्यार मिले ।'** इत्यादि, मुझे लगता है तभी अधिक संगत हैं यदि वास्तविक शव के ऊपर मिट्टी डाली जा रही हो । वस्तुतः अस्थियों को भूमिस्थ करना प्राचीनतर कालमें शवों को भूमिस्थ करने की प्रथा का अवशेष मात्र है ।[2]

दूसरी ओर ऋ. १०.१६. १-६ में निर्विवाद रूप से शव-दाह की चर्चा है । परन्तु यह सूक्त अपेक्षाकृत परवर्ती काल का है । जब चिता तैयार करली जाती है, इस पर शव को रखा जाता है और अग्नि प्रज्वलित की जाती है और जब ज्वालाएँ उठ कर परस्पर मिलती हैं, पुरोहित कहता है—

अग्ने, दग्ध इसे मत करना, बिल्कुल भस्मसात् करना मत ।
मत बिखेरना इसकी त्वक् को, शरीर को; रख तू प्रेम सतत ।।

---

१. *Religion des Veda*, p. 571

२. जब शव-दाह भी सर्वत्र प्रचलित हो गया था, तब भी शिशुओं और संन्यासियों को भूमिस्थ करने की ही प्रथा थी । परन्तु ऊपर के वर्णन में ऐसा कोई निर्देश नहीं है कि किसी शिशु या संन्यासी को भूमिस्थ करने की बात है । रौथ के मत का खण्डन करते हुए कलन्द (Caland) ने यह सिद्ध किया है कि ऋ. १०.१८ एक सूत्र में अनुस्यूत सूक्त नहीं है, १० से १३ तक के मन्त्र एक अलग कविता के रूप में प्रतीत होते हैं ।

इसे जातवेदः[1] करले जब परिपक्व पूत कालुष्य-रहित ।
तब पितरों के पास इसे तू प्रिय, कर देना सस्नेह प्रहित ।।
इसे जातवेदः करले जब पक्व, पूत, कालुष्यरहित ।
तब इसको प्रदान कर देना पितरों को वात्सल्य-सहित ।।
जब यह प्राप्त करेगा जीवन, जो है इसके लिए नियत ।
देवों का नेता यह होगा, होगा देवलोक में स्थित ।।
चक्षु सूर्य में मिले, वात में आत्मा जाकर मिल जाए ।
निज धर्म-कर्म-अनुकूल स्थान द्युलोक भू में तू पाए ।।
यदि तेरा हित इसमें तू जा कहीं जलों में कर निवास ।
या रह ओषधियों में; पा समुचित शरीर कर शुभ विकास ।।
इसका जो 'अ-ज'-भाग जातवेदः, तू उसे तपाए ।
इसको दीप्ति दिपाए तेरी उसको शुभ ज्वाल पकाए ।।
पुनः जातवेदः जो तव तन शिव उनके द्वारा ले जा ।
इसको उन लोकों में जहाँ सुकृतकृत् मानव रहते जा ।।

अन्त्येष्टि-मन्त्रों में हमें मृत्यु के उपरान्त जीवन के विषय में तथा आत्मा की भावी गति के विषय में दार्शनिक सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं। इन सिद्धान्तों में अग्नि और पितरों के विषय में पुराण-गाथा-विचार भी मिश्रित हैं। ऋग्वेद में दार्शनिक विचारों के संकेतमात्र ही नहीं हैं, लगभग १२ ऐसे सूक्त हैं जिन्हें दार्शनिक सूक्तों के रूप में अभिहित किया जा सकता है। इन सूक्तों में विश्व और उसकी उत्पत्ति के विषय में अनुमान व कल्पनाएँ तो हैं ही, परन्तु इनके साथ ही वह महान् सर्वेश्वरवाद का विचार है, जिसके अनुसार 'एक विश्वव्यापी आत्मा है और संपूर्ण विश्व उसी का रूप है।' यह अद्वैतवाद का विचार इन सूक्तों में प्रतिपादित है जो कि संपूर्ण वेदोत्तर भारतीय दर्शन में ओतप्रोत है।

बहुत काल पूर्व ही भारतीयों को इस विषय में विचिकित्सा व सन्देह होने लगा था कि देवों में कुछ शक्ति भी है कि नहीं, यहाँ तक कि उनकी सत्ता भी है कि नहीं। ऊपर अनूदित ऋ. २.१२ में इन्द्र की शक्ति व महान् कार्यों का विश्वास-पूर्वक वर्णन है और कुछ मन्त्रों में पुनः टेक आती है—'लोगो, वह इन्द्र है'। इसी सूक्त में हम पढ़ते हैं कि कुछ लोग थे, जो इन्द्र की सत्ता में विश्वास नहीं करते थे, जिसके विषय में वे पूछते थे—"कहाँ है वह ?' वे यहाँ तक कहते थे 'वह नहीं है'... उस पर श्रद्धा करो, लोगो वह [इन इन शक्तियों से युक्त] इन्द्र है।" इसी प्रकार का सन्देह एक विशेष रूप से उल्लेखनीय सूक्त ऋ. ८.१००.३- में प्रकट किया गया है; जहाँ पुरोहितों को निमन्त्रण दिया गया कि इन्द्र की स्तुति में गीत

१. अग्नि देव का एक नाम।

गाओ—"वह सत्य है, यदि सचमुच, वह है—क्योंकि कई लोग कहते हैं—'इन्द्र की सत्ता ही नहीं है ? उसे किसने देखा है, हम किसकी स्तुति करें ?" इस पर इन्द्र साक्षात् उपस्थित हो जाता है जिससे कि लोगों को उसकी सत्ता और महिमा पर विश्वास हो जाए—"यह मैं हूँ, हे स्तोता, मुझे यहाँ आँखों से देख लो, महत्त्व में मैं सब प्राणियों से उत्कृष्टतर हूँ" इत्यादि। परन्तु जब लोगों ने एक बार स्वयं इन्द्र के विषय में सन्देह करना शुरू कर दिया, वह इन्द्र जो देवों में उच्चतम और शक्तिमत्तम था, तो यह बात यहाँ तक नहीं रुकी; देवों के बहुत्व के विषय में भी अविश्वास प्रकट किया जाने लगा और यह सन्देह उत्पन्न हो गया कि देवताओं के प्रति यज्ञ करने से क्या वास्तव में कोई लाभ है भी। ऋ. १०.१२१ में प्रजापति की स्रष्टा और विधाता के रूप में स्तुति की गई है और उसे ही एकमात्र 'देव' कहा गया है और मन्त्र के बाद मन्त्र में यह टेक आती है कि 'यज्ञ के द्वारा हम किस देव की पूजा करें (कस्मै देवाय हविषा विधेम)।' यहाँ यह भाव गूढ़ है कि वास्तव में अनेक देव जैसी कोई चीज नहीं है; केवल एक एकमात्र देव है स्रष्टा प्रजापति, जिसकी पूजा की जानी चाहिए। अन्त में इस सन्देह की सशक्त अभिव्यक्ति ऋ. १०.१२९ में हुई। यह अत्यन्त उदात्त व गंभीर सूक्त है। इसका प्रारम्भ सृष्टि के होने से पूर्ववर्ती समय से होता है—

उस समय असत् था नहीं; न ही सत् था यह सकते कह।
अन्तरिक्ष था नहीं; न ही था व्योम परे है जो वह॥
किसने ढका हुआ था ? किसमें था ? बना कौन आश्रय।
क्या गहन गम्भीर वारि था ? कौन बताए, क्या निश्चय॥

ऋ. १.१२९.१

उस समय न तो थी मृत्यु और न ही रे अमृत था।
न ही रात्रि-दिन का प्रकेत था सब कुछ अव्याकृत था॥
बिना वात के साँस ले रहा वह एक स्वधा से युक्त।
उससे अन्य विभिन्न न कुछ भी था, अनुक्त है उक्त॥

ऋ. १.१२९.२

संसार के प्रभव के विषय में कवि अत्यन्त संकोच से कुछ कहने का प्रयास व साहस करता है। सृष्टि से पूर्व की स्थिति के विषय में वह कल्पना करता है कि 'तमस् से गूढ़ तमस् था, दूर-दूर तक अप्रकेत सलिल के सिवाय कुछ नहीं था; फिर तपस् की महिमा से 'एक' प्रगट हुआ, यह 'एक' बौद्धिक प्राणी था; उसके मन की प्रथम सृष्टि के रूप में—'मन का प्रथम रेतस्' जैसा कि कवि कहता है, काम उत्पन्न हुआ अर्थात् यौन इच्छा, प्रेम[1], और इस 'काम' में, कवियों

१. काम का अर्थ यहाँ 'इच्छा' नहीं है जैसा कि शोपनहार तथा डूसन तथा अन्य विद्वानों का विचार है। यौन इच्छा से ही सन्तान की उत्पत्ति होती है, अत: इन प्राचीन विचारकों ने यौन इच्छा को सम्पूर्ण सृष्टि की मूल-शक्ति माना।

(मनीषी विचारकों) ने अपने हृदय में मनीषा (ध्यान) के द्वारा सत् और असत के परस्पर सम्बन्ध को जाना" केवल इतने कुछ विनम्र संकेत देने पर, तत्काल ही फिर सन्देह उठने लगा और वह इन जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों के साथ सूक्त समाप्त करता है—

किसे ज्ञान यथार्थ का ? कहदे ऐसा कौन सयाना ।
कौन मूल है, जिससे प्रादुर्भूत सृष्टि यह नाना ।।
अरे देव भी आए इसके बनने के अति पश्चात् ।
तो कहो जानता कौन, कहाँ से हुई, गूढ़ यह बात ।।

१. १२९. ६

जिससे नाना सृष्टि हुई यह, इसका है जो कारण ।
उसके ही अधीन इसका है धारण और अधारण ।।
परम व्योम में जो इसका अध्यक्ष सदय मायामय ।
इसका ज्ञानाज्ञान उसीका है केवल यहाँ विजय ।।

ऋग्वेद के अधिकाँश दार्शनिक सूक्तों में यह विचार प्रमुख है कि कोई स्रष्टा है, उसे कभी प्रजापति कह कर वर्णित किया है तो कभी ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति या विश्वकर्मा। परन्तु वह स्रष्टा अभी व्यक्तिगत देव के रूप में ही है। परन्तु इस सूक्त (ऋ. १०. १२९) में कवि यह सन्देह प्रकट कर रहा है कि यह सृष्टि 'बनाई गई' या किन्हीं अन्य साधनों के द्वारा प्रादुर्भूत हुई, तथा स्रष्टा को कोई नाम नहीं दिया गया, केवल 'एक' कह कर वर्णित किया गया। इस प्रकार इस सूक्त में 'सम्पूर्ण विश्व की एकता' के विचार का मूल है जो आगे जाकर विकसित हुआ। यह एकता का विचार कि प्रकृति में हम जो कुछ भी देखते हैं, तथा सर्वसामान्य जिसे 'देवों' के नाम से अभिहित करते हैं, वह 'एक' का विवर्त है 'केवल एक' का, तथा 'नाना' केवल काल्पनिक है। तथा यह विचार ऋ. १. १६४. ४६ में स्पष्ट एवं निर्भ्रान्ति रूप से संकलित है—

उसे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि भी कहते हैं ।
तथा दिव्य पक्षी गरुत्मान् भी उसको ही कहते हैं ।।
वह है वास्तव में एक, विप्र बहुधा करते हैं नामकरण ।
उसे अग्नि, यम, मातरिश्वा नाना नामों से पुकारते हैं ।।

ये दार्शनिक सूक्त ऋग्वेदसंहिता तथा उपनिषदों के बीच सेतु का काम करते हैं। इसी प्रकार लगभग २० सूक्त ऐसे हैं जो ऋग्वेद संहिता तथा वीरकाव्य तथा नाटकीय काव्य में संयोजक कड़ी हैं। ये संवादों के रूप में प्राचीन कथाओं के अवशेष हैं तथा 'संवाद-सूक्तों' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ओल्डन बर्ग[1] ने उन्हें 'आख्यान-सूक्त' नाम दिया है तथा उसने उनके अवशेषात्मक और रहस्यमय स्वरूप की व्याख्या करने के लिए एक परिकल्प (theory) का प्रवर्तन किया है। वह कहता

१. *Das altindische Ākhyāna* तथा *Ākhyānahymnen im Ṛgveda.*

है कि भारत में वीरकाव्य (महाकाव्य) का प्राचीनतम रूप गद्य और पद्य का मिश्रण था; वक्ताओं के कथन पद्य और उनसे संबद्ध घटनाएँ गद्य में। प्रारम्भ में केवल पद्य कण्ठस्थ किये जाते थे तथा अगली सन्तति को कण्ठस्थ कराए जाते थे तथा गद्य-कथा को प्रत्येक कथावाचक अपने शब्दों में कहता था। ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों में अब केवल पद्यभाग अवशिष्ट है, गद्यभाग विलुप्त हो चुका है। गद्यभागों का कुछ अंश ब्राह्मणों, महाकाव्य-साहित्य तथा कुछ भाष्यों से जाना जा सकता है। जहाँ ऐसी कोई सहायता न मिले तो हमारे पास इसके सिवाय कोई चारा नहीं है कि संवादों के आधार पर कथा का कुछ अनुमान करलें। ऐसा प्रतीत होता है कि इस परिकल्प की पुष्टि के रूप में यह कहा जा सकता है, भारतीय साहित्य में ही नहीं, दूसरे देशों के साहित्य में भी वीर-काव्य के प्रारम्भिक काल में गद्य और पद्य का मिश्रण मिलता है। उदाहरणार्थ प्राचीन आयरिश तथा स्कैण्डेनेवियन काव्य में[1] भी ऐसा काव्य उपलब्ध है। भारत में ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के कुछ गाथात्मक भागों में, महाभारत के कुछ प्राचीन अंशों में, बौद्ध साहित्य में, जन्तु-कथाओं तथा अन्य कथाओं में, नाटकों में तथा चम्पुओं में यह गद्य-पद्य मिश्रण दिखाई देता है। इतना अन्तर है, इन सबमें आज भी गद्य-भाग उपलब्ध होता है जबकि ऋग्वेद के संवादों में वह उपलब्ध नहीं है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद का अर्थ ही छन्दोबद्ध वेद है, अतः ऋग्वेद संहिता में जब किसी आख्यान व संवाद को संगृहीत किया गया, गद्यभाग को छोड़ दिया गया। यह ओल्डन बर्ग का परिकल्प है, और दीर्घकाल तक यह प्रायः सब विद्वानों में स्वीकृत रहा।

परन्तु, कुछ काल से ओल्डनबर्ग के परिकल्प का बहुत विरोध भी होना शुरू हो गया है। कई वर्ष पूर्व मैक्समूलर तथा सिलवाँ लेवी[2] ने सुझाव दिया था कि ऋग्वेद के संवाद-सूक्त एक प्रकार के नाटक रहे होंगे। इस विचार को हर्टेल[3] तथा एल. फॉन श्रेडर[4] ने विकसित किया तथा यह सिद्ध करने का यत्न किया कि ये संवाद-सूक्त वस्तुतः धार्मिक पूजा के प्रसंग में खेले जाने वाले नाटकों में प्रयुक्त भाषण हैं। उनका कथन है कि इन संवादों के साथ हम यदि नाटकीय हावभाव संयुक्त कर दें तो इनकी व्याख्या में कठिनता नहीं रहेगी। किस प्रकार का हावभाव संयुक्त करना है, इसके संकेत केवल उन संवादों से ही मिल सकते हैं।

तथ्य यह है ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों जैसी कविताएँ भारतीय साहित्य में अन्यत्र भी बहुत प्रचलित हैं। इसी प्रकार की अर्ध-वीर-काव्य तथा अर्ध-नाटकीय

१. १८७८ में जर्मन दार्शनिकों तथा अध्यापकों के ३३वें सम्मेलन में गेरा में अर्न्स्ट विन्डिश ने आयरिश-गाथा-साहित्य तथा प्राचीन भारतीय साहित्य का तुलनात्मक विवेचन किया था।

२. *Le The'ātre Indien*, 1890, pp. 301 ff.

३. *Indische Mārchen*, Jena, 1921.

४. *Mysterium und Mimus im Ṛgveda*, लीपज़िग, 1908

कविताएँ हमें महाभारत, पुराण तथा विशेष रूप से बौद्ध-साहित्य में भी मिलती हैं जिनमें मुख्यरूप या पूर्णरूप से संवाद ही हैं। वस्तुतः ये सब कविताएँ उसी प्रकार के प्राचीन वीर-गीत हैं, जो अन्य कई देशों के साहित्य में भी पाए जाते हैं[1]। यह प्राचीन वीर-गीत-काव्य वीरकाव्य (महाकाव्य) तथा नाटक दोनों का मूल स्रोत है क्योंकि आख्यान तथा नाटकीय तत्त्व ही इसका स्वरूप हैं। इन वीर-गीतों के आख्यानात्मक अंश से वीर-काव्य तथा नाटकीय अंश से नाटकों का विकास हुआ। ये प्राचीन आख्यान या वीर-गीत सर्वदा छन्दोबद्ध ही नहीं होते थे, परन्तु कभी-कभी प्रारम्भ या उपसंहार गद्य में होता था और कभी-कभी पद्यों के मध्य-मध्य में गद्य में व्याख्या भी रहती थी। इसलिए कहीं-कहीं यह भी संभव है कि ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों में सम्बन्ध जोड़ने वाली गद्य-कथा भी हो (जैसा कि ओल्डनबर्ग का मत है) तथा यदि हमें उस कथा का ज्ञान होता तो सूक्त स्पष्ट हो जाते। परन्तु इन सूक्तों में से अधिकांश सामान्य वीर-गीत हैं जिनका स्वरूप अर्धवीर-काव्य और अर्ध-नाटक है, जैसा कि अन्य कई विद्वान् युक्तिसंगत रूप से सिद्ध करते हैं।

संवाद-सूक्तों में प्रसिद्धतम पुरूरवा-उर्वशी-संवाद है। इस सूक्त में १८ मन्त्र हैं। पुरूरवा मनुष्य है और उर्वशी अप्सरा। यह देवलोक की सुन्दरी चार वर्ष पृथ्वी पर पुरूरवा की पत्नी बनकर रही। जब वह गर्भिणी हो गई तो ऐसे विलुप्त हो गई 'जैसे कि प्रथम उषा'। पुरूरवा उसे खोजने को गया। अन्त में उसने उसे एक सरोवर में अन्य जल-अप्सराओं के साथ हंसिनी के रूप में क्रीड़ा करते पाया। सूक्त संवाद से हमें इतनी कुछ झलक मिलती है, अन्यथा मन्त्र बिल्कुल दुरवबोध हैं—बस इतनी ही झलक कि परित्यक्त पति और सरोवर में अपनी सखियों के साथ क्रीड़ा करती हुई देवलोक की अप्सरा। सौभाग्यवश इस मर्त्य राजा तथा देवकुमारी की कथा भारतीय साहित्य में अन्यत्र सुरक्षित है और उस के आधार पर हम एक सीमा तक ऋग्वेद की कविता को पूर्ण कर सकते हैं। पुरूरवा और उर्वशी की कथा एक ब्राह्मण[2] में सविस्तर वर्णित है और उसमें आख्यान में बीच-बीच में ऋग्वेद के मन्त्र उट्टंकित हैं। उस आख्यान में यह वर्णित है कि पुरूरवा से विवाह करने से पूर्व उर्वशी ने तीन शर्तें रखी थीं; उनमें से एक यह थी कि वह पुरूरवा को कभी नग्न रूप में नहीं देखेगी। उर्वशी गन्धर्व (अर्ध-देवता) लोक की अप्सरा थी और गन्धर्व उसे वापिस लेना चाहते थे। इसलिए रात्रि में उन्होंने दो छोटे मेमने चुरा लिए। उन्हें उर्वशी बच्चों जैसा प्यार करती थी और वे उसकी चारपाई से बंधे हुए थे। जब उर्वशी ने पुरूरवा को धिक्कारा कि "मैं लुट गई जैसे कि कोई पुरुष मेरे

१. ए. बार्थ ने शतपथ ब्राह्मण के पुरूरवस् तथा उर्वशी के आख्यान की पंजाब की लोक-कथाओं (संपादित—टेम्पल) के रसालू-बीर-गीत से तुलना की है। इस प्रश्न पर अन्य कई विद्वानों ने भी बिचार किया है—पिशल, ओल्डनबर्ग, ब्लूमफील्ड, ए. बी. कीथ, जे. कार्पेन्टर, कलन्द प्रभृति।

२. शतपथ ब्राह्मण ११. ५. १।

साथ न हो" तो पुरूरवा चारपाई से कूद पड़ा; वह नग्न था क्योंकि उसे लगा कि वस्त्र धारण करने में विलम्ब लगेगा। उसने चोरों का पीछा किया। इस ही क्षण गन्धर्वों ने वहां विद्युद्-दीप्ति की और दिन जैसा प्रकाश हो गया, और उर्वशी ने पुरूरवा को नग्न देख लिया। उर्वशी अदृश्य हो गई और जब पुरूरवा लौटा उर्वशी जा चुकी थी। दुःख से पागल हुआ-हुआ राजा इधर-उधर भटकने लगा। एक दिन वह एक सरोवर के तट पर पहुँचा। वहाँ अप्सराएँ हंसिनियों के रूप में संतरण कर रही थीं। अब पुरूरवा और उर्वशी में संवाद होता है जोकि सूक्त में अंकित है और जो कि व्याख्यात्मक परिवर्धनों के साथ ब्राह्मण[1] में है। परन्तु लौटने के लिए किए गए सब आग्रह और युक्तियाँ व्यर्थ हुईं और जब पूर्ण निराश होकर पुरूरवा ने कहा कि वह आत्मघात कर लेगा और वह किसी चट्टान से कूद कर भेड़ियों का शिकार बन जाएगा तो उर्वशी ने केवल यह उत्तर दिया (ऋ. १०.९५.१५)—

नहीं, पुरूरवा, नहीं करना तुम आत्म-हनन
करें अशिव वृक नहीं तुम्हारा दारण, भोजन।
नहीं स्त्रियों का सख्य कभी होता है स्थायी
स्त्रियों के हृदय लकड़बग्घों के हृदय अकरुण॥

पुरूरवा का फिर अपनी प्रियतमा से संयोग हुआ कि नहीं, ऋग्वेद या शतपथ ब्राह्मण में इसकी कोई चर्चा नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि फिर पुरूरवा भी गन्धर्व बन जाता है और अत्यन्त संयोग का आनन्द प्राप्त करता है। भारतीय साहित्य में पुरूरवा और उर्वशी की कथा पुनः पुनः अनेक रूपों में प्राप्त है। कृष्ण यजुर्वेद से संबद्ध काठक में इसकी संक्षिप्त चर्चा है। यह वेदों के व्याख्यात्मक ग्रन्थों में सविस्तर कथित है।[2] महाभारत के परिशिष्ट हरिवंश पुराण, विष्णु-पुराण तथा कथासरित्सागर में भी वर्णित है। कविकुल-गुरु कालिदास का महान् अमर नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' इस पर आधृत है। परन्तु परवर्ती वर्णनों का आधार लेकर भी ऋग्वेद के इस सूक्त में बहुत कुछ अस्पष्ट व अव्याख्यात रह जाता है[3]; इससे यही सिद्ध होता है कि भारतीय साहित्य की कृतियों से ऋग्वेद अत्यधिक प्राचीन है।

ऋग्वेद के यम-यमी संवाद (ऋ. १०.१०) में भी प्राचीनकाल की आख्यान-कला के दर्शन होते हैं। इसमें सृष्टि के प्रथम भ्रातृ-भगिनी युगल से मानव-जाति की उत्पत्ति की गाथा है। यमी यम से समागम की प्रार्थना करती है जिससे कि

---

१. शतपथ ब्राह्मण में ऋग्वेद के १८ सूक्तों में केवल १५ हैं।

२. बौधायन-श्रौतसूत्र, बृहद्देवता, ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी पर षड्गुरुशिष्य का भाष्य।

३. देखिए गेल्डनर (*Vedische Studien*); ओल्डनबर्ग (*Die Literatur des alten Indien*)। पुरूरवा-उर्वशी-संवाद के हर्टेल तथा हिलब्रांड ने भी अनुवाद किए हैं।

मानव-जाति का विनाश न हो जाए।[१] कामना और आवेग से पूर्ण शब्दों में बहन भाई को प्रेम समागम के लिए प्रेरित करती है। परन्तु यम उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर देता है। यम के कथन मृदुल और विवेकपूर्ण हैं। वह देवों के उन शाश्वत नियमों को प्रस्तुत करता है जिनके अनुसार रक्त-संबन्ध में समागम निषिद्ध है। यम-यमी के संवाद-कथनों में भी अस्पष्ट व अव्याख्यात बहुत है। परन्तु यह संवाद नाटकीय गति से पूर्ण है। यमी पहले कहती है (१०.१०.१)—

निकट स्वकीय सखा को लाऊँगी कर सख्य-प्रेम-मनुहार
चला जाएगा यदि वह भग कर दूर सिन्धु को भी कर पार।
जिससे वह बन कर निर्माता करे प्राप्त इस पृथ्वी पर
स्व-पिता के लिए पौत्र, भविष्य का कर मन में सुष्ठु विचार ॥
[१]

यम इसका उत्तर देता है (ऋ. १७. १०. २)—

बहन यमी, तेरा सखा सख्य यह न चाहता;
है जो कि सगोत्र पराया होता है वह जन ।
सबल, असुर के पुत्र वीर वे हैं द्युलोकधर
देख रहे हैं सब के सब वे कोटिविलोचन ॥
[२]

यमी अपने भाई को मनाने का प्रयत्न करती है और कहती है कि स्वयं देवताओं की इच्छा है कि वह (यम) उससे समागम करे जिससे कि उसका वंश चले। जब यम मानता ही नहीं, यमी का आग्रह और आवेश बढ़ता जाता है—

मैं यमी काम से ग्रस्त हुई हूँ यम के प्रति
शयन के हेतु उसके संग एक शय्या पर।
उसके साथ मिलूँगी जैसे जाया पति को
रथ-चक्र-सदृश मिलें परस्पर बढ़ कर द्रुततर ॥
[७]

परन्तु यम फिर इनकार करता है—

न वे ठहरते, न वे झँपाते अपनी पलकें
घूम रहे चहुँदिशि देवों के हैं ये जो चार।

---

१. देखिए वेबर, SBA., 1895, 822 ff. यम का अर्थ जुड़वां है तथा यमी स्त्रीलिङ्ग रूप है। ए. विन्टर ने इस गाथा की पौराणिक व्याख्या का प्रयत्न किया है (*Mein Bruder frent um mich*)। वह ऋ. १०. १० की एक लैटिक लोक-गीत से तुलना करता है। उसमें भाई अपनी बहन को काम के लिए प्रेरित करने का प्रयत्न करता है। श्रोडर (*Mysterium und mimus*) के मत में यह किसी 'उर्वरता के उत्सव' से सम्बद्ध नाटक है। यह मत निर्विवाद रूप से गलत है। देखिए विन्टर निट्ज WZKM तथा कार्पेन्टर, *Die Suparṇasage*.

मुझे छोड़ जा किसी अन्य के संग द्रुत स्वैरिणि
रथ-चक्र-सदृश द्रुत गति से जा, कर प्रेमाचार ।।

[८]

बहन का तूफानी आवेश बढ़ता ही जाता है, यम के आश्लेष में बँधने की इच्छा तीव्र होती जाती है और यह यम पुनः पुनः इनकार करता है; तब वह फूट पड़ती है—

ओह, वस्तुतः यम तू बिल्कुल शक्तिहीन है
हमने जान लिया है तेरा मन और हृदय ।
कोई अन्य करेगी तव आश्लेष, करधनी
कटि में जैसे, जैसे लता वृक्ष का करे वलय ।।

[१३]

इस पर यम इन शब्दों से संवाद को समाप्त करता है ।

किसी अन्य का आश्लेष यमी तू कर, जैसे
लता वृक्ष का करती; तव मन उसको चाहे
वह तव मन को; हो परस्पर सुभद्र संविदा
(हम भाई-बहन, एक, पर अलग-अलग रहें)

[१४]

यम और यमी की कथा का अन्त क्या हुआ, हम नहीं जानते; परवर्ती साहित्य में इसके विषय में कुछ नहीं उपलब्ध होता । इस प्रकार ऋग्वेद की यह कविता दुर्भाग्य से अधूरी है, पर ऐसी अधूरी कविता जो कला का अत्युत्कृष्ट नमूना है ।

सूर्या-सूक्त[१] (ऋ० १०. ८५) भी ऋग्वेद के वीर-गीत-काव्य में सम्मिलित किया जा सकता है । इस सूक्त में सूर्या (सूर्य की पुत्री=उषा) के सोम (चन्द्र) से विवाह का वर्णन है । इस विवाह में जोड़ी मिलाने वाले 'अश्विनौ' हैं । इस सूक्त में ४७ मन्त्र हैं, जिनका परस्पर संबन्ध कुछ शिथिल है । प्रायः सब मन्त्रों का विवाह-संस्कार से सम्बन्ध है; जैसा कि हमें गृह्य-सूत्रों से ज्ञात होता है कि ये मन्त्र सामान्य मनुष्यों के विवाह-संस्कार में भी प्रयुक्त होते थे । परन्तु मेरी सम्मति में ये मन्त्र विवाह-संस्कार के लिए नहीं रचे गए थे, अन्त्येष्टि-संस्कार के मन्त्रों की भाँति कर्म-काण्ड की दृष्टि से ये रचित नहीं हैं कि इनमें विवाह-संस्कार के समय प्रयुक्त होने वाले सब आशीर्वचनों का संग्रह हो जैसे कि 'प्रार्थना-पुस्तक' के एक अध्याय में है । अधिक संभावना इसकी है कि यह एक प्राचीन वीर-गीत है जिसमें सूर्या के विवाह

---

१. ए. वेबर (Ind. Stud.) द्वारा जर्मन में अनूदित । इसके अतिरिक्त द्रष्टव्य J. एहनी ZDMG. 23, 1879, 166 ff.; पिशेल, Vedische Studien; ओल्डनबर्ग, G.G.A. 1889, p. 7.

का वर्णन है जिसमें कुछ कथात्मक मन्त्र हैं, कुछ मन्त्र 'अश्विनौ' और सूर्या को संबोधित हैं, कुछ मन्त्र हैं जो विवाह-संस्कार के विभिन्न अवस्थानों (Stages) पर उच्चारित किए गए; ये आशीर्वचन और स्तुति के रूप में हैं। इस सूक्त में आशीर्वचन के रूप में जो मन्त्र हैं वे अत्यन्त सरल, सजीव तथा मार्मिक हैं और काव्योत्कर्ष की दृष्टि से अन्त्येष्टि-सूक्तों की याद दिलाते हैं, जिनकी ऊपर चर्चा की जा चुकी है। उदाहरणार्थ 'दम्पती' को निम्न सुन्दर शब्दों में संबोधित किया गया है—

अपनी सन्तति से हृष्ट यहाँ तू हो समृद्ध
रह अपने गृह-शासन में तू सावधान।
निज तन को इस पति से कर संसृष्ट; बनो तुम
दीर्घायु समाज-मध्य बहुमत वाक्शक्तिमान्॥

[२७]

विवाह-संस्कार में सम्मिलित दर्शकों को संबोधित करके कहा गया है—

यह सुमङ्गली वधू, सभी तुम आओ शुभ इसका लखो वदन।
दे इसको सौभाग्य शुभाशीः जाओ सहर्ष तुम स्वीय सदन॥

[३३]

प्राचीन भारत-यूरोपीय विवाह-प्रथा के अनुसार जब वह वधू का हस्त-ग्रहण करता है, वह इस मन्त्र का उच्चारण करता है—

सौभगत्व के हित करता हूँ तेरा पाणि-ग्रहण
कि संग मुझ पति के तू वार्धक तक रह आजीवन।
तुझे भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि—देवों ने
मुझे दिया है करने को मेरे घर का शासन॥

[३६]

जब वर-वधू का जोड़ा अपने नूतन गृह में प्रवेश करता है, उसका स्वागत निम्न शब्दों में किया जाता है—

रहो यहीं, मत वियुक्त होओ
भोगो पूर्ण आयु तुम, करते
क्रीड़ा पुत्रों, पौत्रों के संग
मोदमान निज गृह में रहते।

[४२]

तथा वधू को यह आशीर्वाद दिया जाता है—

हे बहुदाता इन्द्र सुपुत्रा सुभगा इसे बना दे
दे दस पुत्र इसे, ग्यारहवाँ पति हो, सुख बरसा दे।

[४५]

परन्तु कुछ विवाह-आशीर्वचनों का स्वरूप अधिकांशत: जादू के मन्त्रों का है। उनमें से कुछ रक्षामन्त्र हैं जिनसे बुरी नजर का प्रभाव दूर होता है, कुछ घातक मन्त्र हैं, जिनके द्वारा वधू अपने भावी पति को हानि पहुँचा सकती है, कुछ झाड़फूंक के मन्त्र हैं, जिनके पढ़ने से वधू को हानि पहुँचाने वाले राक्षस व भूत भाग जाते हैं। ऋग्वेद में ये ही जादू के मन्त्र नहीं हैं। ऋग्वेद में कुल मिलाकर लगभग ३० जादू के सूक्त हैं। इनमें विविध रोगों को दूर करने के, गर्भ-रक्षा के, दु:स्वप्नों तथा अपशकुनों, दुष्प्रभावों को दूर करने के, जादूगरनियों को दूर भगाने के तथा शत्रुओं और हानि पहुँचाने वाले जादूगरों को नष्ट करने के मन्त्र हैं। कुछ मन्त्र विष तथा हानिकारक कृमियों को नष्ट करने के तथा प्रतिद्वन्द्वी का उन्मूलन करने के हैं। खेती व पशुओं की समृद्धि, युद्ध में विजय तथा निद्रा के सहायक मन्त्र भी हैं। समृद्धि की दृष्टि के मण्डूक-सूक्त (ऋ. ७.१०३) का विशेष महत्त्व है। इसमें मण्डूकों की ब्राह्मणों से तुलना की गई है। ग्रीष्म ऋतु में मण्डूक ऐसे निष्क्रिय पड़े रहते हैं जैसे मौन का व्रत धारण किये हुए ब्राह्मण। इसके अनन्तर जब वर्षा आती है मण्डूक प्रसन्नतापूर्ण टर्र टर्र के साथ एक दूसरे का स्वागत करते हैं जैसे कि पुत्र पिता का। एक मण्डूक दूसरे मण्डूक की ध्वनि को इस प्रकार दुहराता है, जैसे शिष्य वेदपाठी ब्राह्मण गुरु के मन्त्रों को। मण्डूकों के स्वरों के आरोह व अवरोह अनेक प्रकार के होते हैं। जिस प्रकार सोम-याग में पुरोहित पूर्ण पात्र के सब ओर बैठकर गाते हैं, ऐसे ही मण्डूक अपने गीतों से वर्षा ऋतु के प्रारम्भ को मनाते हैं। अन्त में समृद्धि के लिए प्रार्थना है—

दिए हमें वसु गोध्वनि ने, अजध्वनि ने भी दिए अहा
दिए शबल ने और बभ्रु ने; वसु का नहीं अभाव रहा।
इन मण्डूकों ने हमें सैंकड़ों गौएँ दीं; ये आयु हमारी
सहस्र-सवन-युक्त सोम-याग के लिए बढ़ाएँ कर कृपा यहाँ ॥

यह सब कुछ उपहासास्पद-सा लगता है और सामान्यतया लगभग सारे सूक्त के विषय में विद्वानों का विचार था कि यह ब्राह्मणों के याज्ञिक गीतों की हास्यानुकृति है और उन पर दुर्भावनापूर्ण व्यंग्य है[1]। परन्तु ब्लूमफील्ड ने प्रबल युक्तियों से निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया है[2] कि ये जादू के मन्त्र हैं जो वृष्टि के लिए प्रयुक्त

---

१. देखिए डूसन, AGPh. 1, 1, pp. 100 H.

२: JAOS., 17, 1896, pp. 173 ff. इससे पूर्व ही मार्टिन हॉग (*Brahma und die Brahmanen*, München, 1871, P. 12) ने इस सूक्त की इसी प्रकार की व्याख्या की थी तथा लिखा था 'इस सूक्त का इससे पूर्वतर पर्जन्य-सूक्त से सम्बन्ध है। भारत में आज भी सूखा पड़ने पर २० या ३० ब्राह्मण किसी नदी के तट पर जाकर वर्षा के लिए इन दो सूक्तों (पर्जन्य-सूक्त और मण्डूक-सूक्त) का पाठ करते हैं।

इसके अतिरिक्त द्रष्टव्य हैं—एल. फॉन श्रोडर, *Mysterium und Mimus im Rg-veda*. तथा जे० डब्ल्यू० हाएर, *Die Anfänge der Yogapraxis*.

होते थे तथा प्राचीन भारतीय विश्वास के अनुसार मण्डूक वृष्टि करवा सकते हैं; इस सूक्त में उन मण्डूकों की प्रशंसा की गई है और वृष्टि लाने वाले के रूप में स्तुति की गई है। मण्डूकों की ब्राह्मणों से तुलना ब्राह्मणों पर व्यंग्य न होकर मण्डूकों की जादूभरी स्तुति—आनुकूल्य शुल्क है। मण्डूक-सूक्त संभवतः कभी भी व्यंग्यनीत नहीं था। हमें यह अवश्य हास्यास्पद-सा लग सकता है, परन्तु प्राचीन भारतीयों को ऐसा नहीं लगता था; वे मण्डूकों को वस्तुतः महान् जादूगर मानते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी-कभी अभाजकीय कविताओं के कुछ मन्त्र भी जादू-टोने के काम में आने लगते थे। उदाहरणार्थ, ऋ. ६.७५ मूलरूप से युद्ध-गीत रहा होगा; इसका स्वरूप युद्ध के लिए जादूटोने के मन्त्रों का हो गया। इस सूक्त के कुछ मन्त्रों में महान् काव्य-सौन्दर्य तथा सशक्त बिम्ब हैं; अन्य मन्त्र जादूटोनों की शुष्क व कलाहीन भाषा में रचित हैं। प्रथम तीन मन्त्र विशुद्ध रूप से वीर-गीत प्रतीत होते हैं—

योद्धा गर्जन करते घन के तुल्य हुआ यह शोभमान
कवच पहन कर जब युद्ध-अंक में जा बैठा वह मोदमान
हे योद्धा हो तेरी विजय, रहे अनाविद्ध यह तेरा तन
अपने इस दृढ़ स्थूल कवच से रहे सर्वदा तू रक्ष्यमाण
धनु से हम गौओं को जीतें, धनु से जीतें उग्र तीव्र रण
धनु करता अपकाम शत्रु को, करता उसका पूर्ण विदारण
जिसके कर में धनु, दिक् दिक् में उसकी विजय-ध्वजा का रोपण
वीर प्रिय सखा ज्या का, दृढ़ आलिङ्गन में वह उसे बाँधती
कर्ण-निकट-गत मानों उसको करना यह कुछ कथन चाहती
तानी गई धनुष पर योषित् के तुल्य यह फुसफुसाती है
यह ज्या रण में महासहायक, पार हमें है यह उतारती ॥

कुल मिला कर ऋग्वेद के जादू के मन्त्र अथर्ववेद के जादू के मन्त्रों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं हैं, जिनके विषय में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ यह विशेष द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद-संहिता में महान् देवों तथा कर्मकाण्डीय सूक्तों के साथ कुछ जादू-टोने के मन्त्र भी संगृहीत हैं और ये मन्त्र ऋग्वेद-संहिता के दशम-मण्डल में नहीं हैं।

यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद के पवित्र तथा कर्मकाण्डीय सूक्तों में लौकिक सूक्त भी मिल गए हैं। उदाहरणार्थ, सोम-सूक्तों में ऋ० १०. ११२ है। यह

प्राचीन भारतीयों के यज्ञों के दो मुख्य विभाग हैं: पाक-यज्ञ (जिनमें मुख्य रूप से दुग्ध नवनीत पुरोडाश तथा धान्य आदि की आहुति दी जाती थी) तथा सोम-याग (जिसमें मुख्य आहुतियाँ सोम की होती थीं।) अन्य सभी यज्ञ इन दो मुख्य विभागों के अन्तर्गत हो जाते हैं। पशु यज्ञ का दोनों से सम्बन्ध है और अग्नि-पूजा तो प्रत्येक यज्ञ का अनिवार्य भाग है ही। (सं०)

एक व्यंग्यात्मक कविता है। इसमें मानव की विविध इच्छाओं का उपहास किया गया है। संभवतः यह श्रमिक-गीत जैसा एक प्राचीन लोक-गीत है। यह किसी प्रकार के भी कार्य के साथ गाया जा सकता है। तथा यह टेक है कि 'प्रवाहित हो, इन्दु[1] प्रवाहित हो, इन्द्र के हित के लिए।'[2] इससे पता चलता है कि इसको सोम-सवन करते हुए प्रयुक्त करते थे।[3] यह महत्त्वपूर्ण कविता पठनीय है—

मन में यहां हमारे हैं नाना विचार और योजनाएँ
लोगों के विविध कर्म हैं जग में जिनमें वे चित्त लगायें
तक्षा भग्न वस्तु को, भिषक् रुग्ण प्राणी को खोजा करता
ब्राह्मण को चाह यजमान की, हैं इच्छानुसार चेष्टाएँ
प्रस्रुत हो हे इन्दु, इन्द्र के हित प्रस्रुत हो !
औषधियां पक्व, पत्र शकुनों के ले, पाषाण, दीप्त ज्वाला
खोज रहा आभूषण-शिल्पी उसको जो हिरण्यनिधि वाला
प्रस्रुत हो हे इन्दु, इन्द्र के हित प्रस्रुत हो।
मैं छन्दों का गायक हूँ, पिता भिषक्, माता पीसनहारी
सबके मन में वसु की इच्छा, उसकी निधि सबको है प्यारी
इसके हित सब ही विविध योजना-कर्म-निरत प्रतिपल रहते
हम सब गौओं के तुल्य यहां इच्छाओं के पीछे चलते
प्रस्रुत हो हे इन्दु, इन्द्र के हित प्रस्रुत हो !
अश्व सुबह रथ को, वार्ताप्रिय लोग हास-परिहास चाहते
यह पुरुष चाहता है स्त्री को, मेंढक वारि-विलास चाहते
प्रस्रुत हो हे इन्दु, इन्द्र के हित प्रस्रुत हो !

धार्मिकेतर कविताओं में सुन्दरतम अक्षसूक्त (द्यूतकार का गीत) है, ऋ० १०.३४. एक द्यूतकार ने द्यूत खेल खेल कर अपने जीवन की सुख प्रसन्नता का नाश कर लिया है; वह पश्चात्ताप कर रहा है। करुणोत्पादक मन्त्रों में द्यूतकार यह वर्णन करता है कि किस प्रकार पासों ने उसकी पारिवारिक प्रसन्नता का नाश कर दिया है—

---

१. इन्दु=सोम।

२. इस टेक को हटा देना युक्तिसंगत नहीं है, जैसा कि म्यूर तथा मैकडोनल प्रभृति ने किया है। परन्तु पिशेल ने कायम रखा है।

३. कुछ सोम-सूक्त श्रमिक-गीत हैं। इनमें सोम-रस के तैयार करने की संपूर्ण प्रक्रिया वर्णित है। देखिए के. बूचर, *Arbeit und Rhythmus*। एल. फॉन श्रोडर ने कल्पना की है कि यह सूक्त सोम-उत्सव पर शोभा-यात्रा के समय गाया जाता था, परन्तु इसके पक्ष में कोई युक्ति व प्रमाण उसने प्रस्तुत नहीं किया। ओल्डन बर्ग का मत है कि यह सूक्त सोम-याग के समय विशेष इच्छाओं की पूर्ति के लिए की गई प्रार्थना है। कार्पेन्टियर का भी यही मत है।

मुझसे नहीं झगड़ती और न कभी क्रोध भी वह दिखलाती
मेरे तथा सखाओं के हित वह रही सदा सुख बरसाती
लीन हुआ अक्षों में मैं हूं सचमुच हा, हतभाग्य जुआरी
हुई गृहत्याग हित बाधित, मम जाया, सदा अनुव्रता प्यारी [२]
घृणा सास करती है मुझसे, जाया न चाहती मुख लखना
ऐसे विपद्ग्रस्त का रक्षक चाहे कौन यहां बनना
जैसे बूढ़ा अश्व विपणि में, ऐसे यहां जुआरी है
उसका क्या उपयोग, टका है कीमत, वह सब के हित भारी है [३]
अन्य लोग आकर करते हैं उसकी जाया का आलिङ्गन
जिसके धन पर प्रबल अक्ष के लगे हुए हैं लुब्ध विलोचन
नहीं पिता माता औ' भाई इससे हैं संबन्ध मानते
कहते—! इसे बांध ले जाओ, हम हैं इसको नहीं जानते [४]

अक्षों की अविजेय शक्ति का वर्णन पढ़िए—

मैं मन में निश्चय करता हूँ, उनके साथ नहीं जाऊंगा
सखा जुआरी जब आएंगे, रह, तज उन्हें, यहीं जाऊंगा
किन्तु बभ्रु अक्षों की गिरने की ध्वनि जब कानों में पड़ती
जाता पहुँच, स्वैरिणी ज्यों संकेत-स्थान पर खिची पहुँचती [५]

तथा अक्षों के विषय में—

हाय, अक्ष नोकीले चुभने वाले छिन्न भिन्न कर देते
दुख देते, दिलवाते, बच्चों जैसे कुछ देकर ले लेते
अभी जिताया और बढ़ाया, मधु से सने हुए हैं लगते
ऊपर उठा पटक देते हैं, गिरे जुआरी सिसका करते [७]
अब ये दौड़ रहे नीचे को, अब होता इनका उपरि स्फुरण
लेते जीत स-हस्त मनुज को यद्यपि स्वयं अ-हस्त अकिंचन
अक्ष-पट्ट पर क्षिप्त जादुई ये जलते जलते अंगारे
खुद ठंडे, पर हृदय जलाते ; जल जल कर यह राख हुआ रे (९)

तो भी, जुआरी कितना ही अपनी किस्मत को रोए, पुनः पुनः वह अक्षों के वश में हो जाता है—

हाय, जुआरी की जाया है अश्रुमुखी परित्यक्त प्रपीड़ित
और प्रपीड़ित है माता भी, भटक रहा है पुत्र अलक्षित
सिर पर ऋण का भार उठाये डरता धन-याचन-हित
रात्रि-समय अन्यों के घर जाता है असहाय, अनाश्रित [१०]
देख किसी स्त्री को, व अन्य की जाया को, सुष्ठु रचित घर को
हूक जुआरी के दिल में है उठती, होता है दुख उसको

बभ्र अश्व वह सुबह जोतता,[१] और रात्रि के समय जुआरी
कहीं आग के पास पड़ा सो जाता है दयनीय भिखारी ।।[२] [११]

परन्तु अन्त में जुआरी जीवन को फिर से शुरू करने का दृढ़ निश्चय कर लेता है। वह अक्षों से प्रार्थना करता है कि उसे मुक्त करदें क्योंकि सविता के आदेश के अनुसार वह जुआ खेलना छोड़ देना चाहता है और अपनी कृषि और परिवार की देखभाल करना चाहता है।

अन्त में ऋग्वेद के दान स्तुति-सूक्त उल्लेखनीय हैं, ये लगभग ४० हैं[3]। ये सूक्त धार्मिक तथा लौकिक कविता के मध्य में हैं। इन सूक्तों में उदारता की प्रशंसा की गई है। ये गीत राजाओं तथा यज्ञ के संरक्षकों (यजमानों) की स्तुति में रचे गए। कुछ विजय गीत हैं, जिनमें इन्द्र की प्रशंसा की गई है क्योंकि उसने किसी नृपविशेष को शत्रु पर विजय प्राप्त करने में सहायता दी। कवि अपने संरक्षक की प्रशंसा करता है, जिसने उसे युद्ध की लूट में से गौएँ, बैल तथा सुन्दर दास प्रदान किए। मध्य में कुछ असभ्य अश्लील मजाकों के साथ उस आनन्द की चर्चा है जो राजा द्वारा दिए गए दासों से कवि को मिलता है। दूसरे बहुत बड़े-बड़े यज्ञीय सूक्त[४] हैं, जिनमें से अधिकांश इन्द्र को संबोधित हैं। स्पष्ट ही ये सूक्त विशेष अवसरों के लिए रचे गए थे। ये राजा या किसी समृद्ध यजमान की प्रार्थना पर यज्ञ के समय पढ़े जाने के लिए रचे गए। इनमें अन्त में कुछ मन्त्र हैं जिनमें यज्ञ के यजमान की प्रशंसा है कि उसने पुरोहित को अत्यन्त उदारतापूर्वक दक्षिणा दी। इन दान स्तुतियों में पवित्र दानी का पूरा नाम रहता है तथा ऐतिहासिक अनुश्रुतियों, या घटनाओं की चर्चा रहती है। इस दृष्टि से देखें तो वे महत्त्वहीन नहीं हैं। कविता की दृष्टि से बिल्कुल महत्त्वहीन हैं। वे पद्य-लेखकों के द्वारा प्रयत्न-पूर्वक 'आर्डर' पर बनाए गए सूक्त हैं या आशासित दक्षिणा के दृष्टिकोण से रचे गए हैं। ऋग्वेद में कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जो दानस्तुति के रूप में तो नहीं हैं; परन्तु प्रयत्नपूर्वक धनलाभ के लिए 'ठोकपीट कर' बनाए गए हैं। कभी-कभी कुछ वैदिक कवि अपने गीतों की बढ़ई की कृति से तुलना करते हैं[५]। तथापि ऋग्वेद के उत्कृष्ट

१. अर्थात् वह अपना दिन बभ्रु अक्षों से शुरू करता है।

२. एल. फॉन श्रोडर का मत है कि यह एकपात्रीय नाटक है। कार्पेन्टियर का मत है कि यह सूक्त उपदेशात्मक है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी वीर-गीत का अंश है, जिसमें यह जुआरी का स्वगत-भाषण है। उस वीर-गीत में कोई कथा होगी जैसी कि महाभारत में युधिष्ठिर या नल की कथा है।

३. केवल एक सूक्त (ऋ. १.१२६) पूर्णतया दानस्तुति है। अन्यथा प्राय: सूक्तों के अन्त में तीन से पांच तक दानस्तुति के मन्त्र हैं।

४. हमें ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणा कविता की लंबाई के अनुपात में मिलती थी।

५. ऋ. १.१३०.६.—'यह कविता तेरे लिए धन को चाहने वाले इन लोगों ने रची है जैसे कि एक कुशल कारीगर रथ की रचना करता है।' ऋ. १.६१.४—''मैं उसके (इन्द्र के)

कवित्व से पूर्ण सूक्तों में एक भी सूक्त ऐसा नहीं है जिसमें दानस्तुति हो। इसलिए ओल्डनबर्ग[1] की निम्न सम्मति युक्ति-संगत नहीं हैं। वह सामान्य रूप से ऋग्वैदिक कविता की आलोचना करता हुआ कहता है—'इस कविता का सौन्दर्य से कोई संबन्ध नहीं है, तथा यह धर्म, आत्मा के विकास व उत्थान में बिल्कुल सहायक नहीं है। यह काव्य और धर्म उच्चवर्ग के स्वार्थ की सिद्धि के लिए है तथा पुरोहितों ने दक्षिणा के लोभ में लिखा है।" इस प्रकार की मान्यता बिलकुल निराधार है। स्पष्ट ही ओल्डनबर्ग को यह स्मरण नहीं रहा कि ऋग्वेद के १०२८ सूक्तों में दानस्तुति के सूक्त सिर्फ ४० हैं। मेरी सम्मति है कि निःसन्देह वैदिक सूक्तों के रचयिताओं में कई प्रयत्नपूर्वक पद्य रचने वाले थे, पर उतना ही निःसन्देह यह तथ्य है कि उनमें 'सच्चे कवि' भी थे।

ऋग्वेद में एक सूक्त (ऋ. १०.११७) जो ऊँचे अर्थों में दानस्तुति (उदारता की प्रशंसा, खुशामद नहीं) है इसमें महान् नैतिक शिक्षा है जो अन्य दानस्तुतियों में दुर्लभ है—

मौत बनाया उन देवों ने नहीं भूख को ही है भाई
खानेवाले को भी मौतें यहाँ विविध रूपों में आईं
देने वाले का धन क्षीण न होता है, निशिदिन बढ़ता है
सुखद सहायक रक्षक कभी अदाता को यहाँ न मिलता है
दुर्बल प्रार्थी पीड़ित जन आ मांग रहा रोटी का टुकड़ा
अन्नवान जो देख उसे कर लेता है अपना हृदय कड़ा
औ' उसकी आँखों के संमुख खाता पीता बैठा हँसता
सुखद सहायक रक्षक ऐसे दुर्जन को है कभी न मिलता
अबल अन्नकामी याचक जो आता दर पर कर फैलाता
वह ही है उदार जन जो है बढ़कर उसकी भूख मिटाता
उसके कार्यों में आहूत सहायक समुद चले हैं आते
और पराये जन भी उसके बन अन्तरङ्ग सखा सुहाते
साथी, सेवक, सखा, भोग हैं जिस जनसे करते प्राप्त नहीं
सखा नहीं वह, उसे छोड़कर चल देना ही है मार्ग सही
उसका घर गमनीय नहीं है, किसी पराये के घर जाए
जो उदार दानी हो उससे ही अपना संबन्ध बढ़ाए
जो समर्थ है दे याचक को अवश्य मुक्तहस्त वह दान
जरा दूर तक देखे पथ को, जाने समझे सृष्टि-विधान

समीप यह स्तुतिगीत भेजता हूँ, जैसे कि एक रथ-निर्माता उसके पास रथ भेजता है, जिसने बनाने का 'आर्डर' दिया है।

१. *Die Literatur des alten Indien*, p. 20.

आज यहाँ, कल वहाँ, जगत् में रहती है लक्ष्मी स्थिर न कहीं
धनी दीन हो, दीन धनी हो; यह रथ-चक्रों-सी घूम रही
अज्ञानी जन अन्न व्यर्थ ही प्राप्त यहाँ संसृति में करता
सच कहता हूँ, यह उसका वध; वह जन है जीते जी मरता
न तो श्रेष्ठ जन को, न सखा को करता क्षुद्र हृदय वह पुष्ट
इकला खाने वाला पापी, केवल पाप खा रहा दुष्ट
भूमि-विलेखन करता ही हल-फाल खाद्य पैदा है करता
पथ पर चलता जन ही अपनी यात्रा को पूरा है करता
प्रवचन करता ज्ञानी उससे प्रियतर जोकि न करता प्रवचन
और अनुदार से होता है उदार मित्र उत्कृष्ट शुभंकर
जिसके हैं दो पाद, पिछड़ता; एक पाद वाला है आला
तीन पाद जिसके, उसको है लांघ गया दो पादों वाला
चार पाद जिसके, दो पादों वालों का इंगित है लखता
और समूहों के पाँचों के निकट उपस्थित प्रतिपल रहता[1]
दो हाथों की रचना समान, लेकिन है श्रम, बल में अन्तर
दो गौएँ बहनें हैं, देतीं किन्तु नहीं वे दूध बराबर
जुड़वें भाई हैं पर उनकी होती शक्ति समान नहीं है
होते हुए ज्ञाति भी दो जन वे देते सम दान नहीं हैं ॥

अन्तिम से पूर्व मन्त्र प्रहेलिका के रूप में है। प्राचीन भारतीयों में प्रहेलिका प्रिय थी; अन्य प्राचीन जातियों में यह देखने में आता है। ऋ. १.१६४ में अनेक प्रहेलिकाएँ हैं जो अत्यन्त दुर्बोध हैं। उदाहरणार्थ (ऋ. १.१६४.२)

एक चक्रवाला रथ है, जिसमें जुड़े हुए हैं सात
एक अश्व ले जाता उसको नाम सात हैं जिसके
तीन नाभियों वाला चक्र अजर, न ठहरने वाला
विश्व भुवन ये टिके हुए हैं रे आश्रय में उसके

ऋ. १.१६४.२

---

१. कुछ विद्वानों का अनुमान है—एक पाद वाला=एकपाद् अज (एक तडिज्झञ्झा का देवता), अन्यों के मत में सूर्य; तीन पादों वाला=दण्डधारी वृद्ध, चार पादों वाला कुक्कुर। परन्तु निश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता।

[एकपात्=जो जन चतुर्थांश का भोग करता है; द्विपात्=जो जन अर्धांश का भोग करता है; त्रिपात्=तीन अंशों का भोग करने वाला जन, चतुष्पात्=पूर्णतया भोगवादी। इनमें भौतिक जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन का अनुपात क्रमशः हैं—$\frac{१}{४}:\frac{३}{४}$; $\frac{१}{२}:\frac{१}{२}$; $\frac{३}{४}:\frac{१}{४}$; $\frac{४}{४}$=१:०। प्रथम-कोटि जन के विषय में देखिए पुरुषसूक्त 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' चतुष्पात् का अर्थ पशु है, पूर्णभोगवादी पशु ही है। [एक अर्थ यह भी संभव है, एक चक्र रथ=शरीर; सात अश्व=पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि; एक अश्व=मन, इसीके सात नाम हैं, तीन नाभियाँ—१. अन्नमय कोश, २. प्राणमय, मनोमय तथ विज्ञानमय कोश ३. आनन्दमय कोश। अनु०]

इसका **संभावित** अर्थ है—यज्ञ के सात पुरोहित (यज्ञ के द्वारा) सूर्यरूपी रथ में अश्व को जोतते हैं। यह रथ सात अश्वों से या सात रूपों वाले एक अश्व से खींचा जाता है। इस अजर सूर्यचक्र में तीन नाभियाँ हैं अर्थात् तीन ऋतुएँ (ग्रीष्म, वर्षा, तथा शीत)। इनमें संपूर्ण मानव-जाति का जीवन व्यतीत होता है। इस प्रहेलिका के अन्य अर्थ भी संभव हैं।

निम्न प्रहेलिकाओं का अर्थ भी स्पष्ट नहीं है—

एक खड़ा है ऊर्ध्व, तीन हैं जिसके माता और पिता
उसको नहीं श्रान्त करते वे; स्थित वहाँ द्युलोक-पृष्ठ पर
बात सर्वज्ञाता वाणी में सदा यहाँ करते रहते
लेकिन फिर भी पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं वे सकते कर

ऋ. १.१६४.१०

जिसने उसे बनाया, वह उसको न जानता
जो उसे देखता, उससे छिपा हुआ है वह
मातृ-गर्भ के अन्दर वह पड़ा आवृत
बहुसन्तति-युक्त रहा निर्ऋति[1] में वह है रहं

ऋ. १.१६४.३२

मेरा पिता जनक द्युलोक है मेरा अन्तःसम्बन्ध यहाँ
यह महनीया पृथ्वी मां, मैं जिसकी गोदी में खेल रहा
इन दो विस्तृत विश्वार्धों में मेरा जन्म स्थान है राजित
किया पिता ने है दुहिता के गर्भ-मध्य रेतस् स्थापित

ऋ. १.१६४.३३

दूसरी ओर निम्न प्रहेलिका का अर्थ स्पष्ट है। सूर्य का वर्णन है—

देखा है मैंने उस गोपा को, जो है नहीं लड़खड़ाता
अभी यहाँ है, अभी वहां है, चले पथों पर आता जाता
उसने पहने वस्त्र, सिमटते और बिखरते इधर उधर हैं[2]
भुवनों के अन्दर करता है यात्रा; वह अनन्त निर्जर है

ऋ. १.१६४.३१

इसी प्रकार इस प्रहेलिका का अर्थ भी स्पष्ट है—

बारह प्रधियां, चक्र एक है, तीन नाभियों से है संकुल
लगभग शंकु तीन सौ साठ लगे हैं जो हैं चल और अचल
क्या है वह, यह कौन जानता ? (यह ब्रह्मोद्य, बताओ तुम हल)

ऋ. १.१६४.४८

---

१. निर्ऋति मृत्यु, विनाश की देवी है।
२. यह सूर्य किरणों का वर्णन है।

यह वर्ष का वर्णन है। १२ महीने हैं, तीन ऋतु हैं तथा मोटे तौर पर ३६० दिन हैं।[1]

ऐसी प्रहेलिका-क्रीड़ाएँ प्राचीन भारत में सर्वाधिक प्रचलित मनोरंजन का साधन थीं। कुछ यज्ञों में तो ये कर्मकाण्ड का भाग हैं। ऐसी प्रहेलिकाएँ अथर्ववेद तथा यजुर्वेद में भी उपलब्ध हैं।

यदि ऋग्वेद के मन्त्रों में उपलब्ध विषय-सामग्री पर दृष्टिपात करें तो यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि हमें जो सूक्त उपलब्ध हैं, वे अति प्राचीन भारतीय कविता के कुछ अंशमात्र हैं। वह अति प्राचीन काव्य-साहित्य बहुत विस्तृत था। उस साहित्य में धार्मिक तथा लौकिक दोनों ही विषय थे। इनमें से अधिकांश सूक्त कर्मकाण्डीय स्तोत्र हैं या कर्मकाण्ड में प्रयुक्त हैं—या प्रयुक्त किये जा सकते थे, इस लिए यह प्रयत्न हुआ कि इनको एक संहिता में संगृहीत करके सुरक्षित कर दिया जाए। परन्तु संग्रह करने वाले विद्वानों की विशुद्ध काव्य में रुचि थी और धर्म में भी। अतः उन्होंने संहिता में उन शुद्ध लौकिक कविताओं के संग्रह में भी संकोच नहीं किया जो अपनी भाषा और छन्द से यज्ञीय स्तोत्रों से कम प्राचीन नहीं थीं। यह संहिता कण्ठस्थ करने के लिए बनाई गई थी। इस संहिता में संगृहीत करके ही लौकिक कविताओं की रक्षा की जा सकती थी। निश्चित ही ऐसी कविताएँ भी थीं जो अत्यधिक लौकिक थीं जिन्हें उन्होंने ऋग्वेद संहिता में संगृहीत करना उचित नहीं समझा। इनमें से कुछ कविताएँ परवर्ती काल में दूसरी संहिता अथर्ववेद संहिता में संगृहीत हो गईं।

---

१. ऋ. १.१६४ की व्याख्या के लिए देखिए—मार्टिन हॉग—*Vedische Rätsel fragen und Rätselprüche* डूसन—AGPh, I.I, pp. 105-119; रॉथ ZDMG. 46, 1892, 759 F. तथा वी. हेनरी—Revue Critique, 1905, p. 403.

अथर्ववेद संहिता[1]

अथर्ववेद का अर्थ है—'अथर्वन् का वेद' अथवा 'जादू टोने के मन्त्रों का वेद'। मूल रूप से अथर्वन् शब्द का अर्थ है अग्नि पुरोहित और सम्भवतः सामान्य रूप से पुरोहित के लिए यह प्राचीनतम भारतीय शब्द है क्योंकि यह शब्द भारत-ईरानीकाल में भी प्रचलित था। अवस्ता में भी अथर्वन् (अग्नि-पूजक जन) मिलता है।[2] प्राचीन ईरानियों को अग्निपूजक कहा जाता है परन्तु प्राचीन भारत में भी अग्नि का कम महत्त्व नहीं था। ये सब प्राचीन अग्निपूजक उत्तरी एशिया के शमनों तथा अमेरिकन इण्डियनों के ग्राम-वैद्यों के समान थे अर्थात् एक ही व्यक्ति पुरोहित और जादूगर दोनों होता था। ये ही दोनों अर्थ मीडिया में प्रचलित 'माजी' (Mazi) शब्द में हैं। इस प्रकार 'अर्थवन्' शब्द, अथर्ववेद के जादू मन्त्र या जादूगर पुरोहित के लिए प्रयुक्त होता था। अथर्ववेद के लिए प्राचीनतम शब्द है 'अथर्वाङ्गिरसः' अर्थात् अथर्वन्-जन और अङ्गिरस्-जन। अङ्गिरस्-जन प्रागैतिहासिक काल के अग्निपुरोहित हैं। अथर्वन् शब्द के समान ही अङ्गिरस् शब्द का अर्थ भी जादू के मन्त्र तथा जादू-टोना हो गया। अथर्वन् तथा अङ्गिरस् इन दो शब्दों से दो विभिन्न प्रकार के जादू मन्त्रों का बोध होता है। अथर्वन् पवित्र जादू है जो मङ्गल व कल्याण को देने वाला है जब कि अङ्गिरस् का अर्थ है दूसरों को हानि पहुँचाने वाला जादू, 'काला जादू'। अथर्वन् जादू के मन्त्रों में रोगों के निवारण के तथा आयु और पुष्टि के वर्द्धन इत्यादि के मन्त्र हैं जबकि अङ्गिरस् जादू के मन्त्रों में शत्रुओं, प्रतिद्वन्द्वियों तथा हानिकारक जादू करने वालों के विरुद्ध अभिशाप इत्यादि हैं। इस प्रकार इस प्राचीन नाम 'अथर्वाङ्गिरसः' का अर्थ हुआ कि इन दोनों प्रकारों के जादू-मन्त्र। ये ही अथर्ववेद की मुख्य विषय-वस्तु हैं।[3]

---

१. संपूर्ण अथर्ववेद के अंग्रेजी अनुवाद (i) Griffith (ii) Whitney। ब्लूमफील्ड ने *Grundriss* (11,1. 1891.96) में अथर्ववेद के विषय में विस्तार से विचार किया है। इस अध्याय के लिखने में मैंने उससे बहुत सहायता ली है। देखिए अथर्ववेद का हिन्दी अनुवाद (i) क्षेमकरण दास त्रिवेदी; (ii) जयदेव विद्यालंकार; (iii) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर।

२. प्राचीन रोम में भी *Flamines* नाम से अग्निपूजक (अग्नि में आहुति देने वाले) थे।

३. परवर्ती साहित्य में हमें अथर्ववेद के लिए भृग्वङ्गिरस तथा भृगुविस्तर शब्द भी मिलते हैं। भृगु-जन भी प्राचीन अग्नि पुरोहित थे।

अथर्ववेद संहिता में ७३१ सूक्त हैं जिनमें कि लगभग ६००० मन्त्र हैं।[1] यह २० काण्डों में विभक्त है।[2] विंश काण्ड काफी परवर्ती काल में जोड़ा गया तथा एकोनविंश काण्ड भी प्राचीन काल में अथर्ववेद का भाग नहीं था। विंश काण्ड के लगभग सारे सूक्त अक्षरशः ऋग्वेद संहिता से लिए गए हैं। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद संहिता का लगभग सप्तम अंश ऋग्वेद से लिया गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद और अथर्ववेद में जो मन्त्र उभयसाधारण हैं उनमें से आधे ऋग्वेद के दशम मण्डल से तथा शेष आधे में से अधिकांश ऋग्वेद के प्रथम तथा अष्टम मण्डल में से लिए गए हैं। अथर्ववेद के अष्टादश मूल काण्डों में सूक्तों की व्यवस्था एक निश्चित योजना के अनुसार है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनका सम्पादन बहुत सावधानी से किया गया है। प्रथम सात काण्डों में छोटे-छोटे सूक्तों की संख्या बहुत है। अधिकांशतः प्रथम काण्ड के सूक्तों में चार मन्त्र, द्वितीय में पांच, तृतीय में छः तथा चतुर्थ में सात हैं। पञ्चम काण्ड के सूक्तों में कम से कम आठ और अधिक से अधिक अठारह मन्त्र हैं। षष्ठ काण्ड में १४२ सूक्त हैं और अधिकांशतः प्रत्येक सूक्त तीन मन्त्रों का है। सप्तम काण्ड में ११८ सूक्त हैं जिनमें अधिकांशतः एक या दो मन्त्र हैं। ८-१४, १७ तथा १८ काण्डों में सर्वत्र बहुत लम्बे लम्बे सूक्त हैं। सब से छोटा सूक्त (८-१) २१ मन्त्रों का है और सबसे बड़ा (१८४) ८६ मन्त्रों का है। पञ्चदश काण्ड तथा षोडश काण्ड का अधिकांश भाग गद्य में है और शैली की दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा के समान है। संख्या के अतिरिक्त अथर्ववेद के सम्पादन में विषय वस्तु का भी कुछ ध्यान रखा गया है। एक ही विषय से सम्बद्ध दो, तीन, चार अथवा इससे भी अधिक सूक्त साथ-साथ रखे गए हैं। कहीं-कहीं किसी काण्ड का प्रथम सूक्त वह रखा गया है जो सारे काण्ड के विषय से सम्बद्ध है—द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम तथा सप्तम काण्ड अध्यात्म-विद्या सम्बन्धी सूक्तों से प्रारम्भ होते हैं। निर्विवाद यह व्यवस्था योजनापूर्वक की गई है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं[3] कि अथर्ववेद संहिता के प्रथम भाग (काण्ड १-७) में विविध विषयों के छोटे छोटे सूक्त हैं; द्वितीय भाग (८-१२) में विविध विषयों के लम्बे-लम्बे सूक्त हैं, जबकि ८-१८ काण्ड विषय-वस्तु की दृष्टि से व्यवस्थित हैं। उदाहरणार्थ पञ्चदश काण्ड में केवल वैवाहिक प्रार्थनाएँ है और अष्टादश काण्ड में केवल अन्त्येष्टि सूक्त हैं।

---

१. अथर्ववेद की शौनक शाखा उपलब्ध है। पैप्पलादशाखा की एक पाण्डुलिपि मिली है जो काफी भ्रष्ट एवं अस्पष्ट है। इसे ब्लूमफील्ड तथा गार्बे ने *The Kashmirian Atharva Veda* नाम से प्रकाशित किया है।

२. अथर्ववेद के तीन मुख्य भाग किए जा सकते हैं—(i) काण्ड १-६, सप्तम काण्ड इसके परिशिष्ट के रूप में है। (ii) ८-१२ (iii) काण्ड १३-१८, एकोनविंश काण्ड इसके परिशिष्ट के रूप में है।

३. अथर्ववेद के विभागों के विषय में देखिए—Whitney and Lanman, HOS, Vol 7. PP CXXVII ff.

अथर्ववेद की भाषा तथा छन्द मूल रूप से ऋग्वेद के समान ही हैं तथापि अथर्ववेद की भाषा में हमें निश्चित रूप से कुछ परवर्ती रूप तथा कुछ अधिक जन-प्रचलित रूप मिलते हैं तथा छन्द रचना में भी ऋग्वेद की भाँति सावधानी नहीं बरती गयी है। पञ्चदश काण्ड तथा षोडश काण्ड का अधिकांश भाग तो गद्य में है ही, इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में अन्यत्र भी पद्यों के बीच में गद्य-भाग दृष्टिगोचर होते हैं और प्रायः यह निर्णय करना सरल नहीं होता कि यह भाग ऊंचे दर्जे के गद्य हैं या घटिया किस्म के पद्य। अनेकत्र यह भी प्रतीत होता है कि मूल रूप से शुद्ध पद्य प्रक्षेपों, या भ्रष्ट पाठों के कारण विकृत हो गया।[1] कई मन्त्रों में भाषा और छन्द को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि ये परवर्ती काल के हैं तथापि सामान्य रूप से यह तथ्य है कि भाषा तथा छन्द के आधार पर किसी भी वेद और विशेष रूप से अथर्ववेद की तिथि के विषय में कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद के काव्यमय सूक्तों से अथर्ववेद के जादू-टोने के मन्त्रों के अन्तर का कारण यह भी हो सकता है कि ऋग्वेद पुरोहित वर्ग की रचना है और अथर्ववेद अधिकांशतः सामान्य जन की।

परन्तु अन्य कई ऐसे तथ्य हैं, जिनसे निर्विवाद रूप से यह सिद्ध होता है कि अथर्ववेद-संहिता ऋग्वेद संहिता से परवर्ती है। प्रथम, अथर्ववेद में वर्णित भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दशाएँ। अथर्ववेद के वर्णनों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य जन दक्षिण पूर्व में और आगे बढ़ गए थे और गंगा के प्रदेश में रहने लगे थे। व्याघ्र बंगाल के दलदल वाले जंगलों में पाया जाता है। ऋग्वेद में इसकी चर्चा नहीं है। अथर्ववेद में यह सर्वाधिक शक्तिशाली तथा भयंकर हिंसक पशु के रूप में वर्णित है तथा यह भी वर्णन है कि राज्याभिषेक के समय राजा व्याघ्र के चर्म पर पदन्यास करता है। यह क्रिया उसकी राजशक्ति का प्रतीक थी। अथर्ववेद में ऋग्वेद की भाँति चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की चर्चा तो है ही, इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के महत्त्व पर बहुत लिखा गया है और उन्हें बहुधा पृथ्वी का 'देवता'[2] कहा गया है और उन्हें अनेक अधिकार दिए गए हैं; ब्राह्मणों का यह महत्त्व परवर्ती काल में अधिकाधिक बढ़ता गया। अथर्ववेद में जो जादू टोने के मन्त्र हैं, उनकी मुख्य विषय-वस्तु निर्विवाद रूप से जनप्रचलित तथा अत्यन्त प्राचीन है; परन्तु अथर्ववेद-संहिता में वे मन्त्र अपने मूल रूप में नहीं हैं; उनका 'ब्राह्मणी-करण' कर दिया गया है। पुराने जादू-टोनों और झाड़फूंक के मन्त्रों के लेखकों का नाम ज्ञात नहीं है (ये नाम सभी देशों में अज्ञात हैं)। ये मन्त्र मूल रूप से 'जनकाव्य'

---

१. अथर्ववेद के छन्द के विषय में देखिए—Whitney, HOS, Vol 7. अथर्ववेद में ही नहीं, ऋग्वेद को छोड़कर सम्पूर्ण वैदिक पाठ्यों में छन्द अव्यवस्थित है। यदि हम सर्वत्र छन्द ठीक करने का प्रयास करेंगे तो मूल पाठ भ्रष्ट हो जाएगा।

२. 'पुरोहितों' के लिए 'देव' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में केवल एक बार हुआ है (ऋ. १.१२८.८) Cf. Zimmer, *Altindisches Leben*, pp. 205 f.

के रूप में थे, जैसा कि सभी देशों के जादूकाव्य का स्वरूप है। अथर्ववेद में इसका जनकाव्य का रूप समाप्त हो चुका है। प्रत्येक पद पर हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मन्त्रों का यह संग्रह पुरोहितों द्वारा किया गया है और कई सूक्तों की रचना भी उन्होंने की है। इन संग्रहकर्त्ताओं और अंशतः ऋग्वेद के सूक्तों के रचयिताओं का पुरोहित-दृष्टिकोण स्थान-स्थान पर तुलनाओं और विशेषणों के द्वारा प्रकट हो जाता है। उदाहरणार्थ कृषि-घातक कृमियों के विरुद्ध एक जादूमन्त्र में यह कहा गया है कि ये अनाज को ऐसे ही बिना छुए छोड़ दें "जैसे कि ब्राह्मण उस यज्ञीय भोजन को नहीं छूता जो पूरी तरह से तैयार नहीं हुआ है।" अथर्ववेद में सूक्तों का एक पूरे का पूरा विभाग ऐसा है जिसका सम्बन्ध ब्राह्मणों के स्वार्थ से है—पुरोहितों को भोजन कराना, उन्हें यज्ञ की दक्षिणा देना, तथा अन्य ऐसी ही अनेक बातें। निर्विवाद ही यह सब पुरोहितों की ही योजना थी।

जिस प्रकार प्राचीन जादू-काव्य के ब्राह्मणीकरण से यह ज्ञात होता है कि अथर्ववेद के मन्त्रों का संग्रह परकालीन है उसी प्रकार अथर्ववेद में वर्णित देवताओं के कार्यकलाप से यह ज्ञात होता है कि इस संहिता का काल परवर्ती है। अथर्ववेद में हमें ऋग्वेद के ही देवता, अग्नि, इन्द्र इत्यादि मिलते हैं; परन्तु उनका स्वरूप क्षीण हो चुका है। उनके स्वरूप में परस्पर नाम मात्र का ही अन्तर रह गया है। उनका मूलस्वरूप (प्राकृतिक शक्तियाँ) अधिकांशतः विस्मृत किया जा चुका है, और क्योंकि जादू-मन्त्रों का मुख्य कार्य दैत्यों को दूर करना और विनाश है, इसलिए देवता भी केवल इसी कार्य के लिए आहूत किए जाते हैं; वे केवल दैत्यनाशक बन गए। अन्ततः अथर्ववेद के वे सूक्त जिनमें अध्यात्म-विद्या तथा सृष्टि-उत्पत्ति-संबंधी ऊहाएँ हैं, स्पष्ट ही परवर्ती काल की प्रतीत होते हैं। इन सूक्तों में दार्शनिक पारिभाषिक शब्दावली पर्याप्त विकसित है और सर्वेश्वरवाद का जो विकास देखने में आता है वह उपनिषदों के दर्शन के समकक्ष है। यह भी तथ्य है कि अथर्ववेद के इन दार्शनिक सूक्तों का भी जादू के कार्य के लिए प्रयोग किया गया है, उदाहरणार्थ 'असत्' जैसा दार्शनिक विचार शत्रुओं, दैत्यों तथा जादूगरों[1] के नाश के लिए प्रयुक्त किया गया है। इससे स्पष्ट है कि अथर्ववेद में हमारे संमुख प्राचीन जादूकृत्यों का एक कृत्रिम तथा अत्यन्त अर्वाचीन विकास आता है। अथर्ववेद की पवित्रता प्राचीन भारतीयों ने पर्याप्त काल तक स्वीकार नहीं की और आज भी प्रायः यह विषय विवादास्पद रहता है। परन्तु यह तथ्य इस बात का द्योतक नहीं है कि अथर्ववेद परवर्ती काल की रचना है। परवर्ती काल के होने का साधक हेतु तो इस वेद का स्वरूप है। जैसा कि भारतीय स्वयं कहते हैं कि अथर्ववेद का प्रयोजन है—प्रसन्न करना, आशीर्वचन तथा अभिशाप।[2]

१. अथर्व० ४.१६.६.

२. अर्थात् दैत्यों को प्रसन्न करना, मित्रों को आशीर्वाद देना और शत्रुओं को अभिशाप देना।

अथर्ववेद में अनेक जादू-मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें अभिशाप और झाड़फूंक है, जिन्हें 'अपवित्र जादू' कहा जाता है। पुरोहितों और पुरोहित-धर्म ने इनके परित्याग का अधिकाधिक प्रयत्न किया है। कुल मिलाकर धार्मिक पूजा तथा जादू में कोई आधार-भूत भेद नहीं है। इन दोनों के द्वारा मनुष्य इस संसार के परे की चीजों व बातों को प्रभावित करना चाहता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पुरोहित तथा जादूगर मूल रूप से एक ही व्यक्ति हैं। परन्तु सब जातियों के इतिहास में एक समय आता है जबकि देवपूजा और जादू-कृत्य एक दूसरे से पृथक् होने का प्रयत्न करते हैं। (परन्तु इसमें वे पूर्ण सफल कभी नहीं होते), जबकि पुरोहित जो कि देवताओं का मित्र है जादूगर को दूषित कहता है क्योंकि जादूगर का सम्बन्ध नीच दैत्य-संसार से है, इसलिए वह हेय है। जादूगर तथा पुरोहित में यह पृथक्भाव भारत में भी विकसित हुआ। न केवल बौद्ध तथा जैन सन्यासियों के लिए ही यह विधान है कि वे अथर्ववेद के जादू-टोने और झाड़फूंक इत्यादि से दूर रहें परन्तु ब्राह्मणीय स्मृति ग्रन्थों में भी यह दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि जादू-टोना पाप है। वे जादूगरों को धूर्त एवं ठग कहते हैं और राजा को कहा गया है कि वह उन्हें दण्ड दे[1]। यह भी तथ्य है कि ब्राह्मणों के स्मृति-ग्रन्थों में शत्रुओं के विरुद्ध अथर्ववेद के जादू टोनों के प्रयोग करने का स्पष्ट विधान है।[2] तथा उन कर्मकाण्डीय ग्रन्थों में जिनमें कि बड़े बड़े यज्ञों का वर्णन है, अनेक ऐसे झाड़फूंक के मन्त्र व जादू क्रियाओं के वर्णन हैं, जिनके द्वारा पुरोहित शत्रुओं का नाश कर सकता है—उदाहरणार्थ—"उसे जो हमसे घृणा करता है, और उसे जिसे हम घृणा करते हैं", तथापि पुरोहित-समाज में जादू-मन्त्रों के वेद के प्रति एक विरक्ति का भाव उदय हो गया था। इस वेद को पूर्ण रूप से पवित्र नहीं माना जाता था, तथा प्रायः पवित्र-ग्रन्थों की सूची से इसे बाहर रखा जाता था। प्रारम्भ से ही पवित्र-साहित्य में अथर्ववेद का एक विचित्र सा स्थान रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ कहीं पवित्र ज्ञान की चर्चा मिलती है तो 'त्रयी विद्या' के रूप में ही अर्थात्—ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद। इसके अनन्तर अथर्ववेद की पृथक् चर्चा होती है और कई बार तो चर्चा ही नहीं होती। ऐसे भी वर्णन हैं जहाँ वे पवित्र ग्रन्थों में वेदांगों और इतिहास पुराण तक का भी परिगणन है और अथर्ववेद की चर्चा तक नहीं है। उदाहरणार्थ, एक गृह्यसूत्र[3] में एक कर्मकाण्ड का वर्णन है जिसमें कि नवजात शिशु में वेदों का आधान किया जाता है। उस समय कहा जाता है—"मैं तुझमें ऋग्वेद का आधान करता हूँ, मैं तुझमें यजुर्वेद का आधान करता हूँ, मैं तुझमें सामवेद का आधान करता हूँ, मैं तुझमें वाकोवाक्य का आधान करता हूँ, मैं तुझमें इतिहास पुराण का आधान करता हूँ, मैं

१, देखिए Sacred Books of the East १०. ११. पृ० १७६; ४५, पृ० १०५, १३३, ३६३। मनु० ६.२५८, २६०; ११.६४। विष्णु-स्मृति ५४.२५।

२. देखिए मनु० ११.३३.

३. शांखायन गृह्यसूत्र १. २४. ८।

तुझमें सब वेदों का आधान करता हूँ।" स्पष्ट ही यहाँ अथर्ववेद को जानबूझ कर छोड़ दिया गया है। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों में भी विद्वान् ब्राह्मणों के विषय में यह कहा गया है कि वे तीन वेदों को जानने वाले हैं।[१] तथापि यह भी तथ्य है कि कृष्ण यजुर्वेद की एक संहिता[२] में और स्थान-स्थान पर प्राचीन ब्राह्मणों और उपनिषदों में, अन्य वेदों के साथ अथर्ववेद का भी परिगणन है; इसलिए कहीं अथर्ववेद की चर्चा न होने से यह सिद्ध नहीं होता कि यह संहिता परवर्ती है।

परन्तु यद्यपि यह निश्चित है कि उपलब्ध अथर्ववेद संहिता ऋग्वेद संहिता से परवर्ती है पर इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि अथर्ववेद के सूक्त भी ऋग्वेद के सूक्तों से परवर्ती हैं, तथापि जितना निश्चित यह है कि अथर्ववेद के सूक्तों में अनेक सूक्त ऐसे हैं जो कि ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों से परवर्ती हैं, उतना ही निश्चित यह भी है कि अथर्ववेद का जादू काव्य यदि अधिक नहीं तो उतना प्राचीन अवश्य है जितना कि ऋग्वेद का यज्ञीय काव्य। यह भी निश्चित है कि अथर्ववेद में ऐसे अनेक संदर्भ हैं जो कि उतने ही धुंधले प्रागैतिहासिक काल के हैं जितने कि ऋग्वेद के प्राचीनतम मन्त्र। 'अथर्ववेदकाल' जैसी कोई बात नहीं कही जा सकती। ऋग्वेद संहिता के समान ही अथर्ववेद में भी ऐसे संदर्भ हैं जिनमें परस्पर शताब्दियों का अन्तर है। केवल अथर्ववेद के कुछ परवर्ती भागों के बारे में यह कहा जा सकता है कि उनमें से अधिकांश ऋग्वेद के अनुकरण पर रचे गए। मेरे विचार में ओल्डनबर्ग[3] की यह सम्मति गलत है कि "भारत के प्राचीनतम जादू के मन्त्र गद्य रूप में थे तथा परवर्ती काल में अन्य यज्ञीय मन्त्रों की भाँति उन्हें पद्य रूप दिया गया।"

यह तथ्य है कि ऋग्वेद के मन्त्रों की अपेक्षा अथर्ववेद के जादू के मन्त्रों का वातावरण बिल्कुल विभिन्न है। अथर्ववेद में हम अपने को एक दूसरी ही दुनिया में पाते हैं। ऋग्वेद में द्युलोक के महान् देवताओं के गीत हैं जो कि प्रकृति के दिव्य शक्तिशाली दृश्य हैं; ऋषि उनकी स्तुति करता है। उनमें कुछ अत्यन्त उदात्त हैं और उनमें अधिकांश जीवनदाता मित्र हैं। इसके विपरीत अथर्ववेद में हम एक अन्धकारमय संसार में पहुँच जाते हैं जिसमें भूत, प्रेत, राक्षस व दुष्ट आत्माएँ हैं; जादूगर उनको अभिशप्त करता है और कभी उनकी चाटुकारिता करता है। वस्तुतः पृथ्वी के सब देशों में इस प्रकार का इतिहास मिलता है। उत्तरी अमरीका के इण्डियनों में, अफ्रीका के नीग्रो लोगों में, मलाया निवासियों तथा मंगोलों में प्राचीन यूनान तथा रोम में वही जादू टोने के, जादू के कर्मकाण्ड का वातावरण मिलता है

१. सुत्तनिपात, सेलसुत्त विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जहाँ सेल नामक ब्राह्मण के विषय में कहा गया है कि वह तीनों वेदों, वेदाङ्गों तथा पाँचवें इतिहास को जानता है। सुत्तनिपात (१०१९) में भी भावरी के विषय में यह कहा गया है कि उसने तीनों वेदों का पूर्ण अध्ययन कर रखा है।

२. तैत्तिरीय संहिता, ७.५.११.२ जहाँ 'अङ्गिरस्' शब्द का बहुवचन (अङ्गिरसः) अथर्ववेद के लिए प्रयुक्त हुआ है।

३. *Literatur des alten Indien*, p. 41.

जो हम अथर्ववेद में पाते हैं। अथर्ववेद में ऐसे अनेक मन्त्र भरे पड़े हैं। अमरीकी इण्डियनों में भी जादू टोना वैद्यों तथा तातार शमनों के मन्त्रों से अत्यल्प ही पृथक् है। इसी प्रकार उनका प्राचीनतम जर्मन काव्य के मर्सेबर्ग के जादू-टोने के मन्त्रों से भी विशेष अन्तर नहीं हैं। मर्सेबर्ग के एक जादू का मन्त्र है जिसमें भली भाँति समझ बूझकर 'वोडन' ने बाल्डर के टट्टू के मोच खाई टांग को ठीक करने के लिए पढ़ा था—

अस्थि से अस्थि
रक्त से रक्त
अंग से अंग
जुड़ गए ऐसे
मानो लगी हो गोंद

ठीक इसी भाँति अथर्ववेद ४.१२ में ये हड्डी के जोड़ने के मन्त्र हैं—

जुड़ जाए मज्जा मज्जा से
और अंग से जुड़े अंग
उग जाए विस्रस्त मांस
औ' अस्थि (रहे यह तन अभंग)—३
हो मज्जा से मज्जा संहित
चर्म चर्म से एकसार
बलयुत रक्त अस्थि हों तेरे
मांस मांस हो तदाकार—४
कर संयोजित लोम लोम से
त्वचा त्वचा से संयोजित
बलयुत रक्त अस्थि हों तेरे
कर औषधि[1] छिन्न भिन्न संहित—५

अथर्ववेद इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि इससे हमें सर्वसामान्य के वास्तविक विश्वासों वा धारणाओं से परिचय मिलता है। इन विश्वासों पर अभी तक पुरोहितों के धर्म का प्रभाव नहीं पड़ा है। अथर्ववेद में हमें वीसियों मृतव्यक्तियों की आत्माओं, पिशाचों, भूत-प्रेतों तथा सब प्रकार के दानवों से तथा जादू टोने की विद्या से परिचय मिलता है। यह परिचय नृवंशविज्ञान तथा धर्म के इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। नृ-वंश-शास्त्री के लिए अथर्ववेद का महत्त्व इसके सूक्तों के वर्गीकरण से स्पष्ट है।

---

१. स्वस्थ करने वाली औषधि के प्रति संबोधित है।

अथर्ववेद-संहिता का मुख्य भाग रोग-निवारक जादू-मन्त्र हैं; इन्हें 'भैषज्यानि' कहते हैं। ये या तो रोगों को सम्बोधित हैं जहाँ रोगों की दानवों[1] के रूप में कल्पना की गई है; या सामूहिक रूप से सब दानवों को संबोधित हैं, जिन्हें रोगों का उत्पन्न करने वाला माना गया है। अन्य देशों की भाँति भारत में भी यह विश्वास है कि ये दानव या तो रोगी को बाहर से आक्रान्त करते हैं व कष्ट देते हैं या वे रोगी को अन्दर से ग्रस्त कर लेते हैं। अथर्ववेद के कुछ मन्त्र ऐसे हैं जो कि रोग का नाश करने वाली औषधि के प्रति स्तुति व प्रार्थना के रूप में हैं। कुछ मन्त्र जल को संबोधित हैं; जिसमें कि रोग निवारक शक्ति मानी जाती है। तथा कुछ मन्त्र अग्नि को सम्बोधित हैं जिसे भारतीय जन दानवों का सर्वाधिक शक्तिशाली विनाशक मानते हैं। ये जादू के मन्त्र व कर्मकाण्ड भारतीय चिकित्सा-विज्ञान की प्राचीनतम प्रणाली हैं। कौशिक-सूत्र में इनका विस्तृत वर्णन है। इस पर आगे विचार करेंगे। मन्त्रों में विभिन्न रोगों के लक्षण सुस्पष्ट रूप से वर्णित हैं, इसलिए चिकित्सा-विज्ञान के लिए इनका कम महत्त्व नहीं है। विशेष रूप से ज्वर-निवारक मन्त्रों में यह द्रष्टव्य है। परवर्ती चिकित्सा-ग्रन्थों में ज्वर को 'रोगों का राजा' कहा गया है। क्योंकि आक्रमण बहुधा तथा प्रबल होते हैं। 'तक्मन्'[2] को कई मन्त्र संबोधित हैं। अथर्ववेद में यह ज्वर का वाचक है और इसकी एक दानव के रूप में कल्पना की गई है। उदाहरणार्थ अथर्ववेद ५.२२ के कुछ मन्त्र देखिए—

तक्मन् यह जो तू करता, सबको पीत वर्ण कर देता है
अग्नि तुल्य जलता है तू औ' सबका सुखा रुधिर देता है
तू दुर्बल हो जा, तेरा रस सारा सूख क्षणों में जाए
चला रसातल में तू जा रे, तुझे दूर हम मार भगाएँ। [२]
विश्व-शक्ति-युत औषधि, तक्मन् को नीचे मार भगादे
अरुण धूलि-सम, शबल, शबल का वंशज यह, तू इसे मिटादे। [३]
तक्मन्, मूजवान् पर तू जा, और परे जा बह्लिक जन में
लम्पट शूद्रा की इच्छा कर, उसे कँपादे तन औ' मन में। [७]
अब ठंडा, अब तीव्र उष्ण, अब तू खाँसी से खूब कँपाता
तक्मन्, तेरे ये भीषण शर पड़ें न हम पर (तू दुःखदाता)। [१०]
तक्मन्, तेरा भ्राता क्षय, खाँसी स्वसा, चर्म-रोग भतीजी
इन सबको ले किसी पराये जन के घर तू चला अभी जा। [१२]

यह ज्वर दूसरे लोगों व प्रदेशों में चला जाए यह प्रार्थना अथर्ववेद में पुनः पुनः मिलती है। इसी प्रकार खाँसी को भी सुदूर प्रदेशों में जाने के लिए कहा गया हैं—(अथर्व ६. १०५)—

१. रोग का नाम ही दानव का नाम है, मलाया (मलयदेश) में ऐसी ही प्रथा है।
२. देखिए जे. वी. ग्रोहमैन, Ind. Stud., 9. 1865, 381 ff.

जैसे मन मन की इच्छाओं सहित दूर है यह भग जाता
खाँसी, तू इस मन की गति से उड़ जा, भग जा, (तू दुखदाता)। [१]
बाण सुतीक्ष्णीकृत जैसे यह शीघ्र दूर है जाता उड़ कर
ऐसे तू पृथ्वी की विस्तृति में जा खो जा,. खाँसी (निष्ठुर)। [२]
खाँसी, जैसे सूर्य-रश्मियाँ जाती हैं शीघ्र दूर उड़ कर
ऐसे तू उड़ जा, खो जा, जा रे समुद्र के वितत वक्ष पर। [३]

कई जादू के मन्त्रों में चिन्तन बड़ा सजीव है और भाषा अत्यन्त परिष्कृत व अलङ्कृत। ऐसे मन्त्र उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। परन्तु अधिकांशतः इन मन्त्रों में विशेष काव्य की अपेक्षा नहीं की जा सकती; कहीं कहीं सुन्दर उपमाएँ मिल जाती हैं। रक्त-स्राव को दूर करने वाले एक मन्त्र में शिराओं की उपमा अरुणवस्त्रधारिणी कुमारिकाओं से दी गई है (**अथर्व.** १.१७)—

वे कुमारियां अरुणवस्त्रधरा नाड़ियाँ जो चली जा रहीं
भ्रातृ-हीन बहनों के सम हों हतवर्चस् (दुख हमें दें नहीं)। [१]
ऊपर की नाड़ी ठहर, ठहर नीचे की, ओ मध्यमे ठहर
ठहर रही कनिष्ठिका, बड़ी धमनि, जा ठहर (शान्ति धारण कर)। [२]
सौ धमनियां नाड़ियाँ सहस्र; जिनमें से होता रुधिर स्रवित
ठहर गईं ये मध्यम, क्षण में हुई सिरेवाली भी सुस्थित। [३]
सिकतादिरचित सुदृढ़ भित्ति से किया तुम्हें अब आवृत
ठहरो, शान्त भाव से बैठो (कर प्राप्त स्वास्थ्य सुस्थित)। [४]

तथापि ऐसे कथन सर्वथा काव्यमय नहीं हैं। अधिकांशतः एक ही शब्दावली की पुनः पुनः आवृत्ति हुई है। ऐसे मन्त्र आदिम लोगों के काव्य जैसे हैं, जिनमें एक समान वाक्य ही पुनः पुनः दुहराए जा सकते हैं।[1] अधिकांशतः जैसे कि सर्वत्र जादू के मन्त्रों में होता है, इन मन्त्रों का रूप प्रहेलिकामय है, एवं अर्थ अस्पष्ट है। ऐसा ही एक जादू गण्डमाला रोग को दूर करने के लिए है (अथर्व० ६.२५)—

"पाँच और पचास पीड़ाएँ करें गले को जो आक्रान्त
उन सबका हो नाश, रोग हो जाए तेरा द्रुत ही शान्त
जैसे संमान्या नारी की निन्दा होती नष्ट नितान्त। [१]
सात और सत्तर पीड़ाएँ करतीं ग्रीवा को आक्रान्त
उन सबका हो नाश, रोग हो जाए तेरा द्रुत ही शान्त

१. इस विषय में विस्तार के लिए देखिए—
H. Schurtz, Urgeschichte der Kultur.

जैसे संमान्या नारी की निन्दा होती नष्ट नितान्त [२]
नौ और नब्बे जो पीड़ाएँ करें स्कन्ध को जो आक्रान्त
उन सबका हो नाश, रोग हो जाए तेरा द्रुत ही शान्त
जैसे संमान्या नारी की निन्दा होती नष्ट नितान्त। [३]

यहाँ भी भारतीय तथाजर्मन-जादू-मन्त्रों में उल्लेखनीय साम्य है। अथर्ववेद के मन्त्रों में ५५,७७ या ९९ रोगों की चर्चा है; जर्मन जादू मन्त्रों में भी ७७ या ९९ रोगों का वर्णन है। उदाहरणार्थ ज्वर को दूर करने वाला जर्मन-जादू-मन्त्र देखिए—

ईसा का यह जल और रुधिर
नाश ज्वरों का करे सतत्तर।

भारतीय और जर्मन तथा अन्य कई जातियों में यह धारणा समान रूप से है कि रोगों की उत्पत्ति विविध कृमियों से होती है। अतः अथर्ववेद में अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनका उद्देश्य झाड़ फूँक तथा सब प्रकार के कृमियों को दूर भगाना है। (अथर्व० २.३१)—

आंतों में, सिर में व पसलियों में जो हैं कृमि छिपे दुष्ट
रेंग रहे जो नीचे, काट रहे जो, (जो हो रहे पुष्ट)
उन्हें 'वचस्' से कर देते हैं अभी पूर्णतः यहाँ नष्ट। [४]
पर्वतों, वनों, ओषधियों, पशुओं में जो कृमि छिपे दुष्ट
जो कि हमारे देहों में आ व्याप्त हुए, (हो रहे पुष्ट)
उन सबके उद्भव का मैं कर रहा हनन, होंगे विनष्ट। [५]

इन कृमियों की असुरों के रूप में परिकल्पना की गई है, उनके राजा तथा सामन्तों की चर्चा है, नर और मादा की चर्चा है। उदाहरणार्थ, शिशुओं में विद्यमान कृमियों को दूर करने के मन्त्र देखिए (अथर्व० ५. २३)—

इस कुमार के कृमियों को तू धनपति इन्द्र, कर विनष्ट तुरत
मेरे उग्र 'वचस्' से ये सारे हैं हो गए निहत। [२]
जो आँखों में रेंग रहा है, जो कि नाक में रेंगे दुष्ट
घूम रहा है जो दांतों में, उस कृमि को करते हम नष्ट। [३]
दो सरूप हैं, दो विरूप हैं, दो काले, दो हैं लोहित
भूरा, भूरे कानों वाला, गृध्र, कोक—सब हुए निहत। [४]
जो कृमि श्वेत कांख वाले, जो काले, श्वेत बांह वाले
विश्वरूप जो, उन सबको हम क्षण में यहाँ मार डालें। [५]
हत कृमियों का राजा, इनका हत होकर यह सरदार गिरा
हत माता, हत भ्राता, हत है स्वसा, स्वयं हत कृमि गिरा पड़ा। [११]

इस कृमि के पास दूर के साथी, सभी हो गए हैं हत
है जिनका आकार सूक्ष्म, वे सब कृमि हत हो गए तुरत। [१२]
सब नर मादा कृमियों का सिर मैं हूँ फोड़ रहा पत्थर से
और अग्नि से जला रहा मुख, (दूर रहें ये मेरे घर से)। [१३]

इसी प्रकार जर्मन जादू-मन्त्रों में नर कृमियों तथा मादा कृमियों की चर्चा है। दन्त-शूल को दूर करने वाले जर्मन-जादू-मन्त्र में विविध वर्णों वाले कृमियों की चर्चा है—

अरे नाशपाती के तरु, मैं तुझ से करूँ शिकायत
ये कृमि तीन मुझे देते तकलीफ, बड़ी है आफत
भूरा एक, दूसरा नीला और तीसरा लाल
मेरी इच्छा ये मर जाएं, इन्हें लील ले काल[1]।

ऐसे मन्त्रों की बहुसंख्या है जो कि सब असुरों के नाश के लिए लिखे गए हैं। इनमें से मुख्य हैं पिशाच और राक्षस। इन मन्त्रों का प्रयोजन है इन असुरों को झाड़ फूँख द्वारा भगा दिया जाए। अथर्ववेद (४.३६) में जादूगर पिशाचों को चुनौती देता है—

तपन पिशाचों का हूँ मैं ज्यों बाघ यहां गौवालों के हित
भागें जैसे देख सिंह को, श्वान न पाते स्थान सुरक्षित। [६]
पिशाच, चोर, वनचर डाकू—इन्हें नहीं मैं सह सकता
भाग पिशाच ग्राम से जाते, जहाँ कदम मैं हूँ निज रखता। [७]
मेरी उग्र शक्ति का होता जिस किसी ग्राम में कभी प्रवेश
भग पिशाच जाते, रहता है नहीं पाप का कोई लेश। [८]

रोग लाने वाले इन असुरों के अतिरिक्त अन्य जातियों की तरह भारत में भी यह विश्वास है कि नर तथा मादा असुर (इन्चुबि तथा सुच्चुबि) रात्रि में मर्त्य पुरुषों तथा स्त्रियों पर आक्रमण करते हैं। प्राचीन भारतीय विश्वास के अनुसार ये अप्सराएँ और गन्धर्व हैं। इनका जर्मनी में जन साधारण में प्रचलित भूतों, बौनों तथा परियों के साथ आश्चर्य-जनक साम्य है। मूल रूप से अप्सराएं और गन्धर्व प्रकृति, नदी व वन के उप-देवता हैं। नदी तथा वृक्ष उनके निवास-स्थान हैं, तथा वे मनुष्यों को आविष्ट करके उनको हानि पहुँचाते हैं। भूतों को भगाने के लिए

१. 'कृमि के कारण दन्त-शूल होता है', यह विश्वास न केवल भारत, जर्मनी, इंगलैण्ड तथा फ्रान्स में अपितु मेडागास्कर में भी प्रचलित है। 'चेराकियों' में एक जादू मन्त्र है—

'जो घुसा दांत में, बतलाएँ
यह है कृमि; (हम दूर भगाएँ)'

प्राचीन भारतीय जादूगर अजशृंगी[1] नाम के पौधे का प्रयोग करते थे। इस पौधे से अत्यन्त मधुर गन्ध आती है। इसके मन्त्र निम्न हैं—(अथर्व० ४.३७)

सभी अप्सराओं, गन्धर्वों को तेरे द्वारा छिन्न करें
सभी राक्षसों को अजशृङ्गी, तू दूर हटा, कर नष्ट, मरें। [२]

दुष्ट अप्सराओ, तुम भागो, जाओ कहीं नदी, घाटों पर
दुष्ट गुल्गुलू, पीला, नलदी, इक्षुगन्धि, प्रभन्दनी, मिल कर
दूर चली जाओ, पहचानी गईं, अब न तुम कुछ सकती कर।[2] [३]

शिखरों वाले महावृक्ष अश्वत्थ और न्यग्रोध जहाँ पर
वहाँ अप्सराओ, तुम भागो, पहचानी तुम गईं यहाँ पर। [४]

गन्धर्व अप्सरापति आता है नचता यह मुकुट धरे
इसकी दोनों मुष्कें फोड़ूं शेष काट दूं (शीघ्र मरे)। [७]

एक श्वान-सा, कपि-सा एक कुमार, केशपूर्ण हैं अंग
भोलाभाला प्रिय रूप धरे गन्धर्व इस स्त्री को करे तंग
इसे वीर्यशाली यह 'ब्रह्मन्'
नष्ट करेगा (बल आथर्वण)। [११]

हे गन्धर्वो, तुम पति हो और अप्सराएँ ये जायाएँ
तुम अमर्त्य हो, मर्त्यों को मत तंग करो (हम दूर भगाएँ)। [१२]

जैसे इन मन्त्रों में वर्णन है, इसी प्रकार जर्मन जादू मन्त्रों में भी वेतालों को यह आदेश दिया जाता है कि वे 'मनुष्यों के घरों को छोड़कर नदियों तथा वृक्षों में चले जाएं'। अप्सराओं तथा गन्धर्वों के समान जर्मन जल-परियाँ तथा बौने भी संगीत और नृत्य में प्रवीण हैं, जिनसे वे पुरुषों और स्त्रियों को वशीभूत करते हैं। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय जादू-गीतों में गन्धर्व कभी कुत्ते के रूप में प्रकट होते हैं, तो कभी बन्दर के रूप में, तो कभी घुंघराले बालों वाले नवयुवक के रूप में; उसी प्रकार जर्मन लोक-कथाओं की परियां और बौने विविध रूपों में प्रकट होते हैं। पुनः जैसे अप्सराएँ और गन्धर्व केलों और अंजीरों के पौधों पर झूला डाल कर झूलते हैं, जर्मन-लोक-कथाओं में भी जल-परियाँ वृक्षों की शाखाओं और शिखरों पर झूलती हैं। अथर्ववेद में मधुर गन्ध वाली एक जड़ी दैत्यों को दूर भगाती है, जर्मन लोग भी मधुर गन्ध वाली जड़ियों (जैसे 'थाइम' Thyme) से भूतों और बौनों को दूर भगाते थे। ऐसे साम्य अकस्मात् सम्भव नहीं हैं। एडाल्बर्ट कुह्न ने

---

१. *Odina pinnata*

२. भारतीय तथा अन्य देशों में विश्वास है कि भूत, प्रेत आदि को यदि पहचान लिया जाए और नाम लेकर पुकारा जाए तो वे निःशक्त हो जाते हैं। गुल्गुलू आदि अप्सराओं के नाम हैं।

लगभग ११० वर्ष पूर्व[1] दोनों की तुलना की थी। वह इस परिणाम पर पहुँचा था कि न केवल कुछ जादू-मन्त्रों में ही साम्य है, अपितु अत्यन्त निश्चित रूप से जादू के 'जन्तर मन्तर' के विस्तृत शास्त्र में भी साम्य है और इस शास्त्र के मूल भारत-यूरोपीय काल में खोजे जा सकते हैं, तथा हमें ज्ञात होता है कि उस प्रागैतिहासिक काल में किस प्रकार की कविता-रचना होती थी।

अथर्ववेद की स्वास्थ्य व दीर्घ आयु के लिए प्रार्थनाएं 'आयुष्यानि सूक्तानि' कहलाते हैं। ये भी रोग-निवारण के जादू के मन्त्रों से अत्यल्प ही भिन्न हैं। ये प्रार्थनाएँ मुख्य रूप से पारिवारिक उत्सवों जैसे गोदान (केश-कर्तन), मुण्डन तथा उपनयन के अवसर पर की जाती थीं। अथर्ववेद में दीर्घायुष्य के लिए, सौ 'शरद्' या सौ 'हिम' के लिए तथा १०० या १०१ मृत्युओं से मुक्ति पाने के लिए तथा सर्वविध रोगों के निवारण के लिए पुनः पुनः प्रार्थना प्रायः एक ही शब्दावली में की गई है। १७वें काण्ड में एक सूक्त है और उसमें एतद्विध प्रार्थनाएँ ही हैं, जैसी कि रोग-निवारण के जादू के मन्त्रों में हैं। जादू-चिकित्सक रोग-निवारक औषधि से भी प्रार्थना करता है। तावीजों व रक्षा कवचों से भी स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना की गई है, जिससे कि उसको धारण करने वाले की आयु दीर्घ हो।

इनके अतिरिक्त अनेक सूक्त पुष्टि के लिए 'पौष्टिकानि' हैं। कृषक, गड़रिया तथा व्यापारी इनके द्वारा अपनी कार्य-सिद्धि की आशंसा करते हैं। इस प्रकरण में विविध विषयों के प्रार्थना-मन्त्र हैं। भवन निर्माण, हल चलाना, बीज बोना, अन्न की वृद्धि, कृषिघातक कृमियों का नाश, आग लगना, वृष्टि, पशु वृद्धि, वन्य पशुओं और डाकुओं के आक्रमण, व्यापार, शुभयात्रा, द्यूतक्रीड़ा में विषाद, सर्प-भय आदि अनेक विषयों पर प्रार्थना व झाड़ फूंक के मन्त्र हैं। इनमें काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट मन्त्रों की संख्या अत्यल्प है। कई बार तो किसी दीर्घ सूक्त में अच्छे काव्य की कुछ पंक्तियाँ ही होती हैं। इनमें सर्वाधिक सुन्दर सूक्त संभवतः वृष्टि-सूक्त (अथर्व०—४.१२) है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में 'शब्द करते हुए महान् वृषभ की चर्चा है। कहा है—"वायु द्वारा प्रेरित वारिद एकत्र हों" तथा "जबकि मेघों के वस्त्र पहने हुए महान् वृषभ शब्द करता है, उस समय भगवान् करे कि वेग से बहते हुए जल पृथ्वी को तृप्त करें।" पर्जन्य[2] की स्तुति निम्न शब्दों में की गई है—(अथर्व० ४.१५.६)—

गड़ गड़ कर तू गरज, उदधि को कर आन्दोलित, बरस भूमि पर
भूमि पयस् से सराबोर हो, पाएँ आश्रम शरणार्थी नर

---

१. In. Vol XIII of *Zeitschrift für vergleichende Sprachwissenschaft* (1864)।

२. वृष्टि का देवता पर्जन्य।

कृश गौओं वाला घर जाए (सरस धान्य से जाए घर भर) ।[१]

जो सूक्त संकट और अशुभ के निवारण के लिए तथा प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए हैं, सबसे कम कवित्व उनमें है। संकट और अशुभ के निवारण के लिए जो सूक्त हैं वे "मृगारसूक्तानि" (अथर्व० ४.२३-२९) कहलाते हैं। इन सात सूक्तों में प्रत्येक सूक्त में सात मन्त्र हैं और क्रमशः अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, द्यावा-पृथिवी, मरुतः, भवाशर्वौ[२] और मित्रावरुणौ। इन सब मन्त्रों की टेक है—"वह हमें कष्ट व संकट से बचाए'—(स नो मुञ्चत्वंहसः)।

'अंहस्' शब्द के अर्थ में दुःख और संकट का तथा अपराध और पाप का दोनों का भाव है। इस दृष्टि से इन सूक्तों को प्रायश्चित्त सूक्तों (प्रायश्चित्तानि) में परिगणित किया जा सकता है। ये प्रायश्चित्त मन्त्र रोग-निवारक मन्त्रों से अत्यन्त भिन्न हैं। भारतीय विचारधारा के अनुसार केवल 'पापों' नैतिक व धार्मिक नियमों के अतिक्रमण के विरुद्ध प्रायश्चित्त नहीं होता। प्रायश्चित्त का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। यज्ञ तथा कर्मकाण्ड में त्रुटि, जाने या अनजाने किए अपराध, विचार में किए गए पाप, ऋणों को न चुकाना—विशेष रूप से जुए के ऋणों का—नियम-विरुद्ध विवाह जैसे बड़े भाई से पहले छोटे भाई का विवाह इत्यादि सभी पाप कहलाते हैं। अथर्ववेद में अपराध और पाप तथा उनके परिणामों से मुक्ति के लिए भी सामान्य रूप से अनेक प्रार्थनाएँ हैं। मानसिक तथा शारीरिक दुर्बलताएँ, अपशकुन, दुःस्वप्न, अचानक होने वाली दुर्घटनाएँ मन्त्रों के द्वारा दूर की जाती हैं, या उनके प्रभाव को कम किया जाता है। अपराध, पाप, बुराई, दुर्भाग्य आदि शब्द प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते दिखाई देते हैं। तथ्य यह है कि हर बुरी चीज बिमारी या दुर्भाग्य, अपराध या पाप के समान ही 'बुरी आत्मा' (भूत प्रेत इत्यादि) द्वारा मानी जाती है। वन्ध्या या पागल मनुष्य के समान ही बुराई या पाप करने वाले को भी किसी दुष्ट असुर द्वारा ग्रस्त माना जाता है। जो असुर रोग उत्पन्न करते हैं, वे ही अपशकुन व दुर्घटनाएँ भी उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए (अथर्व०१०.३) एक तावीज की पच्चीस मन्त्रों में अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की गई है। इसके विषय में कहा गया है कि यह प्रत्येक प्रकार के खतरों व बुराइयों से बचाता है। बुरे जादू, दुःस्वप्न व अपशकुन से बचाता है। तथा "उस पाप से बचाता है जो मेरी मां ने, जो मेरे पिता ने, जो मेरे भाइयों ने, जो मेरी बहन ने, जो हमने खुद किया है।" तथा इसके साथ ही यह तावीज सब रोगों के लिए रामबाण है।

परिवार में परस्पर झगड़े भी दुष्ट आत्माओं, या हानि पहुँचाने वाले

१. दुर्भिक्ष के समय गौएँ दुर्बल हो गई हैं। इसलिए गोपालकों का प्रव्रजन आवश्यक हो गया है।

२. ये रुद्र के नाम या आकार हैं। अथर्ववेद में इस देव का जादू टोने के लिए बहुत महत्त्व है, जबकि ऋग्वेद में यह कोई मुख्य देवता नहीं है।

जादूगरों के जादू के कारण से होते हैं। इसलिए अथर्ववेद में अनेक ऐसे जादू के मन्त्र हैं जिनसे परिवार में सामञ्जस्य स्थापित होता है। इन मन्त्रों का स्थान प्रायश्चित्त मन्त्रों और आशीर्मन्त्रों के मध्य में है, क्योंकि इस वर्ग में केवल वे मन्त्र हैं जिनसे परिवार में शान्ति सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है। वे मन्त्र भी हैं जिनसे अपने स्वामी के क्रोध को शान्त किया जाता है, सभा व समाज में किसी को अनुकूल बनाया जाता है, मुकदमों में विजय प्राप्त की जाती है इत्यादि। ऐसे रुचिकर सूक्तों में एक सूक्त (अथर्ववेद ३.३०) निम्न शब्दों से प्रारम्भ होता है—

एक हृदय हो हो मनस् एक; द्वेषरहित मैं तुम्हें बनाता
एक दूसरे को तुम चाहो, जात वत्स की ज्यों गौ माता
पुत्र पिता का अनुव्रत होवे, हो माता से सदा एक मन
जाया पति से मधुर शान्तिमय वाणी बोले (हो हृष्टवदन)
भ्राता भ्राता से औ' स्वसा स्वसा से करे न कोई द्वेष
हुए एकमत, रख समान व्रत बोलें वाणी भद्र विशेष।

निस्सन्देह इन सामञ्जस्य मन्त्रों में कुछ को पति और पत्नी के बीच में झगड़ों को दूर करने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है; परन्तु विवाह और प्रेम के मन्त्रों का अथर्ववेद में पृथक् वर्ग है। तथा "कौशिक सूत्र" में हमें अनेक प्रकार के प्रेम के लिए जादू टोने और जादू के कर्मकाण्ड मिलते हैं, जिन्हें 'स्त्रीकर्माणि' कहा जाता है। इस वर्ग में दो प्रकार के मन्त्र हैं और इनका संबंध कुछ पवित्र जादू के कर्मकाण्डों से है जिनके द्वारा कोई कुमारिका वर को या नवयुवक वधू को प्राप्त करता है। पति पत्नी तथा नवविवाहित वर-वधू के लिए आशीर्वाद के मन्त्र हैं। गर्भस्थिति तथा पुरुषसन्तान की उत्पत्ति के लिए मन्त्र हैं। गर्भवती स्त्री, गर्भस्थ शिशु तथा नवजात शिशु की रक्षा के लिए मन्त्र हैं इत्यादि। ऋग्वेद का सम्पूर्ण चतुर्दश काण्ड इस वर्ग में आता है। इसे ऋग्वेद के विवाह मन्त्रों का परिवर्द्धित संस्करण कहा जा सकता है। दूसरा वर्ग है जिसमें हानिकारक झाड़ फूँक और अभिशाप हैं जिनका सम्बन्ध प्रेम के षड्यन्त्रों और विवाहित जीवन के झगड़ों से है। तो भी इनमें कुछ हानिकारक मन्त्र भी हैं जिनके द्वारा कोई पत्नी अपने पति की ईर्ष्या को शान्त करना चाहती है या कोई पति अपनी व्यभिचारिणी पत्नी को वश में करना चाहता है। ऐसे मन्त्र भी हैं जो नींद लाने में सहायक हैं (अथर्व० ४.५)। निम्न मन्त्र में एक प्रेमी जब चोरी चोरी अपनी प्रेमिका के पास गया है, उस समय प्रार्थना करता है "भगवान् करे इसके माता पिता, कुत्ता, घर में सबसे वृद्ध व्यक्ति, मेरी प्रेमिका के सब सम्बन्धी तथा आस पास के और सब लोग सो जाएँ।" ऐसे मन्त्र भी हैं जिनके प्रयोग से कोई किसी पुरुष या स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपने वश में करता है (वशीकरण मन्त्र)। यह विश्वास विश्व की सब जातियों में देखने में आता है। किसी मनुष्य के चित्र के द्वारा उसे हानि पहुँचाई जा सकती है या उसे वश में

किया जा सकता हैं।" प्राचीन भारत में भी यह प्रचलित था (यदि कोई पुरुष किसी स्त्री के प्रेम को वश में करना चाहता था तो वह एक धनुष बनाता था जिसकी डोरी सन की होती थी और बाण के अग्रभाग में कांटा होता था। उस बाण में उल्लू का पंख लगाया जाता था और यह बाण काली लकड़ी से बना होता था। इस बाण से वह उसकी मूर्ति के हृदय को बींध देता था। यह प्रेम के देवता कामदेव के बाण का प्रतीक था। बींधते हुए वह इन मन्त्रों को पढ़ता था (अथर्व० ३. २५)—

दे उत्पीड़क तुझको पीड़ा, चिपकी अपने रह न शयन से
भीषण बाण काम का जो है, विद्ध हृदय तब करता उससे।
अभिलाषा के पंख लगे हैं, लगे काम के जिसमें तार
संकल्पों से घिरा हुआ जो, बाण सुसंनत किया उदार।
उससे तेरा हृदय विद्ध कर दिया (दीप्त हो ऊष्मिल प्यार)
जलती अभिलाषा से विद्ध हुई तू शुष्कमुखी आ प्यारी
मृदुल, अनुव्रता, विमन्यु, बस मम प्रिया बनी प्रियंवदा आ री।
तेरी माता और पिता से मैं लाता हूँ तुझे खींच कर
जिससे रह तू मेरे बस में, रह मेरी इच्छा पर निर्भर
मित्र वरुण देवो, इसके डर से दूर भगा दो सब विचार
रहे न इसमें कोई इच्छा, हो मम वश में सब प्रकार।

अगर कोई स्त्री किसी पुरुष को वश में करना चाहती तो वह भी इसी प्रकार करती थी। वह पुरुष की मूर्ति बनाती थी और गर्म किए हुए बाणों से उसे बींधती थी और निम्न मन्त्र पढ़ती थी (अथर्व० ६. १३०-१३८) जिन मन्त्रों की टेक है—"हे देवो मेरी इच्छा को वहाँ भेजो कि वह मेरे प्रेम की ज्वाला में जलने लगे—

मरुतो, पागल कर दो उसको, अन्तरिक्ष, तू कर दे पागल
पागल करदे अग्नि, प्रेम में मेरे व्याकुल हो वह जल जल।

६.१३०.४

सिर से पावों तक मैं तुझको कर रहा प्रेम-कामना-ग्रस्त
देवो, स्मर को भेजो, उसका डर हो मेरे प्रति प्रेम-तप्त।

६.१३१.१

योजन तीन, अश्व-पथ दैनिक योजन पाँच, भले भग जा रे।
तू आएगा लौट, बनेगा पुत्रों का प्रिय पिता हमारे।

६.१३१.३

निम्न मन्त्रों से पुरुष स्त्री को अपने वश में करता है (अथर्व० १.१४)—

इस नारी की गरिमा वर्चस् मैंने किए ग्रहण
जैसे किसी वृक्ष से माला ले करता धारण

ठहरे पितृ-गृह यह मेरे नारी सदा सबल
जैसे महाधार पर्वत है रहता स्थिर अविचल।
हे राजन् यम, यह कन्या है तेरी वधू सुकल्याणी
तेरी माता, भ्राता और पिता के घर की यह रानी।
हे राजन्, तुझको देते यह नारी तेरे कुलकी पालक
तेरे पितृगृह में यह विलसे होती विकसित सदा अन्त तक।
'ब्रह्म' असित, कश्यप, गय का जो तेरे अन्दर
उससे तेरी गरिमा को मैं बांध रहा दृढ़तर
जैसे मंजूषा को नारी बंद करे कस कर।[1]

इसी प्रकार की उग्रता लिए हुए वे मन्त्र हैं, जो किसी स्त्री को वन्ध्या बनाने के लिए (६.३५) या किसी पुरुष को नपुंसक बनाने के लिए (अथर्व० ६.१३८; ७.९०) किए जाते हैं। इन मन्त्रों का पुराना नाम "अङ्गिरसः" था। इन्हें आभिचारिकाणि (अभिचार से संबंध रखने वाले) कहते हैं। रोग-निवारण के कुछ मन्त्र भी इस वर्ग में सम्मिलित किए जा सकते हैं; क्योंकि अंशतः उनका प्रयोग रोग में दैत्य के विनाश के लिए है : षोडश काण्ड के उत्तरार्द्ध में दुःस्वप्न के विरुद्ध झाड़ फूंक के मन्त्र हैं। इनमें दैत्य को कहा गया है कि वह जाकर हमारे शत्रुओं को ग्रस्त कर ले। इन मन्त्रों में दैत्यों, दुष्ट जादूगरों और जादूगरनियों में कोई अन्तर नहीं किया गया है और विशेष रूप से अग्नि देवता को आहूत किया गया है कि वह इनका नाश करें और हमारी रक्षा करें। इनमें अनेक दैत्यों के नाम आए हैं।

१. विन्टरनिट्ज के मत में ब्लूमफील्ड ने सर्वप्रथम इन मन्त्रों के अर्थ को स्पष्ट किया। विन्टरनिट्ज के मत में इन मन्त्रों के द्वारा कोई पत्नी अपनी सपत्नी के विरुद्ध जादूटोना कर रही है। ह्विटनी के मत में ये मन्त्र चिरकुमारिका (spinster) के विषय में हैं।

हिन्दी-अनुवादक के मत में ये मन्त्र पति के घर में पत्नी के स्थायिरूप से रहने के विषय में हैं। पति को राजा यम कहा गया है।

ब्लूमफील्ड तथा विन्टरनिट्ज इत्यादि इन्हें सपत्नी के प्रति अभिशाप रूप में लेते हैं—पत्नी कहती है 'यह सपत्नी अपने माँ बाप के घर में ही बैठी रहे और वहीं बुढ़िया हो जाए, इसके बाल झड़ जाएँ' इत्यादि।

पाठकों के विचारार्थ मन्त्र दिए जा रहे हैं—

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्॥ १॥
एषा ते राजन् कन्या वधूर्निधूयतां यम।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः॥ २॥
एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात्॥ ३॥
असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च।
अन्तः कोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम्॥ ४॥

अथर्व० १.१४.

इन मन्त्रों से प्रकट होता है कि यह बद्धमूल जन-प्रचलित विश्वास था कि बिमारियों और दुर्भाग्य को उत्पन्न करने वाले केवल दैत्य ही नहीं हैं परन्तु जादू टोना करने वाले दुष्ट मनुष्य भी हैं। वे मन्त्र भी दिए गए हैं जिनका दुष्ट मनुष्य प्रयोग करते हैं और इन मन्त्रों को काटने वाली औषधियाँ, तावीज और तिलिस्म भी दिए गए हैं। दुष्टों के मन्त्र और उनकी काट के मन्त्रों की भाषा बड़ी प्रवाह से युक्त और उग्र है, जिसका अपना सौन्दर्य है। अथर्ववेद के इन अभिशापों और झाड़फूंक के कुछ मन्त्रों में ऋग्वेद के कर्मकाण्ड के मन्त्रों से अधिकतर उत्कृष्ट काव्य के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए बुरे जादू के प्रभाव को दूर करने के लिए कुछ मन्त्र उद्धृत हैं—(अथर्ववेद-५.१४)

तुझको सुपर्ण ने पाया, सूकर ने किया नाक से खनन
हे ओषधि, दुष्ट जन का कर दे तू पूर्णतया हनन
जादू टोना करने वाले का कर दे तू नाश तत्क्षण। [१]
सपदि यातुधानों को औषधि तू मार मार कर दूर भगा दे
जादू टोना करने वाले दुष्टों को तू मार गिरा दे
हिंसक लोगों को विनष्ट कर, इस धरती से नाम मिटा दे। [२]
हिंसक के हिंसाबल को तुम देवो ऐसे काट मिटा दो
जैसे किसी हिरन की त्वक् को कोई छीले, इन्हें गिरा दो
जो जादू टोना करते जन
उन्हें तुम्हारे बांधें बन्धन। [३]

जादू टोना करने वालों के टोने को पकड़ हाथ से
जाकर उसके सम्मुख रख दे, टोना जाकर ले पकड़ उसे
उस पापी की हिंसा उसे मार डाले, न बचे वह तुझसे। [४]

टोना पड़े सपदि टोना करने वाले के ही जा सिर पर
जो देता अभिशाप पड़े वह तत्क्षण जाकर उसके ऊपर
टोना पड़े उसी पर जाकर जो जादू टोना करता
वह पिस जाए जैसे कोई किसी सुरथ के नीचे पिसता। [५]

स्त्री हो या हो पुरुष यहाँ जो पापी जादू टोना करता
उसे उसी पर हम डालेंगे दुष्ट नहीं है वह बच सकता
उसको हम ऐसे बाँधेंगे जैसे अश्व रज्जु से बंधता। [६]

जादू टोने, तू अपने करने वाले पर ही जा पड़ जा
ज्यों पुत्र पिता के पास चला जाता, उसके पास पहुँच जा
पैरों के नीचे आए सर्प समान उसे तू झटपट
भगा यहाँ से जैसे कोई भागा करता बन्धन से छुट। [१०]

इसी प्रकार एक सूक्त (अथर्व० ६,३७) में अभिशाप का मूर्तीकरण किया गया है और उसे अभिशप्ता के पास वापिस भेजा गया है। मन्त्रों की भाषा अत्यन्त उग्र है—

मम अभिशाप चला रथ जोड़
इसके नयन हजार करोड़
खोज रहा अभिशप्ता को यह
जैसे खोजे वृक अविमद-गृह। [१]
अभिशाप दूर रह तू हम से
जैसे जलती ज्वाला ह्रद से
अभिशप्ता पर पड़ जा जाकर
जैसे बिजली पड़े वृक्ष पर। [२]
दिया नहीं हमने अभिशाप
जो जन हमको दे अभिशाप
हम दें बदले में अभिशाप
जो दे पुनः हमें अभिशाप। [३]
वह जन है पापी नीच अबल
मैं बना मृत्यु का उसे कवल
फेंक सामने दूंगा ऐसे
कुक्कुर-संमुख हड्डी जैसे। [३]

यहाँ हम अथर्ववेद के महान् गरिमामय वरुण सूक्त (४.१६) का उल्लेख कर सकते हैं। इस सूक्त के पूर्वार्द्ध में महान् वरुण देव की सर्वज्ञता का गान है। इस सूक्त की भाषा हमें बाइबल के स्तुति-गीतों का स्मरण कराती है। ऐसे उत्कृष्ट गीत प्राचीन भारतीय साहित्य में कम ही हैं। इस सूक्त के उत्तरार्द्ध में असत्यवादियों और निन्दकों के विरुद्ध उग्र मन्त्र हैं, जैसे कि अथर्ववेद में प्रायः मिलते हैं। दोनों प्रकार के मन्त्र देखिए—

इन सबका बृहद् अधिष्ठाता देख रहा ज्यों अति समीप से
जो कुछ भी जन जग में करते हैं देव जानते सपदि उसे
समझा करते व्यर्थ मूर्ख वे छिप सकते हैं छलकर उससे। [१]
जो ठहरा है, जो चलता है, छिपा छिपा जन जो फिरता है
गुप्त स्थान पर जा छिपता है—कुछ भी करे, नहीं बचता है।
दो जन गुप चुप कहीं पर किया करते जो बैठ मन्त्रणाएँ
राजा वरुण तृतीय जानता, कोई कितना छिपे, छिपाए। [२]
है यह भूमि वरुण राजा की, और बृहत् गगन तारक-मण्डित
बहुत दूर तक जो है फैला, वह भी है उससे ही शासित

ऊपर नीचे के समुद्र ये उसकी कांखों बीच समाए
औ' देखो यह खुद को है इस अल्प उदक में पड़ा छिपाए। [३]
भाग परे द्युलोक से जाए कोई भी, वह बच न सकेगा
राजा वरुण उसे सब स्थानों पर जाकर तत्क्षण पकड़ेगा
दूर गगन से नीचे आकर रहे गुप्तचर देख भूमि पर
उनके नयन हजारों, उनसे बच सकता कोई न दुष्ट नर। [४]

भूमि-द्युलोक-मध्य जो कुछ है, जो कुछ इससे परे कहीं पर
सब कुछ राजा वरुण देखता, सब पर उसकी पड़ रही नजर
जन जन के एक एक निमेष गिने हुए हैं उसके द्वारा
जैसे अक्ष जुआरी फेंके, वह जीते क्षण में जग सारा। [५]

वरुण, पाश तेरे फैले जो सप्तसप्त ये त्रिविध विघातक
छिन्न भिन्न वे कर दें उसको, नर जो अनृत बोलता वंचक
और सत्यवादी को ये कुछ नहीं कहें, उसके हितकारक। [६]

नर नर की गति लखने वाले वरुण, सैकड़ों तेरे पाश
बाँध अनृतभाषी को ये लें, उसे न छोड़ें, करें विनाश
उदर नीच का ढलके नीचे, जैसे हो कोई मशक शिथिल
बिना बन्धनों के हो लटकी कटी-फटी-सी विस्रस्त विफल। [८]

हैं विविध वरुण के पाश, बंधा सीधा कोई, विस्तृत कोई।
बाँधे कोई, फेंके कोई, दिव्य और मानववत् कोई [८]
उनसे बांधूँ तुझे पुत्र अमुक पिता के व अमुक माता के
वे सब बन्धन तेरे जैसे दुष्टों हित रखे हैं ला के। [६]

इस सूक्त के विषय में रॉथ का कथन है—"सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में इतना दिव्य कोई और सूक्त नहीं है। इसमें भगवान् की सर्वज्ञता का प्रभावशाली शब्दों में वर्णन किया गया है। परन्तु इस सुन्दर कलामय सूक्त को भी कुछ अभिशाप के मन्त्रों द्वारा विकृत कर दिया गया है। इससे हमें ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन आध्यात्मिक मन्त्रों को भी जादू टोने के काम के लिए प्रयुक्त कर लिया जाता था। यह बात अथर्ववेद के अन्य भागों में भी देखने में आती है। इस सूक्त के पाँच या छः मन्त्र उस प्राचीन दिव्य आध्यात्मिक काव्य के निदर्शन हैं।" मैं इन शब्दों से पूर्णतया सहमत हूँ। ब्लूमफील्ड की यह मान्यता कि आरम्भ में ही 'यह सारा सूक्त जादू-टोने की दृष्टि से रचा गया था' मुझे सर्वथा अग्राह्य प्रतीत होता है।

अथर्ववेद में जादू के मन्त्रों का एक ऐसा बृहद् वर्ग है जो कि राजाओं की आवश्यकताओं की दृष्टि से रचा गया था। इसमें कुछ मन्त्र शत्रुओं के खिलाफ जादू-टोने के हैं और कुछ आशीर्मन्त्र हैं। भारत में प्रत्येक राजा के लिए यह अनि-

वार्य था कि वह एक पुरोहित रखे। यह पुरोहित राजा से संबंध रखने वाले जादू-मन्त्रों में (राजकर्माणि) दक्ष होता था। और वह इस कर्मकाण्ड से सम्बद्ध जादू-टोनों में भी दक्ष होता था। इसलिए अथर्ववेद का क्षत्रियों से निकट सम्बन्ध है। अथर्ववेद में राजा के राज्याभिषेक के मन्त्र हैं। राजा पर पवित्र जल छिड़का जाता था और वह व्याघ्रचर्म पर पद-न्यास करता था। राजा को अन्य राजाओं पर विजय-प्राप्ति कराने वाले मन्त्र, जब वह कवच पहनता था, अपने युद्धरथ पर चढ़ता था, उस समय के बोलने के मन्त्र हैं। अथर्ववेद ३.४ में राजसूय यज्ञ का वर्णन है जिसमें राजा का निर्वाचन होता था और जहाँ दिव्य राजा वरुण प्रकट हो कर राजा का निर्वाचन करता था। वरुण का प्रवेश इसलिए कराया गया कि निर्वाचन की दृष्टि से वरुण 'वृ' (चुनना) धातु से बना है। अथर्ववेद (३.३.) में निर्वासित राजा के पुनः राज्यप्राप्ति के मन्त्र हैं। अथर्ववेद में युद्ध तथा यात्रा के भी अनेक मन्त्र हैं। विशेष रूप से दुन्दुभि को सम्बोधित किए गए दो सूक्त (अथर्ववेद ५.२० तथा २१) उल्लेखनीय हैं। इनमें योद्धाओं का युद्ध तथा विजय के लिए आह्वान किया गया है। उदाहरण के रूप में ५.२० के कुछ मन्त्र उद्धृत हैं—

वनस्पति-विनिर्मित यह दुन्दुभि है चर्म-सूत्र-दृढ़-बद्ध ग्रथित
इसका यह ऊँचा घोष उठा, यह वीरकर्म-रत हुई ध्वनित
दुन्दुभि, तू निज स्वर ऊँचा कर बढ़ती करती शत्रु-विजय
सिंह-तुल्य गर्जन कर, मानें विकल शत्रुगण सब तेरा भय। [१]

जैसे वृषभ यूथ में जाना जाता अपने अतिशय बल से
गौओं औ' धन की जय करती दुन्दुभि, बढ़ तू, अरिगण झुलसे
अरियों के डर को बींध शोक से दे तू, सारे वे अरिगण
हुए पराजित भागें वे ग्रामों को तज भीति-ग्रस्त तत्क्षण [३]
दूर दूर तक गुंजित होती दुन्दुभि की ध्वनि सुन दुख पीड़ित
निद्रा से जागी अरि-नारी घातक-अस्त्र-विभीत प्रकम्पित
पकड़ पुत्र का हाथ भागती दूर दिखाई दे गति से द्रुत[1] [५]

प्रारम्भ से ही ब्राह्मण लोगों ने जादू-टोने के मन्त्रों को राजाओं और अन्य व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त किया और अपना प्रयोजन भी सुरक्षित रखा। 'राज-कर्माणि' में जादू के कुछ स्तोत्र हैं जिनका अधिक संबंध पुरोहितों से है। ये पुरोहित राजाओं के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक थे। ब्राह्मणीय साहित्य में जादू-टोने और झाड़ फूंक आदि के विरुद्ध भी कथन मिलते हैं तो भी मनुस्मृति (११.३३)

१. दक्षिण भारत में बहुत परवर्ती काल तक भी दुन्दुभि की पूजा होती थी और उसे वही मान दिया जाता था जो कि यूरोप में सेना के युद्ध-ध्वज को दिया जाता है। H. A. Popley, *the Music of India*.

में स्पष्ट कहा है—"ब्राह्मण बिना किसी संकोच के अथर्ववेद के पावन मन्त्रों का उपयोग करें। वस्तुतः शब्द ही ब्राह्मण का आयुध है, इससे वह शत्रुओं का नाश कर सकता है।" इस प्रकार अथर्ववेद में हमें अनेक जादू के स्तोत्र व झाड़फूंक के मन्त्र मिलते हैं; जिनसे ब्राह्मणों का अपना प्रयोजन सिद्ध होता है। इन सूक्तों में इस बात पर विशेष बल दिया गया है। ब्राह्मणों और ब्राह्मणों की सम्पत्ति को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुचाई जानी चाहिए और उनके विरुद्ध अत्यन्त उग्र अभिशापों का विधान है जो कि ब्राह्मणों की सम्पत्ति पर हाथ डाले या ब्राह्मणों के प्राणहरण की चेष्टा करे। इसके अतिरिक्त अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वचनों में दक्षिणा के रहस्यमय अर्थ पर बल दिया गया है। सब से बड़ा पाप है ब्राह्मणों पर अत्याचार करना; और सबसे बड़ा पुण्य है उन्हें उदारता से दक्षिणा देना। बहुत मन्त्रों में ये विचार अन्तःस्यूत हैं और ये ही वे मन्त्र हैं जिनका ज्ञानोपदेश से कोई संबंध नहीं है। इन मन्त्रों में कुछ ही ऐसे हैं जिनमें ज्ञान के आलोक, बुद्धि, कीर्ति तथा आध्यात्मिक ज्ञान के लिए प्रार्थना है। इस वर्ग से संबंध रखने वाले सब मन्त्रों को बिना किसी संकोच के अथर्ववेद संहिता के अर्वाचीनतम भाग में रखा जा सकता है।

अथर्ववेद के परवर्ती भागों में ऐसे मन्त्र भी हैं, जिनकी रचना यज्ञीय दृष्टि से हुई। वे सम्भवतः अथर्ववेद में इसलिए सम्मिलित किए गए जिससे कि इनका संबंध यज्ञ से स्थापित हो सके और इसे वास्तविक 'वेद' के रूप में स्वीकृत कराया जा सके। उदाहरणार्थ अथर्ववेद में दो "आप्री" सूक्त हैं, जो कि ऋग्वेद के यज्ञीय स्तोत्रों के समान हैं। अथर्ववेद में यजुर्वेद के समान गद्यमय मन्त्र भी हैं। उदाहरणार्थ षोडश काण्ड के सम्पूर्ण पूर्वार्द्ध के मन्त्रों में जल की स्तुति है। जिसका संबंध किसी न किसी पवित्र करने वाले कर्मकाण्ड से है। अष्टादश काण्ड में अन्त्येष्टि-संस्कार तथा पितरों की पूजा से संबद्ध सूक्त हैं; वे भी इस वर्ग के हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्त्येष्टि संस्कार के मन्त्र यहाँ अक्षरशः उद्धृत हैं। इनमें यत्र-तत्र पर्याप्त परिवर्द्धन किए गए हैं। अथर्ववेद के विंश काण्ड के सूक्तों का संबंध सोमयाग से है। अत्यल्प अपवादों के साथ ये सूक्त भी ऋग्वेद से लिए गए हैं। इस काण्ड के नवीन सूक्त केवल 'कुन्ताप' (अथर्व० २०.१२७.३६) सूक्त हैं। ये ऋग्वेद की दान-स्तुतियों के समान हैं; इनमें किन्हीं राजाओं की उदारता की स्तुति की गई है। अंशतः इसमें पहेलियाँ और उनके हल हैं।[1] इनमें अश्लील मन्त्र तथा असभ्य परिहास भी हैं। कुछ यज्ञ बहुत दिनों तक चलते थे। उनमें इस प्रकार के सूक्त ब्राह्मणों के परस्पर वार्तालाप के लिए विहित थे।[2]

---

१. ऋग्वेद के 'अस्यवामीय' सूक्त के समान।

२. कुन्ताप-सूक्तों पर विस्तार के लिए देखिए—ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद *GRUNdriss* ११. I. B. I. सम्भवतः दक्षिणा के समय के आनन्दोत्सव के ये भाग थे। अनेक

अथर्ववेद में अन्तिम उल्लेखनीय सूक्त वर्ग वह है, जिसमें आध्यात्मिक और सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी मन्त्र हैं जो कि निस्सन्देह काल की दृष्टि से अर्वाचीन हैं। वस्तुतः दर्शन-विद्या और जादू-टोने का बहुत दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए किसी के लिए भी यह आश्चर्य का विषय होगा कि अथर्ववेद में जादू-टोने के तथा आशीर्मन्त्रों के अतिरिक्त दार्शनिक सूक्त भी हैं। तथापि यदि हम इन सूक्तों का सूक्ष्मतः अध्ययन करें तो अनायास ही यह ज्ञात हो जाएगा कि जादू-टोने के मन्त्रों के समान इन मन्त्रों का भी प्रयोजन केवल व्यावहारिक है।[1] इनमें पाठक को सत्य के लिए उत्सुकता या खोज के दर्शन नहीं होते और न ही विश्व की अनबूझ पहेली के हल का कोई प्रयास दृष्टिगोचर होता है। केवल अतिप्रसिद्ध दार्शनिक वचनावलियों को वाक्-चतुरता से कृत्रिम रूप से प्रयुक्त किया गया है। और कल्पना का निरर्थक मूर्खतापूर्ण ताना बाना बुना गया है, जिससे कि यह प्रभाव पैदा किया जा सके कि लिखने वाले अत्यन्त गम्भीर रहस्य की बात कह रहे हैं। प्रथम दृष्टि में हमें ये मन्त्र अत्यन्त गाम्भीर्य से युक्त प्रतीत होते हैं परन्तु वस्तुतः ये थोथे रहस्य के आडम्बर के सिवाय कुछ नहीं हैं। इनमें कोई गम्भीर बात नहीं, निरर्थक बातें भरी हैं और वस्तुतः रहस्य का आडम्बर करना और रहस्यमय पर्दे में वास्तविकता का गोपन जादूगर के कार्य-कलाप का अंग है। तथापि इन दार्शनिक सूक्तों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनसे पूर्व आध्यात्मिक चिन्तन बहुत विकसित हो चुका था। उपनिषदों के मुख्य मुख्य विचार सृष्टि के कर्ता और धारक (प्रजापति) का स्वरूप चिन्तन तथा एक अव्यक्त अज्ञात स्रष्टा के सम्बन्ध में विचार और इसके अतिरिक्त ब्रह्मन्, तपस्, असत्, प्राण, मनस् इत्यादि अनेक दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि इन सूक्तों की रचना के समय एतादृश विचार बहुप्रचलित थे। इस दृष्टि से हम अथर्ववेद के आध्यात्मिक तथा सृष्टि-उत्पत्ति संबंधी सूक्तों के आधार पर यह नहीं कह सकते कि ये भारतीय दर्शन के विकास का एक सोपान हैं। ऋग्वेद के वास्तविक दार्शनिक सूक्तों के सर्जनात्मक विचारों का विकास तो केवल उपनिषदों में हुआ है और अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों को इन दोनों के बीच की कड़ी नहीं कहा जा सकता। डूसन के शब्दों में—"अथर्ववेद के ये सूक्त विकास के महान् क्रम के अन्तर्गत नहीं हैं अपितु एक पार्श्व में हैं।[2]

अथर्ववेद के इन सूक्तों के 'रहस्यमय' कुहासे में से कभी कभी कई गम्भीर और वास्तविक दार्शनिक विचार भी झलकते दिखाई देते हैं। परन्तु अधिकांश के विषय में यह कहा जा सकता है कि इन विचारों के स्रष्टा अथर्ववेद के कवि नहीं

अवसरों पर इन उत्सवों में ब्राह्मण ठूंस ठूंस कर खाते थे, अधिक मद्यपान करते थे और उसके बाद उथले मजाक, अश्लील वार्तालाप और उससे भी घटिया काम करते थे। (वही पृष्ठ १००)

१. देखिए F. Edgerton *The Philosophical Materials of the Atharvaveda* (पृष्ठ ११७. ff.)।

२. Deussen AGPH. I, I, P. 209.

हैं। उन्होंने केवल दूसरों के मौलिक विचारों को अपने प्रयोजन की दृष्टि से प्रयुक्त किया है। काल-सूक्त में यह कहा है कि काल पूर्ण सृष्टि का प्रथम कारण है। और यह विचार किसी सच्चे दार्शनिक की लेखनी से ही प्रसूत हो सकता है। तथापि जब हम काल-सूक्त (अथर्व० १६.५३) का अध्ययन करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि यह एक दार्शनिक की भाषा न होकर रहस्यवादी की भाषा है—

दौड़ रहा है काल अश्व यह, सात रश्मियों से है बद्ध
इसके नयन हजारों, अजर भूरिरेता यह सदा प्रबुद्ध
विपश्चित् क्रान्तदर्शी ही करते इसका सम्यक् आरोहण
उसके रथ के चक्र बने ये चलते हैं सारे वितत भुवन।
सात चक्र वाले रथ को यह काल अश्व लेकर है भगता
सात नाभियाँ इसकी, इसका अक्ष अमृत शाश्वत है रहता
यह सारे भुवनों का करता वहन काल है चलता जाता
प्रथम देव यह आगे आगे बढ़ता है गति में मदमाता।
विलसे पूर्ण कुम्भ यह रखा काल के ऊपर
नाना रूपों में उसको हम रहे देख नर
सब भुवनों के संमुख है वह भ्रमण-परायण
परम व्योम में उसे काल कहते ज्ञानीजन। इत्यादि—

समय से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ, यह विचार पञ्चम तथा षष्ठ मन्त्र में सुचारु रूप से अभिव्यक्त हुआ है—

रचा काल ने दूर दिखाई देता है जो नभ ज्योतिर्मय
रची काल ने ये वसुधाएँ, कोटि प्राणियों का जो आश्रय
भूत, भविष्यत् सभी काल से ये गति पाकर के चलते हैं
ये सब इसके ही आश्रय से नाना रूपों में रहते हैं।
किया काल ने सृजन भूमि का, सूर्य काल में ही तपता है
सब प्राणी हैं यहाँ काल में, चक्षु काल में ही लखता है।

परन्तु इसके ठीक अनन्तर के मन्त्रों में तथा अगले सूक्त (१६.५४) में यांत्रिक रूप से सब प्रकार की चीजें गिना दी गई हैं और कहा गया है कि ये काल से उद्भूत हुई हैं; विशेष रूप से परमात्मा के विभिन्न नाम, जो उस समय प्रचलित थे, काल से उद्भूत कहे गए हैं, जैसे प्रजापति, ब्रह्मन्, तपस्, प्राण इत्यादि।

अथर्ववेद के त्रयोदश काण्ड (रोहित सूक्तों) में वास्तविक तत्त्वविद्या की बात न होकर रहस्यात्मक ऊहापोह का आडम्बर किया गया है; परस्पर असम्बद्ध कई बातों को विशृंखलित रूप से एकत्र जमा कर दिया गया है। उदाहरणार्थ प्रथम सूक्त में रोहित (सूर्य या सूर्य की शक्ति) की सर्जक शक्ति के

रूप में स्तुति की गई है—"उसने द्युलोक और पृथ्वीलोक को उत्पन्न किया।" "बल से उसने पृथ्वीलोक और द्युलोक को दृढ़ किया।" इसके साथ ही एक पार्थिव राजा के गौरव का गान भी किया गया है तथा आकाश के राजा रोहित का पार्थिव राजा के साथ जैसे तैसे संबंध स्थापित करने का प्रयत्न भी किया गया है। इसके मध्य में शत्रुओं व प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध तथा गाय पर चरण प्रहार करने वाले या सूर्य की ओर मुख करके मूत्र-विसर्जन करने वाले लोगों के विरुद्ध अभिशाप किये गए हैं। पुनः अथर्ववेद (१३.३) में कुछ मन्त्र उपरि उद्धृत वरुण सूक्त की उदात्त अनुभूतियों का स्मरण कराते हैं। इनमें रोहित की उत्कृष्टतम सत्ता के रूप में स्तुति की गई है। परन्तु इसके साथ ही एक मन्त्र में एक टेक है, जिसमें रोहित से प्रार्थना की गई है "तू क्रुद्ध होकर उसका विनाश करदे, जो ब्राह्मण पर अत्याचार करता है।" उदाहरणार्थ—

जो ज्योतिर्मय नभ और भूमि का करता है सर्जन
सब भुवनों को वस्त्र-तुल्य जो ओढ़े रहता प्रतिक्षण।
जिसमें ये छः दूर दूर तक वितत दिशाएं
जिनकी ओर गमन-रत पतंग यह शुभ आभा पाए।
कोई अगर विद्वान् ब्राह्मण को यहाँ सताता है
तो उस अपराधी पर वह देव क्रुद्ध हो जाता है।
रोहित, उसे कंपादे, उसका सर्वनाश तू करदे
ब्राह्मण-द्वेषी को पाशों में बाँध कैद तू करदे।
जिसमें ऋतु-अनुसार वायुएँ चलतीं, करतीं पावन
जिसमें सब समुद्र बहते, दिक् दिक् में करते नर्तन
कोई अगर विद्वान् ब्राह्मण को······कैद तू करदे।
जिसकी इच्छा से होता सबका मरण और जीवन
जिससे सभी भुवन करते प्राण यहाँ धारण
कोई अगर विद्वान् ब्राह्मण को······कैद तू करदे।
जो ज्योतिर्मय नभ औ' भू का करे प्राण से तर्पण
जो अपान से इस समुद्र का करता है जठर-भरण
कोई अगर विद्वान् ब्राह्मण को······कैद तू करदे।

रोहित के उदात्त गौरवमय वर्णनों के साथ ही साथ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें विचारों की ऊहापोह का प्रदर्शन है, जैसे यह कहा गया है कि बृहत् साम और रथन्तर साम ने रोहित को जन्म दिया। एक स्थान पर गायत्री के विषय में कहा गया है कि वह 'अमृत का गर्भ है।' ऐसे मन्त्रों के रहस्यमय अर्द्धान्धकार ने समावृत कर रखा है। इस रहस्य के अनावरण का प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होगा। इस लिए मेरे विचार में अथर्व० ४.११. जैसे सूक्तों में किन्हीं महान्

दार्शनिक सत्यों की खोज करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ अनड्वान् की विश्व के स्रष्टा और धर्ता के रूप में स्तुति की गई है—

अनड्वान् इस पृथ्वी औ' द्युलोक का करता धारण
विस्तृत अन्तरिक्ष के धारण का भी यह ही कारण।
अनड्वान् धारण करता है ये छः वितत दिशाएं
अनड्वान् इस विश्व भुवन में कर प्रवेश छवि पाए।

इस सूक्त में अनड्वान की इन्द्र तथा अन्य सर्वोत्कृष्ट देवों के साथ एकरूपता स्थापित की गई है, और कहा गया है कि यह अनड्वान् दूध देता है। "यज्ञ ही दूध है और दोहन दक्षिणा है।" पुनः कहा गया है "जो इस अनड्वान् के सप्त अक्षय दोहनों को जानता है वह सन्तति तथा स्वर्ग को प्राप्त होता है।" स्पष्ट ही इस प्रकार की बातें विशेष महत्त्व की नहीं हैं। इस अनड्वान् की अथर्व० ६.४. के (वृषभ) से तुलना की जा सकती है। उसके महत्त्व का इससे भी अधिक अतिरञ्जिततम वर्णन किया गया है कि "वह अपने पार्श्वों में विश्वरूपों को धारण करता है। प्रारम्भ में उसकी मूर्ति जलरूप थी" इत्यादि और अन्त में जाकर पता चलता है कि एक सामान्य बैल की चर्चा हो रही है, जिसकी बलि दी जानी है। तथ्य यह है कि इस अर्द्धपक्व दर्शन तथा रहस्यात्मकता के प्रदर्शन का खास क्रियात्मक प्रयोजन है। अथर्व० १०.१० से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध है। इसमें गाय का महान् रहस्यमय वर्णन है—"द्युलोक, पृथ्वीलोक तथा जल (आपः) गाय के द्वारा रक्षित किए गए हैं। सौ दोहन पात्र, सौ दोग्धा (सौ ग्वाले) इस गाय की पृष्ठ पर हैं। जो देव इस गाय में से सांस ले रहे हैं, वे इसे जानते हैं। गाय राजन्य की माता है। यज्ञ गाय का आयुध है। गाय से चित्त उत्पन्न हुआ है।" इस तरह यह वर्णन चलता जाता है। और यह रहस्यमय सिद्धान्त अपनी सीमा पर पहुँच जाता है "गाय ही अमृत है, गाय की ही मृत्यु के रूप में उपासना की जाती है; गाय ने ही सम्पूर्ण विश्व, देवों, मनुष्यों, असुरों, पितरों और ऋषियों का रूप धारण कर रखा है। (ये सब गाय ही हैं।)" और फिर इसके बाद स्तोताओं का क्रियात्मक प्रयोजन कथित है—"केवल वह ही जो इस रहस्य को जानता है, गाय को दक्षिणा के रूप में ग्रहण कर सकता है। और जो ब्राह्मणों को गाय का दान करता है वह सब लोकों को प्राप्त करता है क्योंकि गाय में ही ऋत, ब्राह्मण तथा तपस अर्पित (निहित) हैं। तथा—

देव वशा के आश्रय से करते हैं जीवन-धारण
औ' मनुष्य भी यहाँ वशा से ही पाते हैं जीवन।
रे जहाँ जहाँ भी सूर्य-रश्मियाँ यहां दमकती हैं
हर वस्तु जगत् की यहाँ वशा ही हमको यह दिखती है।

रोहित अनड्वान् तथा गाय के समान ही ब्रह्मचारी का भी उत्कृष्टतम सत्ता के रूप में गौरवगान है (अथर्व० ११.५)। अथर्ववेद १५ में उच्चतम ब्रह्मन् की

व्रात्य के रूप में स्तुति की गई है और उसे दिव्य व्रात्य कहा गया है तथा इसकी महादेव ईशान (रुद्र) से एकरूपता स्थापित की गई है और कहा गया है कि व्रात्य ही इन देवों का पृथ्वी पर प्रतिनिधि है। व्रात्यजन सम्भवतः पूर्वी भारत में रहने वाली कुछ जातियों का नाम था। वे आर्य थीं या आर्येतर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता ; परन्तु वे ब्राह्मण धर्म में सम्मिलित नहीं थीं। लकड़ी की बनी हुई गाड़ी पर युद्ध के उपकरणों के साथ उनकी टोलियां इधर उधर घूमती थीं। ये जन पशुपालक थे। इनके अपने ही रीति रिवाज और धार्मिक पूजा पद्धतियाँ थीं। परन्तु व्रात्यों को, कुछ यज्ञीय कर्मकाण्डों व संस्कारों के द्वारा ब्राह्मण-समाज में सम्मिलित कर लिया जाता था। अथर्ववेद के इस व्रात्य-काण्ड में सम्भवतः किसी ऐसे व्रात्य का गुणगान है, जिसे ब्राह्मण समाज में सम्मिलित किया गया है।[1]

डूसन[2] ने अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों के रहस्य के उद्घाटन में बहुत परिश्रम किया है ; और यह सिद्ध किया है कि इनमें कुछ संबद्ध एवं व्यवस्थित विचार हैं। उदाहरणार्थ वह कहता है कि "अथर्व १०.२ तथा ११.८ में ब्रह्म का मनुष्य में साक्षात्कार का वर्णन है तथा १०.२ में केवल बाह्य ऊहापोह से अधिक कुछ है, तथा ११.८ में बाह्य अर्थ के अन्दर गम्भीर अर्थ भी छिपा है।" मुझे इन सूक्तों में ऐसा कुछ दर्शन नहीं दिखाई देता। मेरा यह विश्वास है कि इन प्रकरणों को लिखने वाले भी अर्द्धपक्व दार्शनिक थे। मनुष्य में विश्वात्मा के सिद्धान्त के प्रवर्तक ये लोग नहीं थे। यह सिद्धान्त इससे पूर्व ही पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। इन पुरोहितों ने फिर इन्हें रहस्यात्मक रूप देकर उलझे एवं विशृंखलित रूप से प्रस्तुत किया ; जबकि ऋग्वेद (१०.१२१) के एक उदात्त सूक्त में एक गम्भीर विचारक और सच्चे कवि ने सशक्त शब्दों में विश्व की शोभा का वर्णन किया है और जिज्ञासा प्रकट की है कि स्रष्टा कौन है—(कस्मै देवाय हविषा विधेम)। अथर्ववेद १०.२ में एक पद्य रचना करने वाले ने मनुष्य के एक एक अंग गिनाए हैं और प्रश्न किया है कि इन्हें किसने उत्पन्न किया है—

किसने ये एड़ियां बनाईं, किसने मांस, गुल्फ किसने यह ?
किसने ये सुरचित अंगुलियां, किसने खुले द्वार सब ये कह ?
गुल्फ बनाए क्यों ये नीचे ? क्यों दोनों घुटने ये ऊपर ?
बोलो, क्यों उसने दोनों टाँगों के मध्य रखा है अन्तर ?
सन्धि जानुओं की है किस स्थल, बोलो कौन जानता है नर ?—इत्यादि

---

१. देखिए—A Weber and Th. Aufrect in *Ind. Stud.* ; A. Hillebrandt, *Ritualliteratur*; Bloomfield *The Atharvaveda*, Lanman, HOS, Vol. 8; *Vedic Index* (Macdonell and Keith); राजा रामकृष्ण भागवत (JBRAS, 79, 1896) की सम्मति है कि व्रात्य जन रुद्र शिव के पुरातन काल के उपासक थे। J. W. Haver की सम्मति में व्रात्य जन क्षत्रियवर्ग से संबद्ध थे तथा 'योगियों' के पूर्व रूप थे।

2. AGPh. I. 1. pp. 209ff.

इस प्रकार यह वर्णन आठ मन्त्रों में चलता है। इसके बाद के नौ मन्त्रों में मनुष्य शरीर से सम्बन्ध रखने वाली, वस्तुतः मनुष्य के जीवन से सामान्य रूप से सम्बन्ध रखने वाली, सब प्रकार की चीजों के बारे में जिज्ञासा प्रकट की गई है—"प्रिय और अप्रिय, निद्रा, भय, तन्द्रा कहाँ से आए, निर्धनता और कष्ट कहाँ से आए।" इत्यादि। इसी प्रकार अनेक विविध प्रश्न पूछे गए हैं, जैसे—'किसने शरीर में जल को, नस नाड़ियों में रुधिर को रखा। इस मनुष्य में किसने रूप, डीलडौल तथा नाम का आधान किया ? मनुष्य को गति-प्रकार, बुद्धि, प्राण, सत्य तथा अनृत, अमरता और मृत्यु, वस्त्र, दीर्घायु, बल और वेग किसने दिए ? इत्यादि। तदनन्तर यह प्रश्न किया गया है—'मनुष्य प्रकृति पर स्वामित्व प्राप्त करने योग्य कैसे हुआ है ?' तथा इन सब प्रश्नों का उत्तर दिया गया है—'मनुष्य ब्रह्म है, इस कारण यह सब कुछ बन सका है, और ये सब शक्तियाँ उसने प्राप्त की हैं।' यहाँ तक इस सूक्त को बहुत सुन्दर नहीं कहा जा सकता, परन्तु कम से कम यह पर्याप्त स्पष्ट है। परन्तु इसके अनन्तर मन्त्रों (२६-३३) में फिर रहस्यवाद की काल्पनिक बातों का समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ यह कहा गया है—

इस पवमान अथर्वा ने सिर और हृदय को सीकर
सिर में दिमाग को दी प्रेरणा वहाँ रह कर ऊपर। [२६]
इस सिर का है अधिप अथर्वा
यह सिर देवों की मंजूषा
सुदृढ़ लगाया जिस पर ताला
प्राण अन्न मन करते रक्षा। [२७]

मेरा विचार है कि इस प्रकार के मन्त्रों में किसी गम्भीर बुद्धिमत्तापूर्ण बातों की खोज कर इन्हें अनुचित महत्त्व देना है। इसलिए अथर्ववेद (११.८) में मुझे कोई गम्भीर अर्थ नहीं प्रतीत होता जैसा कि डूसन को प्रतीत होता है। डूसन ने कहा है कि इस सूक्त में—"मानसिक तथा भौतिक आधार पर मनुष्य की उत्पत्ति का वर्णन है और ये सब चीजें ब्रह्मन् पर निर्भर हैं।" जैसे एक असत्यवादी को भी कभी कभी सत्य बोलना पड़ता है, जिससे कि मनुष्य उसके असत्य कथनों पर विश्वास करें; उसी प्रकार एक नकली दार्शनिक को भी अपने शब्द-जाल में कहीं-कहीं वास्तविक दार्शनिक विचार रखना पड़ता है, जो उसने इधर उधर से चुराया होता है; जिससे कि लोग उसकी ऊँटपटांग बातों को महान् बुद्धिमत्ता की बातें समझें। इस प्रकार विश्व का मूल कारण ब्रह्मन् है; मनुष्य और विश्वात्मा में अद्वैत है यह विचार (अथर्व० ११.८) का आधार है। इसमें कोई मतभेद नहीं है, तथापि निम्न मन्त्रों की रचना करते हुए लेखक के मन में ऐसा कोई विचार था, यह मैं नहीं मानता—

इन्द्र कहाँ से, सोम कहाँ से, अग्नि कहाँ से, ये हुए जात
हुआ कहाँ से त्वष्टा, धाता हुआ कहाँ से (यह कहो बात)।

इन्द्र इन्द्र से, सोम सोम से, अग्नि अग्नि से हुए ये जात
त्वष्टा त्वष्टा से, धाता धाता से जात हुए (सुनो तात)।

इस प्रकार के उद्धरण के मन्त्र न तो दर्शन है और न तो काव्य। इनसे तो बहुत ऊँचे स्तर का अथर्ववेद का एक सूक्त है, जिसमें पृथ्वी का वर्णन किया है। इसमें पृथ्वी की उत्पत्ति के मन्त्र तो बहुत थोड़े हैं परन्तु उनके कारण इसकी सृष्ट्युत्पत्ति सूक्तों में गणना की जाती है। इसमें किसी प्रकार के रहस्यवाद की बातें नहीं हैं। इसमें दर्शन तो बहुत कम है परन्तु सच्चा काव्य पर्याप्त है। यह महत्त्वपूर्ण सूक्त (अथर्व० १२.१) 'पृथ्वी सूक्त' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ६३ मन्त्र हैं, जिसमें पृथ्वी माता की स्तुति की गई है। उसे सबको थामने वाला आदि सबकी रक्षा करने वाला कहा गया है और उससे प्रार्थना की गई है कि हमें प्रसन्नता और आशीर्वाद दे; हमारी सब दुरितों से रक्षा करे। यहाँ मैं कुछ मन्त्र उद्धृत करता हूँ; जिनसे यह ज्ञात होगा कि यह सूक्त प्राचीन भारत की सर्वश्रेष्ठ धार्मिक कविता का उदाहरण है—

बृहत् सत्य, ऋत उग्र व दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ भू को धारें
भूत भव्य की रक्षक वह भू उरु-लोक हमारे लिए सँवारे। [१]
यह भू थी पहले अर्णव में सलिल, मनीषी जन वे लाए
अपनी दिव्य शक्तियों से वे कर उसका अनुचरण सुहाए।
जिस भू का है हृदय सत्य से आवृत, अमृत, परम व्योम में स्थित
वह भू हमको रखे दीप्ति-बल-युक्त राष्ट्र में, जो उत्तम कृत। [८]

जिसे अश्विदेवों ने मापा, किया विष्णु ने जहाँ विक्रमण
जिसे शचीपति इन्द्रदेव ने किया आत्महित हतरिपु शोभन
हमको वह भू दे पयस्, पुत्र को ज्यों माता देती है अनुदिन। [१०]

पृथ्वी तेरे पर्वत, जिनके शिखर शुभ्र हिम से आच्छादित
ये तेरे अरण्य हों सुखकर; हम मानव हों प्रतिपल उपकृत
बभ्रु, श्यामला, रोहिणी, विश्वरूपा, ध्रुवा भूमि यह पृथ्वी
सदा इन्द्र करता है इसकी रक्षा, यह माता, यह धात्री
इस पर रहूँ अधिष्ठित समहिम मुझको कोई जीत न पाए
रहूँ अहत, अक्षत; जीवन में कोई नहीं अभाव सताए। [१२]

मुझसे जात मर्त्य ये तुझ पर करते सुखपूर्वक हैं विचरण
दोपायों, चौपायों—सबका करती तू ही पालन पोषण
हे पृथ्वी, तेरे हैं ये मानव पञ्च, सूर्य यह उदयमान
इन मर्त्यों को अमृत ज्योति की रश्मियों से करा रहा स्नान। [१५]

देवों को यज्ञ, अलंकृत हवि देते हैं ये सभी भूमि पर
मर्त्य मनुष्य स्वधा से, अन्नों से जीते हैं ये इसी भूमि पर

यह भूमि हमें आयु दे जिसमें भरे हुए हों सजग प्राण
यह पृथ्वी वृद्धावस्था तक दे हमको जीवन सबल दान । [२२]

भूमि, खोदता हूँ मैं तुझसे जो, क्षिप्र वहाँ वह फिर उग जाए
हे पावन मुझ द्वारा तेरे मर्म, हृदय पर चोट न आए । [३५]

जिस भू पर गाएँ नाचें, ये मर्त्य, विविध जिनकी भाषाएँ
जिस पर करते युद्ध, शोर मच जाता, दुन्दुभि नाद उठाएँ ।
वह भूमि हमारे सभी सपत्नों को क्षणभर में दूर भगादे
वह पृथ्वी असपत्न मुझे कर मेरे हित सब सुख रस लादे । [४१]

मूर्ख व बुद्धिमान्, दोनों को करती है यह पृथ्वी धारण
माता भले बुरे दोनों को देती निवास, यह करे सहन
यह वराह से मिल कर रहती, देती है अपना उसे प्यार
मृग सूकर को देती है यह पृथ्वी अपना सुदृढ़ आधार । [४८]

माता भूमि कृपा करके नित्य सुप्रतिष्ठित यह मुझे करे
ज्योतिर्मय जग में मेरा यह मन रत हो निशिदिन ध्यान धरे
ओ कवि, दे श्री, भूति मुझे तू; मेरा मानस रस में विहरे । [६३]

यह सूक्त ऋग्वेद में सम्मिलित किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अथर्ववेद में भी प्राचीन काव्य के कुछ अंश इधर उधर बिखरे पड़े हैं। यद्यपि अथर्ववेद का अन्य निश्चित प्रयोजन है। ऋग्वेद की भाँति ही अथर्ववेद में भी अत्यन्त साधारण या बिल्कुल निष्प्रयोजन मन्त्रों के साथ ही साथ प्राचीनतम भारतीय काव्य-कला के उत्कृष्टतम रत्न मिल जाते हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से हमें आर्य भारतीयों के प्राचीनतम काव्य के वास्तविक स्वरूप का परिचय मिलता है।

प्राचीन भारतीय यज्ञीय कर्मकाण्ड तथा तत्सम्बद्ध वैदिक संहिताएं

अभी तक हमने ऋग्वेद और अथर्ववेद का वर्णन किया। यह निर्विवाद तथ्य है कि ये दोनों वेद किसी कर्मकाण्ड की दृष्टि से नहीं लिखे गए थे। यद्यपि अथर्ववेद के अधिकाँश सूक्तों का यज्ञीय कर्मकाण्ड में विनियोग किया जा सकता है और वस्तुतः किया भी गया और अथर्ववेद को तो लगभग प्रयुक्त ही कर्मकाण्ड और जादू-टोने की दृष्टि से किया गया। परन्तु इन दोनों संहिताओं में सूक्तों की व्यवस्था से यह सिद्ध होता है कि इनका विविध कर्मकाण्डों व यज्ञों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन वेदों में उन सूक्तों को कहीं लेखकों की दृष्टि से रखा गया है और कहीं उनके विषयों की दृष्टि से रखा गया है और कहीं केवल बाह्य आकार

की दृष्टि से—मन्त्रों की संख्या आदि की दृष्टि से। हम कह सकते हैं कि इन दोनों वेदों में 'साहित्यिक' दृष्टिकोण से सूक्तों का संग्रह किया गया है।

परन्तु अन्य दो वेदों (सामवेद और यजुर्वेद) का संग्रह सर्वथा अन्य दृष्टिकोण से हुआ है। इन वेदों में सूक्तों, मन्त्रों तथा प्रार्थनाओं की व्यवस्था क्रियात्मक दृष्टिकोण से की गई है। ठीक उसी क्रम से, जिस क्रम से वे यज्ञ के लिए अपेक्षित थीं। वस्तुतः यह कुछ यज्ञीय पुरोहितों के क्रियात्मक प्रयोग की प्रार्थना-पुस्तकें अथवा मन्त्र-संग्रह हैं। ये लिखित पुस्तकें नहीं थीं। पुरोहितों के सम्प्रदायों में मौखिक रूप से इनका प्रचलन था। इन संहिताओं के उद्भव के विषय को पूरी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि आर्य-भारतीयों के धर्म-सम्प्रदायों के विषय में कुछ शब्द कह दिए जाएं। यह विचार वैदिक साहित्य के सर्वाङ्ग अध्ययन के लिए बहुत आवश्यक है।

वैदिक ब्राह्मणीय धर्म के अद्यावधि उपलब्ध ज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन धार्मिक सम्प्रदायों की नौ धाराएँ थीं। इस विषय पर हम विचार कर चुके हैं कि ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का तथा अथर्ववेद के अधिकांश सूक्तों का आशीर्वचन और प्रार्थनाओं के रूप में उपयोग होता था। इनके अवसर थे—शिशु-जन्म, विवाह, दैनिक जीवन के अनेक अन्त्येष्टि संस्कार, पितरों का श्राद्ध, पशुपालकों द्वारा पशुओं की समृद्धि के लिए किए गए तथा कृषक के द्वारा कृषि समृद्धि के लिए किए गए विविध कर्मकाण्ड। ये कर्मकाण्ड 'गृहकर्माणि' कहलाते हैं। इनका विस्तृत वर्णन गृह्यसूत्रों में मिलता है। इन कर्मकाण्डों को गृहपति स्वयं करता था। अधिक से अधिक एक पुरोहित (ब्रह्मा) सहायता के लिए होता था।[1] इन कर्मकाण्डों में आहुतियाँ दी जाती थीं और 'एक अग्नि' (गार्हपत्य अग्नि) उनके लिए अपेक्षित थी। इन कर्मकाण्डों को प्रत्येक धार्मिक आर्य करता था, चाहे निर्धन हो या धनी, ऊँचे कुल का हो या सामान्य कुल का। इनके अतिरिक्त बड़े-बड़े यज्ञीय प्रीतिभोजन भी होते थे, विशेष रूप से इन्द्र से सम्बद्ध सोमयाग के समय। इन्हें केवल उच्चवर्ग के लोग तथा धनी, विशेष रूप से राजा करने में समर्थ थे। इनके लिए प्राचीन निश्चित परम्परा के अनुसार विशाल यज्ञीय मण्डप बनाया जाता था। 'तीन पवित्र अग्नियों' के लिए वेदियां बनायी जाती थीं, जो कि इस प्रकार के प्रत्येक यज्ञ के लिए अनिवार्य थीं। बहुसंख्यक पुरोहित नियुक्त किए जाते थे। 'चार मुख्य पुरोहित' अध्यक्ष के रूप में होते थे। और ऐसे यज्ञ में अनेक अत्यन्त जटिल कर्मकाण्ड तथा अनुष्ठान होते थे; कोई राजा या बड़ा आदमी यजमान होता था। उसका कार्य अत्यल्प ही था। उसका मुख्य कर्त्तव्य था पुरोहितों को उदारतापूर्वक दक्षिणा देना। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ब्राह्मण लोग इन यज्ञीय

१. आश्वलायन-गृह्यसूत्र १.३.६—'गृह-यज्ञों में ब्रह्मा की नियुक्ति ऐच्छिक है।' गोभिल-गृह्यसूत्र १.९.८.f—'पाक-यज्ञों में एकमात्र पुरोहित ब्रह्मा होता है; यजमान स्वयं 'होता' का कार्य करता है।'

अनुष्ठानों को करने में बहुत रुचि लेते थे, क्योंकि इससे उन्हें अत्यधिक लाभ होता था। इन यज्ञ-विधियों का वे अत्यन्त उत्साह से अध्ययन करते थे और उन्होंने एक व्यवस्थित यज्ञ-विज्ञान का विकास कर लिया था। इस यज्ञ-विज्ञान के ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहलाते हैं। इन्हें 'श्रुति' का भाग माना जाता है। इन यज्ञों को 'श्रौतकर्माणि' कहते थे। इनकी तुलना में दूसरे यज्ञ 'गृह्यकर्माणि' कहलाते थे, जिनका आधार स्मृति (परम्परा) था। 'श्रौतकर्माणि' का आधार ईश्वरीय माना जाता था।

श्रौत यज्ञों के चार मुख्य पुरोहित निम्न होते थे—(१) होता (बुलाने वाला) जो देवताओं की स्तुति में ऋचाएँ पढ़ता है और यज्ञ में उनका अनुष्ठान करता है; (२) उद्‌गाता (गायक) जो यज्ञों की तैयारी और प्रस्तुतीकरण में विशेष रूप से सोम-हवियों को तैयार करने में सहायता करता है। और साम-गान करता है। (३) अध्वर्यु (यज्ञ का सञ्चालक) जो कि सम्पूर्ण यज्ञीय कार्यों को करता है और गद्य-प्रार्थनाओं तथा यज्ञीय मन्त्रों (यजूंषि) का उच्चारण करता है; तथा (४) ब्रह्मा (यज्ञ का अध्यक्ष); इसका कार्य है यज्ञ को विघ्नों से बचाना। यह भारतीय विश्वास है कि प्रत्येक पवित्र कार्य में, इसलिए प्रत्येक यज्ञ में, विघ्नों का भय है। यदि कोई कार्य ठीक-ठीक कर्मकाण्ड की विधि से नहीं किया गया, यदि किसी जादू-टोने या प्रार्थना के मन्त्र का ठीक ठीक उच्चारण नहीं किया गया, यदि सामगान में कोई त्रुटि रह गई, तब वह कार्य यजमान का ही विनाश कर देगा। इसलिए ब्रह्मा यज्ञवेदी पर दक्षिण दिशा में बैठता है, जिससे कि वह यज्ञ की रक्षा कर सके। दक्षिण दिशा मृत्यु के देवता तथा यज्ञ में विघ्न पहुंचाने वाले राक्षसों की दिशा है। वह ध्यान से यज्ञ निरीक्षण करता रहता है। किसी यज्ञीय क्रिया, उच्चारण या सामगान में अत्यल्प भी त्रुटि हो तो पवित्र शब्दों के उच्चारण द्वारा वह विघ्नों को दूर कर देता है। इसलिए प्राचीन धर्मग्रन्थों में ब्रह्मा को यज्ञीय पुरोहितों में "उत्कृष्टतम भिषक्"[1] कहा गया है। इस कार्य को ठीक तरह करने के लिए यह आवश्यक है। ब्रह्मा को "वेदमय (वेदमूर्ति)" कहा गया है। वह अपने इस कार्य को अपने त्रिविध ज्ञान अर्थात् तीनों वेदों के ज्ञान से पूर्ण करता है। इस ज्ञान के आधार पर ही वह प्रत्येक त्रुटि को एकदम पकड़ लेता है।[2]

अन्य तीन पुरोहितों के लिए एक वेद का ज्ञान ही पर्याप्त है। जिन मन्त्रों के द्वारा 'होता' देवताओं का आह्वान करता है उन्हें 'अनुवाक्य' कहते हैं। 'होता'

---

१. शतपथ ब्राह्मण १५.२.२.१६. देखिए छान्दोग्य-उपनिषद्, ४.१७.८ f।

२. ऐतरेय ब्राह्मण, ३.२.३.७ शतपथ ब्राह्मण, ११ ५.८.७. 'ब्रह्मा' का अथर्ववेद से सम्बन्ध परवर्ती काल में स्थापित हुआ, यहाँ तक कि अथर्ववेद को 'ब्रह्मवेद' भी कहने लगे तथा अथर्ववेद के अनुयायी यह कहने लगे कि 'ब्रह्मा' के लिए अथर्ववेद का ज्ञाता होना अनिवार्य है। वस्तुत: श्रौत-यज्ञ में ब्रह्मा का जो कार्य है, उसका अथर्ववेद से कोई संबन्ध नहीं है। तथापि इन दोनों का संबन्ध स्थापित हो गया था, क्योंकि गृह्य-यज्ञों का अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' होता था, इसलिए उसके लिए आशीर्वचनों का ज्ञान अनिवार्य था, जोकि अधिकांशत: अथर्ववेद में है।

यज्ञ के मन्त्रों (याज्या) को ऋग्वेद से लेता है। देवताओं को दी जाने वाली हवियों के समय ये मन्त्र बोले जाते हैं। 'होता' के लिए आवश्यक है कि उसे सारी ऋग्वेद संहिता कंठाग्र हो जिस से कि वह स्तुति गीतों (शास्त्राणि) का संग्रह कर सके। ये स्तुतिगीत (शास्त्राणि) सोमयाग के समय प्रयुक्त होते थे। इस प्रकार ऋग्वेद संहिता का 'होता' से कुछ सम्बन्ध है यद्यपि यह निर्विवाद तथ्य है कि ऋग्वेद संहिता के सूक्तों का संग्रह 'होता' के दृष्टिकोण से नहीं किया गया।

यह उल्लेखनीय है कि सोमयाग में 'होता' ही स्तुति गीत नहीं पढ़ता था, उद्गाता तथा उसके सहायकों द्वारा भी स्तोत्र गाए जाते थे।[1] (इन स्तोत्रों में ऋचाओं का विभिन्न रागों (सामानि) की दृष्टि से संग्रह किया गया है। उद्-गातृ-पुरोहित सामवेद के सम्प्रदायों में इन सामों का अध्ययन करते थे। सामवेद-संहिता राग की दृष्टि से उद्गाताओं के कार्य के लिए की गई कुछ ऋचाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अध्वर्यु पुरोहित विभिन्न यज्ञीय कर्मकाण्डों में छोटे-छोटे गद्य मन्त्रों तथा गद्य और पद्य में रचित दीर्घ प्रार्थनाओं का मन्द स्वर में उच्चारण करता है। गद्य-मन्त्रों तथा प्रार्थनाओं को 'यजूंषि' कहते हैं तथा पद्यात्मक प्रार्थनाओं को 'ऋच'[2]। यजुर्वेद की संहिताओं में गद्य-मन्त्र और प्रार्थनाएं संगृहीत हैं। यह भी विधान किया गया कि यज्ञीय कार्यों में उनका प्रयोग किस प्रकार किया जाएगा। यह संग्रह अध्वर्यु-पुरोहितों के कार्य की दृष्टि से उसी क्रम में किया गया है जिस क्रम में उन मन्त्रों का यज्ञों में प्रयोग होता था।

सामवेद तथा यजुर्वेद की संहिताओं को ऋग्वेद और अथर्ववेद की तुलना में कर्मकाण्डी संहिताएं कह सकते हैं। अब इन संहिताओं का विस्तार से विचार करते हैं।

---

१. वस्तुतः प्रथम स्थान 'स्तोत्रों' का है, उसके बाद 'शस्त्रों' का।

२. 'होता' सूक्तों का उच्चारण करता है, उद्गाता गायन करता है, अध्वर्यु प्रार्थनाओं को जप के रूप में बोलता है। अध्वर्यु केवल 'निगदों' का उच्च स्वर में उच्चारण करता था। इन 'निगदों' का प्रयोजन था अन्य पुरोहितों को विविध कार्यों के लिए आदेश देना।

सामवेद संहिता

परम्परा के अनुसार किसी समय सामवेद की अनेक संहिताएं थीं। पुराणों में सामवेद की एक सहस्र संहिताओं की चर्चा है।[1] अस्तु, आज के दिन तीन संहिताएँ उपलब्ध हैं। इनमें सर्वाधिक प्रचलित कौथुम-सम्प्रदाय की सामवेद संहिता है। यह दो भागों में विभक्त है—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। इन भागों में मिलने वाले सब मन्त्र प्रायः ऋग्वेद से लिए गए हैं। यदि पुनरावृत्त मन्त्रों को निकाल दें, १५४६ मन्त्रों में से ७५ मन्त्रों को छोड़ कर सब ऋग्वेद से लिए गए हैं; अधिकांशतः ऋग्वेद के अष्टम तथा नवम मण्डल में से। अधिकांश मन्त्र दो छन्दों में हैं—गायत्री तथा प्रगाथ (गायत्री और जगती का सम्मिश्रण)। निर्विवाद ये गीत और मन्त्र इन छन्दों में गायन की दृष्टि से ही लिखे गए थे।[2] ७५ मन्त्र जो ऋग्वेद में नहीं मिलते उनमें से कुछ दूसरी वेद-संहिताओं में मिलते हैं, कुछ कर्मकाण्ड के विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं और कुछ हो सकता है कि ऋग्वेद की किसी अनुपलब्ध शाखा के हों। परन्तु कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जो ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों की इधर उधर पंक्तियाँ लेकर बना दिए गए हैं। सामवेद में मिलने वाले ऋग्वेद के मन्त्रों में यत्र तत्र कुछ पाठभेद भी दृष्टिगोचर होता है। विद्वानों का ऐसा विचार रहा है कि वे ऋग्वेद की किसी अनुपलब्ध शाखा के होंगे। परन्तु थियोडार ऑफ़्रेक्ट ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन पाठभेदों का कारण यह है कि संगीत की दृष्टि से संहिताकारों ने स्वेच्छा से जाने या अनजाने में परिवर्तन कर दिए हैं। संगीत की दृष्टि से अन्यत्र भी परिवर्तन किए ही जाते हैं। सामवेद के पूर्वार्चिक या उत्तरार्चिक दोनों में पाठ्य उद्देश्य न होकर साधन है। आधारभूत तत्त्व हैं—संगीत और दोनों भागों का उद्देश्य है—संगीत-शिक्षण। वह विद्वान् जो उद्गाता पुरोहित बनना चाहता था, उसे सर्वप्रथम रागों का अध्ययन करना होता था। यह पूर्वाधिक की सहायता से किया जाता था, तभी वह इन स्तोत्रों को उस रूप में याद कर सकता था, जिस रूप में वे यज्ञों में गाए जा सकते थे। यह कार्य उत्तरार्चिक द्वारा सम्पन्न होता था।

पूर्वार्चिक में १८५ ऋचाएँ हैं जिनसे विभिन्न साम सम्बद्ध हैं। इन ऋचाओं का प्रयोग यज्ञ में होता था। 'सामन्' शब्द का प्रयोग प्रायः उस पाठ्य के लिए

---

१. परवर्ती लेखकों ने सामवेद की एक सहस्र शाखाओं की चर्चा की है।

२. 'गायत्री' तथा 'प्रगाथ' दोनों शब्द गा (गै) धातु से बने हैं, जिसका अर्थ है गाना।

किया जाता है जो गाने के लिए तैयार या प्रयुक्त किया गया है ; परन्तु इसका मूलार्थ है—स्वर या राग। जैसे हम कहते हैं कि यह पद्य इस स्वर में या राग में गाया जा रहा है। भारतीय इससे विपरीत रूप में कहते हैं "यह साम इस मन्त्र या पद्य पर गाया जा रहा है।" वैदिक धर्मशास्त्रियों की यह मान्यता है कि राग और ऋचा का पारस्परिक सम्बन्ध यह है कि राग मन्त्र से उद्भूत हुआ है। ऋचा योनि (गर्भ) है जिससे कि राग का जन्म हुआ है। यद्यपि एक ऋचा विविध रागों में गाई जा सकती है और एक राग का विविध ऋचाओं के लिए प्रयोग हो सकता है, फिर भी कुछ ऋचाएँ कुछ रागों के लिए योनि हैं। इस प्रकार पूर्वार्चिक १८५ योनियों (ऋचाओं) का संग्रह है। ये ऋचाएँ इससे दुगुने रागों में गाई जा सकती हैं।[१] इसकी एक ऐसी गीतपुस्तिका से तुलना की जा सकती है जिसमें प्रत्येक गीत का प्रथम पद्य दिया गया है जिससे कि राग को स्मरण किया जा सके।

उत्तरार्चिक में चार सौ स्तोत्र हैं।[१] प्रायः हर स्तोत्र में तीन ऋचाएं हैं। इन स्तोत्रों में से मुख्य यज्ञों में गाए जाने वाले गीत बनाए जाते हैं। पूर्वार्चिक में ऋचाएँ कहीं छन्द की दृष्टि से, कहीं देवताओं की दृष्टि से (अग्नि, इन्द्र तथा सोम के क्रम से) संगृहीत की गई हैं। उत्तरार्चिक में मुख्य यज्ञों की दृष्टि से स्तोत्रों का संग्रह किया गया है।[२] इस प्रकार एक स्तोत्र में कई ऋचाएँ होती हैं (प्रायः तीन) जिन्हें पूर्वार्चिक में कथित रागों में से किसी एक राग पर गाया जाता है। उत्तरार्चिक की तुलना एक ऐसी गीति पुस्तिका से की जा सकती है जिसमें कि पूरा गीत दिया हुआ है और यह मान लिया गया है कि पाठक रागों से पहले से ही अभिज्ञ है।[3] इस मान्यता के पक्ष में यह तथ्य उद्धृत किया जा सकता है कि पूर्वार्चिक में कई ऐसी योनियाँ है इसलिए कई राग भी हैं, जिसका प्रयोग उत्तरार्चिक के स्तोत्रों में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है और उत्तरार्चिक में भी कुछ ऐसे स्तोत्र हैं जिनके रागों का आधार पूर्वार्चिक में नहीं मिलता। दूसरी तरफ उत्तरार्चिक पूर्वार्चिक का आवश्यक पूरक है और जब उद्गाता को प्रशिक्षित किया जाता है तो पहले उत्तरार्चिक पढ़ाया जाता है और फिर पूर्वार्चिक।

संहिता के दोनों भागों में हमें वह पाठ्य मिलता है जैसा कि बोला जाता है। परन्तु राग कम से कम प्रारम्भिक काल में मौखिक रूप से ही सिखाए जाते थे और सम्भवतः वाद्ययन्त्रों की धुन के रूप में। परवर्ती काल में गानों ('गानानि') या गीत-पुस्तिकाओं की रचना हुई (√गा गाना)। इनमें संगीत के अंकन के द्वारा रागों

---

१. २८७ गीत तीन तीन मन्त्रों के हैं, ६६ दो के, १३ एक के, १० छः के, ६ चार के, ४ पाँच के, ३ नौ के, ३ दस के, २ सात के, दो १२ के तथा १ आठ का।

२. 'सामवेद के स्तोत्रों तथा यज्ञ में उनके उपयोग' के विषय में देखिए—A. Hillebrandt—*Ritualliteratur Grundriss* III.

३. कलन्द (Caland) ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उत्तरार्चिक प्राचीनतम है। ओल्डनबर्ग ने युक्तिपुरस्सर इसका खण्डन किया है।

का ज्ञान दिया गया है और इनमें वह पाठ्य दिया गया जिसका गाते समय प्रयोग किया जाता था अर्थात् अक्षरों को खींच कर बोलना, पुनरावृत्ति करना, बीच में एक अक्षर या पूरा शब्द ले आना (जिसे स्तोत्र कहते थे) जैसे 'होयि' 'हूव' 'होइ' इत्यादि जो कि अंशतः हमारी हर्षध्वनियों में (हुर्रे इत्यादि) से कुछ पृथक् प्रतीत नहीं होती। सम्भवतः प्राचीनतम संगीतांकन 'त' 'चो' 'ए' इत्यादि अक्षरों से किया जाता था। अधिक प्रचलित संगीतांकन है सात स्वरों का सात अंकों—१,२,३,४,५,६,७ द्वारा अंकन, जो कि पाश्चात्य स्वरांकन के सदृश है जो कि एफ, ई, डी, सी, बी, ए, जी के द्वारा अंकित किया जाता है। गाते समय पुरोहित हाथों और उंगलियों के सञ्चालन से इन विविध स्वरों को विशेष रूप से प्रकट करता चलता है।[1] पूर्वार्चिक से ग्रामगेय गान तथा आरण्यगान सम्बद्ध है। 'आरण्यगान' में वे राग हैं जिन्हें भयङ्कर माना जाता था। इसलिए इनका अभ्यास जंगल में किया जाता था, ग्राम में नहीं।[2] गीतों की दो और पुस्तकाएँ भी हैं : 'ऊह' गान तथा 'उह्य' गान। इनमें सामन् उस क्रम से दिये गये हैं जिस क्रम में उनका कर्मकाण्ड में प्रयोग होता था। 'ऊह' गान ग्राम-गेय गान से तथा 'ऊह्य' गान आरण्यगान से सम्बद्ध है।

रागों की संख्या बहुत बड़ी रही होगी।[3] और बहुत प्राचीन काल में प्रत्येक राग का पृथक् पृथक् नाम रखा जा चुका था। कर्मकाण्ड की पुस्तकों में इन रागों की प्रायः उनके नाम के साथ चर्चा है। इन नामों के विविध प्रतीकात्मक अर्थ भी किए गए हैं तथा ब्राह्मणों, आरण्यकों, व उपनिषदों के प्रतीकवाद और रहस्यवाद में उनका बहुत बड़ा स्थान है, विशेष रूप से उनमें से दो राग 'बृहत्' तथा 'रथन्तर' ऋग्वेद में भी हैं। निश्चय ही पुरोहितों और धर्मशास्त्रियों ने इन सब रागों का आविष्कार स्वयं नहीं किया था। यह कल्पना की जा सकती है कि उनमें से प्राचीनतम राग सर्वजनप्रचलित थे और अत्यन्त प्राचीनकाल में संक्रान्ति-समारोहों तथा अन्य राष्ट्रीय उत्सवों के अवसर पर इन रागों में अर्द्धधार्मिक गीत गाए जाते थे। और कुछ प्राग्ब्राह्मण-काल के भी हो सकते हैं, जिनमें जादूगर पुरोहित कर्मकाण्डों के समय अपने जंगली गीतों को गाते थे।[4] ये जादूगर पुरोहित प्राचीन काल की जंगली जाति के जादूगरों, श्रमणों तथा चिकित्सकों से कुछ पृथक् नहीं थे। इस प्रकार के साम-रागों का मूल सर्वजन-प्रचलित राग थे। उपरि वर्णित

---

१. विस्तार के लिए देखिए—A. C. Burnell—'The *Ārṣeya Brāhmaṇa of the Sāma Veda*.

२. देखिए W. Caland, *Die Jaiminiya Saṁhitā*; Oldenberg, GGA, 1908.

३. एक परवर्ती लेखक की सम्मति में सामों (Samans) की संख्या ८००० है। (R. Simon)।

४. देखिए Hillebrandt, *Die Sonnwendfeste in Alt-Indien*; M. Bloomfield, *The God Indra and the Sāmaveda* in WZKM, 17, 1903.

स्तोत्रों या हर्षध्वनियों से भी यही लक्षित होता है। और विशेष रूप से यह तथ्य भी इसको पुष्ट करता है कि ब्राह्मण काल तक भी यह माना जाता रहा कि साम-वेद के रागों में जादू की शक्ति है।[1] सामवेद से सम्बद्ध सामविधान-ब्राह्मण नाम की एक कर्मकाण्ड पुस्तिका है जिसका दूसरा भाग तो बाकायदा जादू के एक गुटके के रूप में है और इसमें यह बताया गया है कि किस जादू के कार्य के लिए किस साम का प्रयोग करना है। ब्राह्मण स्मृतियों में यह विधान किया गया है कि जब साम का स्वर सुनाई दे तो ऋग्वेद तथा यजुर्वेद का उच्चारण एकदम रोक दिया जाना चाहिए। इससे भी सिद्ध होता है कि साम-रागों का प्राग्-ब्राह्मणकाल के प्रचलित विश्वास तथा जादू से कुछ सम्बन्ध है। विशेषरूप से आपस्तम्ब स्मृति का यह नियम अवधेय है कि निम्न अवस्थाओं में वेदोच्चारण रोक दिया जाना चाहिए—'जब कुत्ते भोंक रहे हों, गधे रेंक रहे हों, भेड़िए और गीदड़ गुर्रा रहे हों, उल्लू घूं घूं कर रहे हों, वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि आ रही हो, कोई रो रहा हो, और साम गाया जा रहा हो।'

इस प्रकार भारतीय यज्ञ तथा जादू टोने के इतिहास की दृष्टि से सामवेद संहिता का महत्त्व नगण्य नहीं है तथा इससे सम्बद्ध गान तो भारतीय संगीत के इतिहास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।[2] यद्यपि इस दृष्टि से इस पर अभी तक गवे-षणा नहीं की गई है। साहित्यिक दृष्टि से सामवेद का हमारे लिए कोई क्रियात्मक महत्त्व नहीं है।

१. 'सामन्' का अर्थ संभवतः 'शान्ति देने वाला गीत' है, 'देवों और दैत्यों को संतुष्ट करने का साधन।' सामन् का अर्थ 'मृदुता', 'शान्तिमय शब्द' भी है। प्राचीन साहित्य में सामवेद को उद्धृत करते हुए कहते हैं—"छन्दोगाः कहते हैं" (छन्दोगाः=छन्दस् को गाने वाले)—छन्दस् में निम्न अर्थ संमिलित है—'जादू-गीत', 'पवित्र ग्रन्थ' तथा छन्द। सामन् का आधारभूत अर्थ होगा—'लयात्मक वाणी'। इसमें धातु हो सकती है 'छन्द' प्रसन्न होना, तृप्त करना, प्रसन्न करना (देखिए छन्द=प्रसन्न करने वाला, मुग्ध करने वाला, बुलाने वाला)।

२. ओल्डनबर्ग—"सामवेद पर साहित्यिक गवेषणा सतही ही है।" वस्तुतः सामवेद की गहराई में जाने के लिए भाषावैज्ञानिक के लिए संगीत के इतिहास का ज्ञाता होना भी जरूरी है। E. Felber (*Die indishe Musik der*···SWA 1912) ने आजकल सामन् जैसे गाए जाते हैं, उनका सविस्तर अंकन किया है। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ३००० वर्ष पूर्व भी उद्गाता (साम-गायक) इसी रूप में गाते थे।

यजुर्वेद की संहिताएं

जैसे सामवेद संहिता उद्गाता की गीत-पुस्तिका है, इसी भांति यजुर्वेद-संहिताएं अध्वर्यु पुरोहित की प्रार्थना-पुस्तिकाएं हैं। वैयाकरण पतञ्जलि[1] ने अध्वर्युओं के वेद की १०१ शाखाओं की चर्चा की है। यह युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है कि इस वेद की कई शाखाएँ थीं। क्योंकि अध्वर्यु को विभिन्न यज्ञीय कार्यों को करना होता था तथा उनके अनुसार प्रार्थना करनी होती थी। अतः सम्मति-भेद तथा विभिन्न सम्प्रदायों का उद्भव स्वाभाविक ही था। इससे अनेक विभिन्न निर्देश-पुस्तिकाएं तथा प्रार्थना-पुस्तिकाएं बन गईं। कर्मकाण्ड या पूजन विधि का जरा सा भी अन्तर नये वैदिक-सम्प्रदाय के उद्भव के लिए काफ़ी था। अब तक यजुर्वेद की निम्न पाँच संहिताएँ तथा सम्प्रदाय ज्ञात हैं—१ काठक संहिता (कठ सम्प्रदाय से सम्बद्ध) २. कपिष्ठल-कठ संहिता, इसकी पाण्डुलिपि के कुछ ही पन्ने उपलब्ध हैं। ३. मैत्रायणी संहिता (मैत्रायणीय शाखा से सम्बद्ध) ४. तैत्तिरीय संहिता; इसे आपस्तम्ब-संहिता भी कहते हैं।

इन चार शाखाओं में निकट पारस्परिक सम्बन्ध है; और ये कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं। ५. वाजसनेयि-संहिता अथवा शुक्ल यजुर्वेद। याज्ञवल्क्य वाजसनेय को इस संहिता का मुख्य अध्यापक माना जाता है। इस संहिता की दो शाखाएं हैं—काण्व और माध्यन्दिन। इन दोनों में नाम मात्र ही अन्तर है।

शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र हैं जबकि कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के अतिरिक्त उनसे सम्बद्ध यज्ञीय कर्मकाण्डों का वर्णन है। तथा उन पर विस्तृत विचार भी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मण भाग भी सम्मिलित है। वस्तुतः अध्वर्यु के कार्य के लिए संगृहीत प्रार्थना-पुस्तिकाओं में यज्ञीय कर्मकाण्डों पर विस्तृत विचार मुख्य रूप से आवश्यक था। तथा उन कार्यों से सम्बद्ध प्रार्थनाएँ और मन्त्र उनके कार्यों का गौण भाग के रूप में थे। इसलिए बात में सन्देह का अवकाश नहीं है कि कृष्ण यजुर्वेद की संहिताएं वाजसनेयि-संहिता से प्राचीनतर हैं। परवर्ती धर्मशास्त्रियों ने सम्भवतः मन्त्र-भाग को पृथक् करके शुक्ल यजुर्वेद की रचना की जिससे वह अन्य वेदों की कोटि में आ सके।[2]

---

१. देखिए महाभाष्य (पस्पशाह्निक)।

२. प्रायः यह माना जाता है कि 'शुक्ल यजुर्वेद' का अर्थ है—स्पष्ट, सुव्यवस्थित यजुर्वेद, तथा कृष्ण यजुर्वेद=अव्यवस्थित, क्योंकि उसमें यज्ञीय कर्मकाण्ड तथा व्याख्याएँ भी संमिलित हैं। भारतीय व्याख्याकारों का यह कथन मुझे अत्यन्त असंभाव्य प्रतीत होता है। शतपथ

यजुर्वेद संहिताओं के इन परस्पर विभेदों का प्राचीन भारत के पुरोहितों और धर्मशास्त्रियों के लिए महत्त्व रहा होगा, परन्तु विषय विचार की दृष्टि से हमारे लिए वाजसनेयि संहिता के विषयों का संक्षिप्त वर्णन पर्याप्त है। यह भी अवधेय है कि सम्भवतः कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद काल की दृष्टि से बहुत दूर नहीं है।

वाजसनेयि संहिता में ४० अध्याय हैं। इनमें से अन्तिम १५ (सम्भवतः अंतिम २२) परवर्ती काल के हैं। प्रथम २५ अध्यायों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बृहत् यज्ञों में प्रयुक्त होने वाली प्रार्थनाएँ हैं। प्रथम दो अध्यायों में दर्शपूर्ण मास (नवोदित चन्द्र तथा पूर्णिमा में किए जाने वाले यज्ञों) के लिए प्रार्थनाएं हैं। तथा उनसे सम्बद्ध पिण्ड पितृ-यज्ञ हैं। तीसरे अध्याय में दैनिक अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य यज्ञों (हर चार महीनों बाद किए जाने वाले यज्ञों से सम्बद्ध) में प्रयुक्त की जाने वाली प्रार्थनाएं हैं। चतुर्थ से सप्तम अध्याय तक सोमयाग तथा तत्सम्बद्ध पशुयाग के लिए प्रार्थनाएं हैं। सोमयाग एक दिन के भी होते थे और कई दिन तक चलने वाले भी होते थे। एक दिन के सोमयागों में वाजपेय (शक्ति का पान) यज्ञ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रारम्भ में इस यज्ञ को सम्भवतः क्षत्रिय तथा राजा करता था। और इसका सम्बन्ध रथधावन प्रतियोगिता से था। इस यज्ञ में सोम के अतिरिक्त सुरा की भी आहुति दी जाती थी। अन्यथा ब्राह्मण स्मृतियों में सुरा का पूर्ण निषेध है।[1] राजसूय यज्ञ का संबंध केवल राजाओं से था। इस यज्ञ में बहुत बड़ा प्रीतिभोज होता था। प्रतीकात्मक सेना-यात्रा का आयोजन होता था; द्यूत-क्रीड़ा होती थी और सब प्रकार के जादू टोने के कर्मकाण्ड होते थे। इन दो प्रकार से सोमयागों के लिए प्रार्थनाएं नवम तथा दशम अध्याय में हैं। एकादश अध्याय से अष्टादश अध्याय तक अग्नि चयन के लिए अनेक प्रार्थनाएं तथा मन्त्र हैं। अग्नि चयन का कर्मकाण्ड एक वर्ष से अधिक काल तक चलता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस काण्ड की रहस्यात्मक प्रतीकात्मक व्याख्या की गई है। अग्नि-वेदि को अग्नि देव ही माना गया है। यह वेदि १०८०० ईंटों से एक बड़े पक्षी के आकार में बनायी जाती थी, जिसके पंख बाहर की ओर फैले होते थे। अग्नि-वेदि की नींव में पाँच यज्ञीय पशुओं के सिर गाड़े जाते थे। और उन पशुओं के शरीर उस पानी में डाल दिए जाते थे जिससे ईंटें और अग्नि कुंड बनाने की मिट्टी ली जाती थी। अग्नि कुंड तथा ईंटों को बनाते और पकाते समय निरन्तर जादू और प्रार्थना के मन्त्र पढ़े जाते थे। ईंटों में कइयों के भिन्न-भिन्न नाम

ब्राह्मण १४.९.४.३३ (देखिए ४.४.५.१९) में 'शुक्लानि यजूंषि' को आदित्यानि' कहा है। पुराणों में भी कहा है कि याज्ञवल्क्य ने इसे सूर्य से प्राप्त किया (विष्णु-पुराण ३.५)। इसकी तुलना में प्राचीन यजुर्वेद को 'कृष्ण' कहा गया। पिशल का कथन है कि 'शुक्ल यजुर्वेद प्राचीनतम है। मुझे यह मत पूर्णतया असंभाव्य प्रतीत होता है। देखिए Keith HOS, Vol 18.1 वहाँ दोनों यजुर्वेद की दोनों संहिताओं के पारस्परिक संबन्ध पर सविस्तर विचार किया गया है।

१. स्मृतियों के अनुसार सुरापान ब्राह्मण हत्या के समान घोर पाप है।

थे। और इन नामों का प्रतीकात्मक महत्त्व भी बताया गया है। एकोनविंश से एकविंश अध्याय तक सौत्रामणि यज्ञ के मन्त्र हैं। इस यज्ञ में सोम के स्थान पर सुरा का प्रयोग होता था और अश्विदेवों सरस्वती और इन्द्र को इसकी हवि दी जाती थी। इस यज्ञ का विधान उनके लिए है जिन्होंने बहुत सोम पी लिया है या जिन्हें सोम अनुकूल नहीं बैठता। इसके अतिरिक्त सफलताकामी ब्राह्मण सिंहासनाभिलाषी निर्वासित राजा, युद्ध में विजयाभिलाषी क्षत्रिय तथा बहुधनाभिलाषी वैश्य के लिए भी यज्ञ उपयोगी कहा गया है। इस यज्ञ से सम्बद्ध अनेक प्रार्थनाओं का संबंध इन्द्र की एक गाथा से है। एक बार इन्द्र अत्यधिक सोमपान के आनन्द के नशे से अस्वस्थ हो गया था और अश्विदेवों तथा सरस्वती ने उसकी चिकित्सा की थी। द्वाविंश से पंचविंश अध्याय तक अश्वमेध से सम्बद्ध प्रार्थनाएं हैं। इस यज्ञ को शक्तिशाली राजा, महाबली विजेता या चक्रवर्ती सम्राट् ही कर सकता था। प्राचीन गाथाओं तथा महाभारत पुराण इत्यादि में आदिकालीन राजाओं की चर्चा है जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया। राजा का सर्वाधिक गौरव अश्वमेध यज्ञ करना माना जाता था। वाजसनेयि संहिता २२.२२ में इस महान् यज्ञ के प्रयोजन को बहुत सुन्दर शब्दों में वर्णित किया गया है—

"हे ब्रह्मन्, हों सदा राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्म-तेज-द्युति-धारी
क्षत्रिय शूर शर-कुशल महारथी हों सब लक्ष्य-वेध-कारी।
धेनु दुधारू, भार-वह-क्षम वृषभ अश्व हों द्रुत-गति-चारी
गृह-कार्यों के सम्पादन में दत्तचित्त घर घर में नारी।
पुत्र प्राप्त यजमान करे यह वीर अजर-यौवन मदमाता
बढ़े अडिग जय-रथ पर, दमके सभा-मध्य वह वाग्मी ज्ञाता।
जब जब करें कामना, बरसाए पर्जन्य नवल रस-धारें
सरसे अन्न फलों से वसुधा, योग-क्षेम हों पूर्ण हमारे।

वाजसनेयि संहिता के अन्तिम पन्द्रह अध्याय परवर्ती काल के हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं। षड्विंश से पञ्चत्रिंश अध्याय तक, भारतीय परम्परा के अनुसार भी खिल (परिशिष्ट) हैं। वस्तुतः षड्विंश से एकोनत्रिंश तक के अध्याय पूर्ववर्ती अध्यायों के परिशिष्ट मात्र हैं। त्रिंशत् अध्याय के विषय में यह कहा जाता है कि यह भी अतिरिक्त रूप से है। यद्यपि यह तथ्य है कि इसमें किसी प्रकार की प्रार्थनाएँ नहीं हैं। इसमें उन लोगों की परिगणना है जिनकी "पुरुषमेध" में बलि दी जाती है। यह बलि दिव्य सत्ताओं के प्रति है या ऐसी सत्ताओं और शक्तियों के प्रति है जिन्हें कुछ काल के लिए दिव्यता के पद पर स्थापित किया गया है। पुरुषमेध में १८४ व्यक्तियों से अधिक की ही बलि है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—इसके लिए इसकी बलि दी जाती है—ब्रह्मन् के किए ब्राह्मण की, क्षत्रिय के लिए राजन्य की, मरुतों के लिए वैश्य की, तपस् के लिए शूद्र की, तमस् के लिए तस्कर की, नरक के लिए हत्यारे की, पाप के लिए क्लीब की, काम के लिए पुंश्चली की, कोलाहल के लिए गायक की, नृत्य

के लिए चारण की, गीत के लिए अभिनेता की...अन्तक के लिए शिकारी की...अक्षों (पासों) के लिए द्यूतकार की...निद्रा के लिए अंधे की, अधर्म के लिए बधिर की... प्रभा के लिए अग्नि प्रज्ज्वलित करने वाले की, यज्ञ के लिए धोबन की, कर्म के लिए रंगरेजन की...यम के लिए बन्ध्या की, उत्सव के आनन्द के लिए वीणावादक की, क्रोशन (चिल्लाने) के लिए वंशीवादक की...पृथ्वी के लिए पंगु की...द्युलोक के लिए गंजे की" इत्यादि। निश्चय ही इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती कि ये सब लोग इकट्ठे किए जाते थे और इनकी बलि दी जाती थी। सम्भवतः यह प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड था जो एक प्रकार के पुरुषमेध का प्रतिनिधित्व करता था, और जिसके द्वारा महान् अश्वमेध से आगे बढ़ने की कल्पना थी। सम्भवतः यह यज्ञीय रहस्यवाद तथा सिद्धान्त का एक भाग था। वास्तविक रूप में तो यह शायद ही कभी हुआ हो।[1] इसके समर्थन में यह तथ्य भी है कि एकत्रिंशत् अध्याय में ऋग्वेद का पुरुषसूक्त (ऋ. १०.९०) कुछ पाठभेद से है जिसमें यह कहा गया है कि पुरुष की बलि देकर उससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इस सूक्त में विश्व और पुरुष को एकरूप माना है और पुरुष (मनुष्य) को उच्चतम सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। पुरुषमेध में इस अध्याय का पाठ किया जाता है और इस अध्याय को उपनिषद् (गूढ़ सिद्धान्त) कहा है। विषय की दृष्टि से द्वात्रिंशत् अध्याय भी उपनिषद् ही है। इसमें प्रजापति (स्रष्टा) की पुरुष और ब्रह्मन् से एकरूपता स्थापित की गई है। चतुस्त्रिंशत् अध्याय के प्रथम छः मन्त्र भी उपनिषदों में परिगणित होते हैं और शिव-संकल्प नाम से श्रुत हैं। द्वात्रिंशत् से चतुस्त्रिंशत् अध्याय तक की प्रार्थनाएँ सर्वमेध में प्रयुक्त होती हैं। यह उत्कृष्टतम यज्ञ माना जाता है। इसमें यजमान अपनी सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में दे देता है और तपस्या करने के लिए वन में चला जाता है और शेष जीवन वहीं बिताता है। पंचत्रिंशत् अध्याय में कुछ अन्त्येष्टि-मंत्र हैं जो कि अधिकांशतः ऋग्वेद से लिए गए हैं। षड्त्रिंशत् से एकोनचत्वारिंशत् अध्याय तक प्रवर्ग्य प्रार्थनाएँ हैं। इस यज्ञ में यज्ञीय अग्नि पर एक स्थाली (देग) को गर्म करके लाल कर लिया जाता है। प्रतीक रूप से वह सूर्य का प्रतिनिधित्व करती है। फिर इस स्थाली में दूध उबाला जाता है और उसकी अश्विदेवों के प्रति हवि दी जाती है। यह सारा समारोह महारहस्यमय है। यज्ञ के अंत में यज्ञीय पात्रों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है कि

---

१. यही सम्मति ओल्डनबर्ग की है...Religion Des Veda. कीथ कहता है इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह कर्मकाण्ड केवल पुरोहितों की एक कल्पना है कि जिससे यज्ञीय प्रणाली में मनुष्य का समावेश भी हो जाए। हिलेब्रांड की सम्मति है कि पुरुषमेध एक वास्तविक यज्ञ है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारत में कहीं-कहीं मनुष्यबलि की प्रथा थी। परन्तु ब्राह्मण-संस्कृति में इसके लिए स्थान नहीं था। अतिप्राचीन जंगली मनुष्य बलिप्रथा के अवशेष ईंटों से वेदि बनाने में तथा शुनःशेप की गाथा में मिलते हैं। वैसे आज भी किन्हीं सम्प्रदायों में क्रूर मनुष्य बलिप्रथा कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पुरुषमेध किस प्रकार का यज्ञ था।

मनुष्य की आकृति बन जाए। दुग्धपात्र सिर, उस पर रखी गई कुशा घास केश, दूध की दो बाल्टियाँ कान, दो लघु स्वर्णपत्र आँखें, दो चषक एड़ियाँ। इस सब पर आटा छिड़क दिया जाता है जो कि मज्जा का प्रतिनिधित्व करता है। उस पर दुग्ध और मधु का मिश्रण छिड़का जाता है जो कि रुधिर का प्रतिनिधित्व करता है। इस यज्ञ में पढ़े जाने वाले मन्त्रों के अर्थों से भी इस कर्मकाण्ड की रहस्यमयता झलकती है।[1] वाजसनेयिसंहिता का चत्वारिंशत् अध्याय 'ईशोपनिषद्' नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषदों के प्रकरण में उस पर विचार करेंगे। विषय से तो यह स्पष्ट ही है कि वाजसनेयिसंहिता के कुछ अध्याय काल की दृष्टि से परवर्ती हैं। यह तथ्य इससे और पुष्ट होता है कि कृष्ण यजुर्वेद की प्रार्थनाएं वाजसनेयिसंहिता के पूर्वार्द्ध से आगे की सामग्री से सम्बद्ध नहीं हैं।[2] वाजसनेयिसंहिता अंशत: पद्यमय (ऋचामय) हैं और अंशत: गद्यमय। गद्यमय भाग का नाम ही "यजुष्' है। कहीं-कहीं गद्यमय भाग भी लयात्मक हैं और उनमें भी यत्र तत्र काव्य की उड़ानें देखने में आती हैं। यजुर्वेद में जो पद्य (ऋक्) मिलते हैं वे अधिकांशत: ऋग्वेद से लिए गए हैं। यज्ञ-कार्यों की दृष्टि से उन ऋचाओं में कहीं कहीं परिवर्तन कर दिया गया है। यजुर्वेद में ऋग्वेद का कोई पूरा सूक्त तो कहीं कहीं मिलेगा। अधिकांशत: सूक्तों से एक दो ऋचाएँ ले ली गई हैं। और किसी यज्ञीय कर्मकाण्ड की प्रार्थनाओं में जोड़ दी गई हैं। इसलिए इस प्रकरण में उन पर विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं है।[3]

यजुर्वेद में दो तीन शब्दों की छोटी छोटी अनेक प्रार्थनाएँ हैं जिनमें केवल देवता का नाम है जिसे हवि दी जा रही है। जसे "तुझको अग्नि के लिए" "तुझको इन्द्र के लिए" अथवा "यह अग्नि के लिए" या "अग्नि के लिए स्वाहा", "इन्द्र के लिए स्वाहा" ऐसे शब्दों के साथ हवि रख दी जाती है या अग्नि में डाल दी जाती है। नित्य प्रभात और सायं के अग्निहोत्र में की जाने वाली निम्न स्तुतियों से छोटी और सरल स्तुतियाँ कहीं भी दुर्लभ हैं। "अग्नि ज्योति है, ज्योति अग्नि है, स्वाहा" तथा "सूर्य ज्योति है। ज्योति सूर्य है स्वाहा"। किसी पवित्र कार्य का प्रयोजन भी प्राय: अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में कहा जाता है। उदाहरणार्थ—बछड़ों को गौओं से अलग करने के लिए पुरोहित जब वृक्ष की एक शाखा काटता है तो कहता है—"तुझे रस के लिए, तुझे शक्ति के लिए।" यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पात्र का संक्षेप से नाम लिया जाता है और उसके साथ अपनी कामना प्रकट कर दी जाती है। उदाहरणार्थ—जिस काष्ठ-खण्ड से यज्ञाग्नि को प्रज्ज्वलित करना है उसके विषय में कहा जाता है—"हे अग्नि, यह तुझे

---

१. इन यज्ञों वा उत्सवों के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—*Rituallitteratur* (Hille-Brandt; *Religion Des Veda*) (H. Oldenberg).

२. शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में वाजसनेयिसंहिता के केवल प्रथम १८ अध्याय अक्षरश: दिए गए हैं और उनकी व्याख्या दी गई है।

३. यहाँ हम कृष्ण यजुर्वेद में दी गई शास्त्रीय व्याख्याओं पर विस्तृत विचार नहीं कर रहे। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रकरण में उन पर विस्तृत विचार होगा।

समिद्ध करने वाला है। इसके द्वारा तू बढ़े और पुष्ट होवे; हम भी बढ़ें और पुष्ट होवें।" यज्ञ में प्रयुक्त की जाने वाली किसी वस्तु से हानि या बुरे जादू की आशंका होने पर उसके निवारण के लिए छोटा सा जादूमन्त्र बोल दिया जाता है। यूप को इस प्रकार संबोधित किया गया है—"सर्प मत बन, नाग मत बन"। यज्ञ के लिए दीक्षित यजमान की दाढ़ी बनाने के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले क्षुर को पुरोहित संबोधित करता है—"हे क्षुर, इसकी हिंसा मत कर"। राज्याभिषेक के समय राजा पृथ्वी की ओर देख कर कहता है—"हे माता पृथ्वी, तू मेरी हिंसा मत कर, मैं भी तेरी हिंसा न करूँ।"[१]

इन यज्ञीय मन्त्रों में सर्वदा देवताओं का आह्वान या स्तुति नहीं होती परन्तु अनेक प्रकारों से यज्ञीय पात्रों तथा यज्ञीय कार्यों का देवताओं से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। उदाहरणार्थ—पुरोहित यजमान की पत्नी को एक रज्जु से बाँधता है और कहता है—"तू अदिति के लिए मेखला है।" सोमयाग के लिए दीक्षित होने के अवसर पर अपने को सन और मूंज से बनी मेखला से बांधता है और कहता है—"तू अङ्गिरस् की शक्ति है।[२] ऊर्णा के समान मृदु है, मुझे शक्ति दे।" अब वह अपने अधोवस्त्र में ग्रन्थि लगाता है और कहता है—"तू सोम की ग्रन्थि है।" इसके अनन्तर वह अपना सिर अपनी पगड़ी या उत्तरीय के अन्दर कर लेता है और यह उच्चारण करता जाता है—"तू विष्णु की रक्षा (शर्म) है, यजमान की रक्षा है।" अपने उत्तरीय के सिरे में कृष्ण मृग के शृंग को लपेट कर वह कहता है—"तू इन्द्र की योनि (गर्भ) है।" पुरोहित शकट से यज्ञीय पुरोडाश इन शब्दों के साथ लेता है—"तू अग्नि का शरीर है। तुझे विष्णु के लिए, तू सोम का शरीर है तुझे विष्णु के लिए।" पुरोहित जब कोई भी यज्ञीय पात्र हाथ में लेता है तब वह निम्न पुनः पुनः प्रयुक्त मन्त्र बोलता है—"देव, सविता की प्रेरणा से मैं तेरा अश्विदेवों की बाहों के द्वारा और उषा के हस्तों के द्वारा ग्रहण करता हूँ।"[३]

पवित्र यज्ञीय अग्नि अरणियों के घर्षण के प्राचीन तरीके से ही प्रज्ज्वलित की जाए, ऐसा नियम है।[४] ऋग्वेद में अरणियों से अग्नि प्रज्ज्वलित करने की शिशु-प्रजनन की क्रिया से तुलना की गई है। निम्न लघु काष्ठफलक माता है; ऊपर का घर्षण करने वाला काष्ठ पिता है और अग्नि शिशु है।[५] यजुर्वेद में इन

---

१. वाज० ४.१, ६.१२, २.१४, १.१, ३.६, २०.२३.

२. 'अङ्गिरसः' प्राचीन अग्नि तथा जादू पुरोहित है तया अर्द्ध देवों के रूप में माने जाते हैं।

३. वाज० १.३०, ४.१०, ५.१, ६.३०।

४. अरणियों में एक छोटा काष्ठ-फलक होता है, और एक नुकीला काष्ठ-खंड उस पर तब तक घुमाते रहते हैं जब तक अग्नि प्रकट नहीं हो जाती। आज भी यह प्रथा अनेक आदिम जातियों में है, उदाहरणार्थ—एस्कीमो लोगों में। इसमें सन्देह नहीं कि यह मनुष्य जाति के पात्रों में प्राचीनतम है।

५. इंडोनेशिया के मलय लोग आज भी निम्न काष्ठफलक को स्त्री और उपरि काष्ठ-फलक को पुरुष कहते हैं। प्राचीन अरबों में भी इसी प्रकार कहा जाता था।

दो अरणियों की तुलना प्रेमी-युगल पुरूरवा-उर्वशी से की गई है; जिनसे आयु नाम का पुत्र हुआ। पुरोहित अपने हाथ में नीचे की अरणि लेता है और ये शब्द कहता है—"तू अग्नि का जन्मस्थान है।" फिर उस पर कुशा के दो तिनके रखता है और कहता है—"तुम दो अण्डकोश हो।" तब वह लघु काष्ठ-फलक को नीचे रखता है और कहता है—"तू उर्वशी है।" उपरि काष्ठ से कढ़ाई को छूता है और कहता है—"तू आयु है।" और फिर उपरि काष्ठ को इन शब्दों का उच्चारण करके निम्न फलक पर रखता है—"तू पुरूरवा है।" फिर वह निम्न मन्त्र बोलता हुआ उपरि काष्ठ को घुमाता है—"मैं तेरा गायत्री छन्द से मंथन करता हूँ; मैं तेरा त्रिष्टुभ् छन्द से मंथन करता हूँ; मैं तेरा जगती छन्द से मंथन करता हूं।"[1]

इस प्रकार के मन्त्र यजुर्वेद में बहुसंख्यक हैं, जिनके अर्थ का कोई विशेष महत्त्व नहीं है या निरर्थक हैं। इसकी तुलना में कहीं-कहीं (संख्या में अत्यल्प) लम्बी गद्य प्रार्थनाएं हैं जिनमें यजमान सीधे-साधे शब्दों में देवता के सम्मुख अपनी कामनाएँ अभिव्यक्त करता है। उदाहरण के लिए देखिए उपरि-उद्धृत सुन्दर प्रार्थना जोकि अश्वमेध पर की जाती थी। ऐसी प्रार्थनाएं भी प्रायः मिलती हैं जिनमें कुछ सन्तोषप्रद अर्थ है—

"अग्ने, तू तनूपा है, मेरी तनू की रक्षा कर
अग्ने, तू आयुर्दा है, मुझे आयु दे
अग्ने, तू वर्चोदा है, मुझे वर्चस् दे
अग्ने, मेरी तनू में जो न्यून है, उसे पूर्ण करदे।।"

(वाज० ३।१७)

"आयु यज्ञ से समर्थ हो
प्राण यज्ञ से समर्थ हो
चक्षु यज्ञ से समर्थ हो
श्रोत्र यज्ञ से समर्थ हो
पृष्ठ यज्ञ से समर्थ हो
यज्ञ यज्ञ से समर्थ हो।।"

पर इससे भी अधिक संख्या में वे प्रार्थनाएँ हैं जिनका अर्थ अत्यन्त अस्पष्ट है। उदाहरणार्थ—

"अग्नि ने एकाक्षर से प्राण को प्राप्त किया; मैं उसे प्राप्त करूं
'अश्विनों' ने द्व्यक्षर से द्विपाद मनुष्यों को प्राप्त किया; मैं उन्हें प्राप्त करूं
विष्णु ने त्र्यक्षर से तीन लोकों को प्राप्त किया; मैं उन्हें प्राप्त करूँ
सोम ने चतुरक्षर से चतुष्पाद पशुओं को प्राप्त किया; मैं उन्हें प्राप्त करूं
पूषा ने पञ्चाक्षर से पाँच दिशाओं को प्राप्त किया; मैं उन्हें प्राप्त करूँ

१. वाज० ५.२, शतपथ ब्राह्मण ३.४,१.२० तुलना करो शतपथ ब्राह्मण ८.५.२.१।

सविता ने षडक्षर से षट् ऋतुओं को प्राप्त किया, मैं उन्हें प्राप्त करूँ
मरुतों ने सप्ताक्षर से सप्त ग्राम्यपशुओं को प्राप्त किया, मैं उन्हें प्राप्त करूं
बृहस्पति ने अष्टाक्षर से गायत्री को प्राप्त किया; मैं उसे प्राप्त करूं
अदिति ने षोडशाक्षर से षोडश सोम को प्राप्त किया, मैं उसे प्राप्त करूं
प्रजापति ने सप्तदशाक्षर से सप्तदश सोम को प्राप्त किया; मैं उसे प्राप्त करूं।"
(वाज० ९.३१-३४)

यजुर्वेद में यह बहुत देखने में आता है कि कई परस्पर सम्बद्ध चीजों का तादात्म्य वा एकत्र परिगणन कर दिया गया है। इसलिए ये प्रार्थनाएं वा मन्त्र हमें निरर्थक शब्द-समुच्चय प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ—पाक-पात्र अग्नि पर इन शब्दों के साथ रखा जाता है—

"तू आकाश है, तू पृथ्वी है, तू मातरिश्वा की देगची है।"[1] (वाज. १.२)

अथवा जिस गाय से सोम खरीदा जाता है, पुरोहित उसे निम्न शब्दों में संबोधित करता है—

"तू चित्त है, तू मन है, तू धी है, तू दक्षिणा है, तू क्षत्रिया है, तू यज्ञिया है, तू अदिति है जिसके दोनों ओर सिर हैं।" (वाज० ४.१९)

अग्नि-वेदि के निर्माण के समय जो अग्नि, अग्नि-पात्र में वहाँ ले जाई जाती है, उसे निम्न शब्दों में संबोधित किया गया है—

"तू सुन्दर पंखों वाला गरुड़ है। तेरा सिर त्रिवृत् है, गायत्र तेरा चक्षु है। बृहत् और रथन्तर तेरे पंख हैं। स्तोम तेरी आत्मा है। छन्द तेरे अंग हैं। यजुर्मन्त्र तेरा नाम है। वामदेव्य साम तेरा शरीर है। यज्ञियायज्ञिय साम तेरी पूंछ है। अग्नि-वेदियां तेरे खुर हैं। तू सुन्दर पंखों वाला गरुड़ है। आकाश में जा, प्रकाश की ओर उड़।' (वाज. १२.४)

इसके अनन्तर पुरोहित अग्निपात्र लिए तीन पद चलता है और कहता है—

"तू प्रतिद्वन्द्वियों का वध करने वाला विष्णु का चरणन्यास है। गायत्री छन्द का आरोहण कर पृथ्वी पर एक एक पद रखता हुआ बढ़ता जा। तू विष्णु के मदमत्त शत्रुओं का नाश करने वाला चरणन्यास है, त्रिष्टुभ् छन्द का आरोहण कर अन्तरिक्ष में एक एक पद रखता हुआ बढ़ता जा। तू समाज को हानि पहुँचाने वाले शत्रुओं का वध करने वाला विष्णु का चरणन्यास है, जगती छन्द का आरोहण कर और द्युलोक में एक एक पद रखता हुआ बढ़ता जा। तू विरोधियों का वध करने वाला विष्णु का चरणन्यास है, 'अनुष्टुभ्' छन्द का आरोहण कर एक-एक पद रखता हुआ दिशाओं में बढ़ता जा।" (वाज० १२.५)

इस प्रकार की प्रार्थना के विषय में लियोपोल्ड फान श्रेडर कहता है—

---

१. मातरिश्वा वायु-देव है। इसलिए मातरिश्वा की देगची का अर्थ है वातावरण या आकाश।

हमें प्रायः सन्देह होने लगता है कि क्या इस प्रकार की प्रार्थनाएँ बुद्धिमान् लोगों की हो सकती हैं ? एक या एक ही प्रकार की बात को बार-बार दुहराते जाना अत्यन्त मूढ़बुद्धि लोगों के लेखन की विशेषता है।" इसके अनन्तर श्रेडर कुछ पागल लोगों के लेखन के उदाहरण देता है जो कि मनोवैज्ञानिकों से प्राप्त हुए और वस्तुतः उन लेखनों और यजुर्वेद की कई प्रार्थनाओं में समानता मिलती है। हमें यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि हम प्राचीन जनप्रचलित जादू टोनों के विषय में विचार नहीं कर रहे हैं जो कि हमें अथर्ववेद में और कहीं-कहीं यजुर्वेद में मिलते हैं। यहाँ हम यज्ञीय कर्मकाण्ड के लिए पुरोहितों द्वारा जादू टोने के मन्त्रों वा प्रार्थनाओं पर विचार कर रहे हैं जो उनकी अपनी मनगढ़न्त हैं। यजुर्वेद के कुछ प्रार्थना-मन्त्र तो वस्तुतः गद्य में लिखे गए जादू मन्त्रों के अतिरिक्त कुछ हैं ही नहीं। हमें यजुर्वेद की प्रार्थनाओं में अथर्ववेद के झाड़ फूंक और अभिशाप के मन्त्रों के समान मन्त्र भी यत्र-तत्र मिलते हैं। यजुर्वेद में ऐसी याज्ञिक क्रियाएं भी वर्णित हैं जिनका उद्देश्य शत्रुओं को हानि पहुँचाना है। जिस रथ पर यज्ञीय पात्र रखे जाते हैं उसके जुए को संबोधित करता हुआ पुरोहित कहता है—"तू जुआ (धूः) है। हानि पहुँचाने वाले को हानि पहुँचा। उसे हानि पहुँचा जो हमें हानि पहुँचाता है। उसे हानि पहुँचा जिसे हम हानि पहुँचाते हैं। (वाज० १.८)[1]

श्रेडर ने ऐसी यज्ञीय प्रार्थनाओं के कुछ नमूने मैत्रायणी संहिता में से दिए हैं।

"जो हमारा विरोधी है, उसे तथा जो हमसे घृणा करता है, उसे; जो हमारी निन्दा करता है, उसे तथा जो हमें हानि पहुँचाना चाहता है, उसे; तू उन सबको कुचल कर धूल में मिला दे।"

"हे अग्नि, जो हमसे घृणा करता है और हम जिससे घृणा करते हैं तू अपने ताप से उसे तप्त कर दे। हे अग्नि, जो हमसे घृणा करता है, और हम जिससे घृणा करते हैं, उसे अपनी ज्वाला से दग्ध कर दे। हे अग्नि, जो हमसे घृणा करता है और हम जिससे घृणा करते हैं, उसे अपनी किरण से भस्म कर दे। हे अग्नि, जो हमसे घृणा करता है और जिससे हम घृणा करते हैं उसे अपने महाशक्तिशाली बल से पकड़ ले।"

"हमारे प्रतिपक्षी मृत्यु वा सर्वनाश का ग्रास बनेंगे।"

इन झाड़-फूंक के मन्त्रों के समान ही अति प्राचीन काल से सामान्य जनों में प्रचलित पहेलियाँ भी यजुर्वेद में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त वास्तविक धर्म-शास्त्रीय पहेलियाँ भी हैं; जो 'ब्रह्मोद्य' कहालती हैं क्योंकि इनका उत्तर सोचने

---

१. इस मन्त्र में यजुर्वेद में बहुधा प्रयुक्त शब्द-चमत्कार भी है। मन्त्र निम्न है—
'धूरसि धुर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः।'

वाले से अपेक्षित है कि वह ब्रह्मन् (पवित्र ज्ञान) से परिचित हो।[1] ऋग्वेद और अथर्ववेद के प्रकरणों में भी हम इस प्राचीन 'साहित्यिक प्रकार' (पहेली) से परिचित हो चुके हैं। यजुर्वेद के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि किन अवसरों पर ये प्रहेलिका-क्रीड़ाएँ होती थीं। और कहीं कहीं तो ये पूजा के भाग के रूप में स्वीकृत हैं। वाजसनेयिसंहिता के त्रयोविंशत् अध्याय[2] में कई पहेलियाँ हैं जिनसे पुरोहित-जन अश्वमेध के अवसर पर अपना मनोरञ्जन करते थे। कुछ पहेलियाँ ऐसी हैं जो सामान्य बच्चों और किशोरों में प्रचलित होती हैं। परन्तु अधिकांशतः पहेलियाँ ऐसी हैं जिनका ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञीय रहस्यवाद से तथा उपनिषदों के दर्शन से सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ—निम्न (वाज० २३, ४५-४८, ५१) पहेलियाँ देखिए—

होता— "कौन चलता है अकेला ?
कौन लेता जन्म फिर फिर ?
विदित हिम-भेषज यहाँ क्या ?
क्या महत् आवपन सुस्थिर ?"

अध्वर्यु— "सूर्य चलता है अकेला,
चन्द्र लेता जन्म फिर फिर,
अग्नि हिम-भेषज विदित है
है महत् आपवन भू स्थिर।"

अध्वर्यु— "ज्योति क्या है सूर्य के सम ?
कौन सरस् समुद्र के सम ?
कौन पृथ्वी से बड़ा ?
मात्रा न किसकी जानते हम ?'

होता— "ब्रह्म[3] सूर्य समान ज्योति,
द्यौः सरस् समुद्र के सम,
इन्द्र पृथ्वी से बड़ा,
मात्रा न गौ की जानते हम।"

उद्गाता— "किस किस वस्तु में है पुरुष प्रविष्ट यहाँ ?
पुरुष में क्या क्या वस्तु अर्पित ? बताइए।
ब्रह्मन् पहेली यह, सोचें आप समाधान;
आपका क्या उत्तर है; सुनेंगे, सुनाइए।

---

१. ब्रह्मोद्यों के विषय में देखिए *Der Rigveda* (Ludwig) तथा *Geschichte der deutschen Litteratur* (Rud Koegel)। इसमें ब्रह्मोद्यों की प्राचीन जर्मन प्रहेलिका-काव्य से तुलना की गई है।

२. तैत्तिरीय संहिता ७.४.१८ में भी।

३. ब्रह्मन्—इसका अर्थ अनिश्चित है। यहां संभवतः अर्थ है—'पौरोहित्य' या 'पवित्र-ज्ञान।'

ब्रह्मा— "पांच वस्तुओं में यहाँ पुरुष प्रविष्ट; सुनें;
वे ही पाँच पुरुष[1] में अर्पित हैं; जानिए।
उत्तर विचारा यह, आप सुनें; मुझ से जी
'माया' में स्वयं को न बढ़ कर के मानिए।"

देवताओं की पूजा में प्रार्थनाओं और यज्ञीय मन्त्रों के समान ही इन प्रहेलिका-क्रीड़ाओं का भी महत्त्व है। 'देवताओं की पूजा' इस अभिव्यक्ति से, प्रार्थनाओं, मन्त्रों तथा यज्ञों का भी प्रयोजन पूर्ण स्पष्ट नहीं होता। अधिकाँश यज्ञीय कर्मकाण्डों तथा यजुर्वेद के मन्त्रों का उद्देश्य देवताओं का 'पूजन' नहीं है। इनका उद्देश्य है देवताओं को प्रभावित करना और यजमान की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए बाधित करना। देवता यह तो चाहते ही हैं कि उन्हें भोजन दिया जाए, परन्तु इसके साथ मनोरञ्जन भी चाहते हैं। देवताओं को रहस्यमय बातें रुचिकर हैं, यह बात वैदिक साहित्य में पुनः पुनः कही गई है। शतपथ ब्राह्मण में अनेकत्र (६.१,१.२ इत्यादि) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (४.२.२) में यह वाक्य मिलता है **परोक्षप्रिया एव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः॥** यह वाक्य अन्य ब्राह्मणों में भी अनेकत्र मिलता है।

यजुर्वेद में देवताओं को प्रभावित करने का एक और तरीका भी अपनाया गया है। परवर्ती काल में यह तरीका बहुत प्रचलित हो गया। इसमें किसी देवता के अधिक से अधिक नाम तथा विशेषण एकत्र परिगणित कर दिए जाते हैं और उसकी पूजा की जाती है कि देवता से कुछ उपलब्धि हो सके। इस प्रकार परवर्ती साहित्य में 'विष्णुसहस्रनाम' और 'शिवसहस्रनाम' जैसे स्तोत्र मिलते हैं। इनका पाठ बहुत लाभप्रद तथा भक्ति से पूर्ण माना जाता है। वाजसनेयिसंहिता (अध्याय १६) तथा तैत्तिरीय संहिता (४.५) में रुद्र देवता के सौ नामों का परिगणन किया गया है। यह प्रकरण 'शत-रुद्रिय' नाम से प्रसिद्ध है।

अन्त में एक और प्रकार की "प्रार्थनाएं" द्रष्टव्य हैं। परवर्ती काल में इन का बड़ा दुरुपयोग हुआ। ये हैं एक अक्षर या शब्द की 'प्रार्थनाएं' जिनका कोई अर्थ नहीं है या आज के दिन अर्थ ज्ञात नहीं है। इनका उच्चारण यज्ञों में अवसर-विशेष पर किया जाता था, और अत्यन्त पवित्र माना जाता था। इनमें मुख्य हैं स्वाहा (देवताओं के लिए) तथा स्वधा (पितरों के लिए)। इसी प्रकार अन्य शब्द हैं। 'वषट्' 'वेट्' 'वाट्' इत्यादि। इन सब अक्षरों या शब्दों में सबसे अधिक पवित्र 'ओम्' माना जाता है। 'ओम्' का मूल अर्थ है—'हाँ' (समर्थन या सहमति की अभिव्यक्ति)[2]।

---

१. 'पुरुष' का अर्थ है—'मनुष्य', 'व्यक्ति', 'आत्मा', 'विश्वात्मा'। पाँच=पाँच ज्ञानेन्द्रियां जो कि पुरुष अर्थात् मनुष्य में हैं और इनमें पुरुष अर्थात् 'विश्वात्मा' व्याप्त है।

२. ऐतरेय ब्राह्मण (७.१८) के अनुसार देवताओं के लिए प्रयुक्त भाषा में 'ओम्' का वही अर्थ है जो मानवीय भाषा (संस्कृत) में "तथा" का अर्थ है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद्

ओम् हजारों सालों से सर्वाधिक पवित्र अक्षर माना जाता है। भारतीयों के लिए यह अत्यन्त रहस्यपूर्ण अक्षर है। उपनिषदों में ब्रह्म को ओम् कहा गया है और इसका ध्यान करना ही समाधि की चरम अवस्था है। 'कठोपनिषद्' (२.१६) में कहा है—"यह अक्षर ही ब्रह्म है। यह अक्षर ही उच्चतम है। इस अक्षर को जान कर जो, जो कुछ चाहता है उसे मिल जाता है। इस ओम् के साथ तीन महाव्याहृतियाँ—भूः भुवः स्वाहा संयुक्त हैं। भारतीय विद्वान् इनका अर्थ क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक करते हैं। इनका वस्तुतः क्या अर्थ है ? यह कहना कठिन है। मैत्रायणी संहिता (१.८.५) में इन व्याहृतियों के विषय में कहा है—"ये महा व्याहृतियाँ ब्रह्म हैं। ये ही सत्य हैं, ये ही ऋत हैं, इनके बिना कोई भी यज्ञ नहीं हो सकता।"

कई शताब्दियों के बाद विकसित तन्त्र-साहित्य में रहस्यमय अक्षरों या शब्दों का प्रयोग बहुत प्रचलित हो गया। यहाँ तक कि कई स्थानों पर कई कई पृष्ठ ऐसी निरर्थक ध्वनियों से भरे पड़े हैं—'उम्', 'आम्' 'रीम्', 'ऊम्' 'एम्'; 'क्रोम्' 'फट्' 'अः', इत्यादि। यह बात भी अवधेय है कि प्राचीन काल में मन्त्र शब्द का मूल अर्थ था—वैदिक संहिताओं के छन्दस् या प्रार्थनाएं (ऋक् तथा यजुः)। परवर्ती काल में मन्त्र का अर्थ सिर्फ जादू टोने का मन्त्र (मन्तर) रह गया। यजुर्वेद में ही हम स्पष्ट रूप से यह देख सकते हैं कि "प्रार्थना" का अर्थ बदल कर जादू टोना के 'मन्त्र' हो गया है। वस्तुतः यजुर्वेद में ये दो अर्थ कहीं भी अलग-अलग प्रतीत नहीं होते।

साहित्यिक दृष्टि से यजुर्वेदसंहिता का अध्ययन कितना ही उबा देने वाला क्यों न हो, परन्तु भारतीय धर्म के वस्तुतः सामान्य रूप से धर्म विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है। जो कोई भी धर्म के इतिहास में "प्रार्थना" के उद्भव, विकास और महत्त्व की गवेषणा करना चाहता है उसके लिए यजुर्वेद का अध्ययन अनिवार्य है।

भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य को समझने के लिए यजुर्वेद संहिताएं अपरिहार्य हैं। यजुर्वेद के बिना हम ब्राह्मण साहित्य को नहीं समझ सकते और ब्राह्मण-साहित्य के बिना उपनिषदों को नहीं समझ सकते।

(१.१.८) में कहा है—"ओम् का अर्थ है 'स्वीकृति', क्योंकि जब मनुष्य किसी बात से सहमत होता है तो "ओम्" कहता है।" ओम् का हिब्रू शब्द 'आमीन' (Amen) से ध्वनि तथा अर्थ दोनों में साम्य है। यह साम्य आकस्मिक ही है।

ब्राह्मण-साहित्य[1]

वैदिक वाङ्मय में वेदों के अनन्तर द्वितीय स्थान ब्राह्मण-ग्रन्थों का है। मैक्समूलर की सम्मति है कि "भारतीय साहित्य के अध्येताओं के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन कितना भी उपयोगी क्यों न हो सामान्य पाठक के लिए उनका उपयोग 'न' के बराबर है। उनका अधिकांश भाग निरर्थक गपशप है, और यह बहुत अखरता है कि यह धर्मशास्त्रीय गपशप है। जिसे यह ज्ञात नहीं है कि भारतीय विचारधारा के इतिहास में ब्राह्मण-साहित्य का महत्त्व है उसके लिए इनके दस से अधिक पृष्ठ पढ़ना कठिन हो जाएगा और वह इन्हें अरुचि से एक ओर रख देगा।"[2]

ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन रुचिकर नहीं है, परन्तु भारतीयों के सम्पूर्ण परवर्ती धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य को समझने के लिए यह अध्ययन अनिवार्य है। तथा सामान्य धर्म-विज्ञान को पूरी तरह समझने के लिए भी इन ग्रन्थों का बहुत महत्त्व है। यजुर्वेद के विषय में भी जैसा ऊपर कहा गया है ठीक यही बात है। परन्तु इस दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थों के विषय में यह और भी अधिक यथार्थ है। धर्म के अध्येता के लिए तथा यज्ञ के वा पुरोहित-सम्प्रदाय के इतिहास के अध्येता के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करते हैं जैसे कि प्रार्थना के इतिहास के लिए यजुर्वेद-संहिताएं।

नपुंसक लिंग ब्राह्मण[3] (ब्राह्मणम्) का मूलार्थ है—कर्मकाण्ड के विषय में किसी विद्वान् पुरोहित एवं यज्ञ-विज्ञान के पण्डित का एक कथन। इन कथनों के समूह को भी ब्राह्मण नाम से अभिहित किया जाता है। सौभाग्यवश ब्राह्मणों में

---

१. इस विषय पर विस्तार के लिए देखिए—I.L.C. (L. Won Schroeder); *La doctrine du sacrifice dans les Brahmanas* (Sylvain Levi) ओल्डनबर्ग ने ब्राह्मणों में निहित ज्ञान की उपयुक्तता प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। ओल्डनबर्ग जिसे प्राग्वैज्ञानिक युगज्ञान कहता है उसे यदि अधिक ठीक शब्दों में कहें तो "पुरोहितों का मिथ्या कल्पित-ज्ञान" कहना चाहिए। ब्राह्मण-ग्रन्थों के गद्य के लिए देखिए—*Zur Geschichte der altin dischen Prosa* (Oldenberg).

२. *Chips from a German Workshop* VOL. 1. (Max Müller).

३. शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थानों पर नपुंसकलिंग बन्धु (संबंध) शब्द पवित्र वाणी, प्रार्थना तथा पवित्र ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; पुंलिग ब्रह्मन् पुरोहित अथवा ब्राह्मण पुरोहित के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पुंलिङ्ग ब्राह्मण का अर्थ है ब्राह्मण पुरोहित या धर्मशास्त्री।

ऐसी भी प्रभूत सामग्री है, जिसका यज्ञीय पूजा से केवल दूर का संबंध है। उदाहरणार्थ—सृष्टि-उत्पत्ति संबंधी पुराण-कथाएं, प्राचीन गाथाएं तथा आख्यायिकाए। तथापि ब्राह्मणों में एकमात्र आधारभूत विषय यज्ञ है। इसी पर सब विचारों का आरम्भ होता है, इसी की धुरी पर सम कुछ घूमता है। जिन बड़े-बड़े यज्ञों की वाजसनेयिसंहिता में चर्चा है उनकी ब्राह्मणों में क्रम से विस्तृत विवेचना की गयी है। विभिन्न कर्मकाण्डों तथा अनुष्ठानों के विषय में निर्देश दिए गए हैं। विभिन्न यज्ञीय कर्मकाण्डों के पारस्परिक संबंध पर तथा उद्धृत किए गए मन्त्रों व मन्त्र-संक्षेपों पर भी विचार किया गया है।[1] इनके साथ ही विविध अनुष्ठानों की प्रतीकात्मक व्याख्या की गई है, काल्पनिक तर्क प्रस्तुत किए गए हैं। प्रार्थना-मन्त्रों के साथ उनका (अनुष्ठानों का) संबंध स्थापित किया गया है, कर्म-काण्ड के अनुष्ठानों की विधि में अनेकत्र विद्वानों के परस्पर सम्मति-भेद की चर्चा की गई है और उनमें से एक पक्ष का समर्थन और दूसरे का निराकरण किया गया है। विभिन्न प्रदेशों में अनुष्ठानों की विभिन्नता का वर्णन किया गया है और यह भी कहा गया है कि विविध परिस्थितियों में यज्ञीय कर्मकाण्ड में क्या क्या परिवर्तन किए जा सकते हैं। प्रत्येक यज्ञ में पुरोहित की क्या कितनी दक्षिणा हो, इसके विधान में कहीं भी त्रुटि नहीं दिखाई गई। इसी प्रकार सर्वत्र यजमान को यह स्पष्ट किया गया है कि विभिन्न यज्ञीय कर्मकाण्डों को करने से उसे इहलोक तथा परलोक में क्या क्या प्राप्तियाँ होंगी। सार यह है कि यदि धर्मशास्त्रीय ज्ञान के विषय में 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है तो हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ-विज्ञान की कृतियाँ हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या बहुत रही होगी। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में अनेक उद्धरण विलुप्त ब्राह्मणों के मिलते हैं। तथापि उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या भी कम नहीं है। प्राचीन भारतीय साहित्य में इनका आकार अत्यन्त विशाल है। ब्राह्मणों का किसी न किसी वेद से संबंध माना जाता है तथा एक एक वेद के अनेक ब्राह्मण हैं, जिनका उद्भव विभिन्न शाखाओं में हुआ। यजुर्वेद के विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मणभाग भी सम्मिलित हैं। ब्राह्मण साहित्य का उद्भव कृष्ण यजुर्वेद से माना जा सकता है। विभिन्न शाखाओं (सम्प्रदायों) में वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थ विकसित होते गए और यह नियम बन गया कि प्रत्येक शाखा का एक ब्राह्मण होना चाहिए। ब्राह्मणों की इतनी अधिक संख्या का यही कारण है। यहां तक हुआ कि कई ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो ब्राह्मण नाम से अभिहित होते हैं, परन्तु विषय और विस्तार की दृष्टि से उनका ब्राह्मण साहित्य से कोई भी संबंध नहीं है और काल की दृष्टि से वे बहुत परवर्ती हैं। सामवेद के तथाकथित "ब्राह्मण" वस्तुतः वेदांगों[2] की श्रेणी में आते हैं। अथर्ववेद का गोपथ

१. शतपथ ब्राह्मण में कई स्थानों पर बन्धु—"संबंध" शब्द आता है जिसका अर्थ है गम्भीर अर्थ, वास्तविक अभिप्राय। परवर्ती भागों में इसी अर्थ में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग हुआ है।

२. देखिए वेदांगों पर अध्याय।

ब्राह्मण भी इसी कोटि का है। गोपथ ब्राह्मण वैदिक साहित्य की सबसे परवर्ती कृतियों में से एक है। प्राचीन काल में अथर्ववेद का कोई ब्राह्मण नहीं था। परवर्ती काल में यह समझा जाने लगा कि हर एक वेद का ब्राह्मण होना ही चाहिए। इस लिए इस स्थान की पूर्ति[1] के लिए यह लिखा गया।

प्राचीन ब्राह्मणों में से सर्वाधिक प्रमुख ब्राह्मणों का संक्षिप्त वर्णन निम्न है—

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसमें ४० अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय आठ पञ्चिकाओं (पाँच का समूह) में विभक्त है। परम्परा से इसका लेखक महिदास ऐतरेय माना जाता है। परन्तु सम्भवतः यह इसका संग्रहकर्त्ता या सम्पादक रहा होगा। इसका प्रमुख विषय है सोमयाग। इसके अतिरिक्त इसमें अग्निहोत्र और राजसूय यज्ञ का भी विवरण है। यह माना जाता है कि इस ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्याय परवर्ती काल के हैं।[2]

ऐतरेय ब्राह्मण से अत्यधिक सम्बद्ध है ऋग्वेद का एक अन्य ब्राह्मण—कौषीतकि अथवा शाङ्खायन। इसमें ३० अध्याय हैं। प्रथम ६ अध्यायों में पाक-यज्ञ (अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास यज्ञ तथा ऋतु यज्ञ) का वर्णन है। ७ से ३० अध्याय तक सोमयाग का वर्णन है जो बहुत कुछ ऐतरेय ब्राह्मण के सदृश है।[3] कौषीतकि ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण से परवर्ती है। ऐतरेय ब्राह्मण एक व्यक्ति तथा एक काल की कृति नहीं है जबकि रचना की दृष्टि से कौषीतकि ब्राह्मण एक व्यक्ति की कृति प्रतीत होती है।

सामवेद से सम्बद्ध ब्राह्मण है ताण्ड्यमहा-ब्राह्मण।[4] इसे पञ्चविंश

---

१. गोपथ ब्राह्मण पर विस्तार के लिए देखिए *Atharva Veda* (Bloomfield). ब्लूमफील्ड की सम्मति में गोपथ ब्राह्मण वेदान्त सूत्र से परवर्ती है; कलन्द (Caland) तथा कीथ इसे पूर्ववर्ती मानते हैं।

२. मार्टिन हॉग का अंग्रेजी अनुवाद १८६३ में प्रकाशित हुआ। १८७९ में आफ्रेच्ट (Aufrecht) ने सायण भाष्य के उद्धरण देते हुए एक संस्करण प्रकाशित किया। १९२० में कीथ ने इसे पूर्ण सायण भाष्य और इंगलिश अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। कीथ की सम्मति है कि ऐतरेय ब्राह्मण सम्भवतः तैत्तिरीय संहिता से पूर्ववर्ती है, तथा जैमिनीय और शतपथ ब्राह्मण से निश्चित रूप से परवर्ती है। ऐतरेय ब्राह्मण की भाषा के विषय में देखिए—पाणिनि (Lie Bich). महिदास ऐतरेय के विषय में देखिए—ऐतरेय आरण्यक (कीथ)।

३. कौषीतकि ब्राह्मण १८८७ में लिण्डनर ने सम्पादित करके प्रकाशित किया। १९२० में कीथकृत अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। कीथ लिखता है कि आपस्तम्ब कौषीतकियों (कौषीत-किनः) की चर्चा करता है। परन्तु वह बह्वृच ब्राह्मण (ऋग्वेदियों का ब्राह्मण) से जो उद्धरण देता है वह न तो ऐतरेय में मिलता है न कौषीतकि में। यह उद्धरण किसी और ऋग्वेद ब्राह्मण के होंगे जो विलुप्त हो गया है। एतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकि ब्राह्मण पर आलोचनात्मक तथा व्याख्यात्मक टिप्पणियों के लिए देखिए W. Caland, ZDMG.

४. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—*Gods and Saints of the great Brāhmaṇas* (E.W. Hopkins)।

ब्राह्मण (पच्चीस अध्यायों से युक्त) भी कहते हैं। यह प्राचीनतम ब्राह्मणों में अन्यतम है तथा इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण गाथाएं भी हैं। व्रात्यस्तोम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसमें उन यज्ञीय अनुष्ठानों का विस्तृत विवरण है जिनके द्वारा व्रात्य ब्राह्मण वर्ग से सम्मिलित किए जाते थे।[१] षड्विंश[२] ब्राह्मण ताण्ड्य (पञ्चविंश) का पूरक है। षड्विंश का अन्तिम भाग अद्भुत ब्राह्मण कहलाता है। इसमें चमत्कारों और शकुनों का वर्णन है। विषय की दृष्टि से यह वेदाङ्ग है। सामवेद का जैमिनीय ब्राह्मण ताण्ड्य-महा-ब्राह्मण से भी पूर्ववर्ती है। धर्म और गाथा के इतिहास की दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है, परन्तु इसकी उपलब्ध पाण्डुलिपि अत्यन्त खंडित है।[3]

कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में तैत्तिरीय संहिता का विषय ही आगे चल रहा है[४] क्योंकि कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में ब्राह्मण भाग सम्मिलित ही है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में केवल पुरुषमेध (प्रतीकात्मक पुरुष बलि)[५] का वर्णन है। संहिता में यह वर्णन नहीं है। इसके परवर्ती होने के अनेक कारणों में से यह भी एक कारण है। वस्तुतः यह यज्ञ विज्ञान को पूर्ण करने के लिए परवर्ती काल में ही रचा गया है।

शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें १०० अध्याय हैं। विस्तार और विषय की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है।[६] वाजसनेयिसंहिता के समान ही इस ब्राह्मण की भी दो शाखाएँ हैं—काण्व और माध्यन्दिन। माध्यन्दिन शाखा में १०० अध्याय १४ काण्डों में विभक्त हैं। प्रथम ९ काण्ड वाजसनेयिसंहिता के प्रथम १८ काण्डों की व्याख्या मात्र हैं। ये अन्तिम पाँच काण्डों से पूर्ववर्ती काल के हैं। इसमें सब सहमत हैं। प्रथम से पञ्चम काण्ड तक की विषयवस्तु में बहुत एकरूपता एवं निकट संबंध प्रतीत होता है। इनमें याज्ञवल्क्य की निर्भ्रान्ति

---

१. इसका वर्णन हम पहले कर आए हैं। विस्तार के लिए देखिए वेबर (HIL).

२. ली बिच ने यह सिद्ध किया है कि षड्विंश की भाषा पाणिनि से पूर्ववर्ती है।

३. सामवेद का शाट्यायन ब्राह्मण उपलब्ध नहीं है। उसके कुछ उद्धरण यत्र तत्र मिलते हैं। विशेष रूप से सायण के ऋग्वेद के भाष्य में।

४. तैत्तिरीय ब्राह्मण के विषय-विवरण के लिए देखिए—कीथ, HOS.

५. हम इस विषय पर विचार पहले कर आए हैं।

६. कीथ—"काल की दृष्टि से शतपथ-ब्राह्मण सर्वाधिक परवर्ती ब्राह्मणों में है।" ओल्टामेयर—"शतपथ ब्राह्मण में स्थान-स्थान पर उपनिषदों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है :" वाकरनेगल—"भाषा की दृष्टि से शतपथ तथा ऐतरेय परवर्ती काल के तथा पञ्चविंश और तैत्तिरीय प्राचीनतम काल के ब्राह्मण हैं—(इसके विपरीत दृष्टिकोण के लिए देखिए—कीथ, HOS, भाग २५) ओल्डनवर्ग की सम्मति में "प्राचीन" काल, तैत्तिरीय संहिता से तथा "परवर्ती" ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण से प्रारम्भ होता है।

प्रामाणिकता की प्रतिष्ठापना की गई है। याज्ञवल्क्य को पूर्ण शतपथ ब्राह्मण का प्रणेता माना जाता है; चतुर्दश काण्ड के अन्त में यह स्पष्ट रूप से कथित है। षष्ठ से नवम काण्ड तक अग्निवेदि का निर्माण (अग्नि-चयन) का वर्णन है। इन काण्डों में याज्ञवक्ल्य की चर्चा ही नहीं है। एक अन्य विद्वान् शाण्डिल्य को प्रामाणिक के रूप में उद्धृत किया गया है। इसी शाण्डिल्य को "अग्नि-रहस्य" के उद्‌गाता के रूप में माना गया है। यह "अग्नि-रहस्य" दशम काण्ड में वर्णित है। एकादश से चतुर्दश काण्ड पूर्वतर काण्डों के परिशिष्ट रूप में हैं। परन्तु इनमें कुछ ऐसे विषयों पर भी विचार है जिनका कि अन्य ब्राह्मणों में वर्णन नहीं है जैसे कि उपनयन (११.५.४), स्वाध्याय (वेदों का दैनिक अध्ययन)।[1] इसे "देव ब्राह्मण के प्रति किया गया यज्ञ" कहा गया है (११.५-६-८), अन्त्येष्टि संस्कार और कब्र बनाना (१३.८)। त्रयोदश काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध का वर्णन है। चतुर्दश काण्ड में "प्रवर्ग्य" अनुष्ठान का वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग बृहदारण्यक उपनिषद् है जिस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

वेदों के अपने अपने पृथक् ब्राह्मण हैं, परन्तु इन ब्राह्मणों में विषय की दृष्टि से कोई आपस में विशेष पृथक्ता नहीं है। पृथक्ता मात्र इतनी ही है कि ऋग्वेद के ब्राह्मणों में "होता", सामवेद के ब्राह्मणों में "उद्‌गाता" और यजुर्वेद के ब्राह्मणों में "अध्वर्यु" के कार्यों व कर्त्तव्यों का वर्णन है। विषय की दृष्टि से तो सब ब्राह्मणों का प्रतिपाद्य और शैली एक ही है और इन्हें पृथक्-पृथक् मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यह तथ्य विशेषरूप से उल्लेखनीय है; क्योंकि हम यह मानने के लिए बाधित हैं कि ब्राह्मण-साहित्य के उद्‌भव, विकास और प्रचार का कार्य कई शताब्दियों में पूर्ण हुआ होगा। यदि हम तथाकथित वंशों[2] की परम्परा को देखें तो उनमें ५० से ६० तक विद्वानों के नामों की चर्चा है जिनमें से प्रत्येक का सुदीर्घ वंश-वृक्ष है। यदि इन सब विद्वानों की अवस्थिति को भी यथावत् स्वीकार कर लिया जाए तो ब्राह्मण-साहित्य के विकास के लिए सैकड़ों ही नहीं,

---

१. भारत में वेदमन्त्रों के धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में पाठ की यहूदियों में प्रचलित 'थोरा-पाठ'' से तुलना की जा सकती है।

२. सामवेद से सम्बद्ध एक विशेष ब्राह्मण है जो 'वंश ब्राह्मण' कहलाता है। इसमें ५३ विद्वानों की सूची है। इनमें अन्तिम विद्वान् कश्यप है। कश्यप के विषय में कहा गया है कि इसने साक्षात् अग्नि से शिक्षा प्राप्त की। शतपथ ब्राह्मण में चार विभिन्न वंशों का वर्णन है। एक वंशावलि का शतपथब्राह्मण के अन्त में वर्णन है जिसके प्रारम्भिक शब्द निम्न हैं—''हमें यह ज्ञान भारद्वाजी के पुत्र से मिला है। भारद्वाजी के पुत्र को वात्सी माण्डवी के पुत्र से मिला था इत्यादि। इसके बाद ४० विद्वानों के नाम हैं। सबका उल्लेख मातृनामों से ही हुआ है। सूची में ४५वाँ नाम याज्ञवल्क्य का है। इसे उद्दालक का शिष्य कहा गया है। उद्दालक उपनिषदों में बहुचर्चित हैं। अन्तिम विद्वान् (५५वें) मानवीय गुरु का नाम कश्यप नैध्रुवि कहा गया है, और यह कहा गया है कि देवी वाक् ने स्वयं उसके सम्मुख ''ब्राह्मण'' प्रकट किया। वाक् ने इसे अम्भृणी (मेघ-गर्जन-रव) से और पुनः आदित्य से प्राप्त किया।

हजारों वर्ष अपेक्षित होंगे। वस्तुतः इन वंशावलियों का प्रयोजन यह है कि यह सिद्ध किया जाए कि यज्ञ का उद्भव किसी न किसी देवता—ब्रह्मा प्रजापति और सूर्य—से हुआ। परन्तु इन वंशावलियों में अनेक नाम ऐसे भी हैं जो वास्तविक ऐतिहासिक पारिवारिक नाम प्रतीत होते हैं। उन्हें विशुद्ध रूप से मनगढ़न्त कहना कठिन है। इन विद्वानों की वंशावलियों के अतिरिक्त अनेक गुरुओं के नाम ऐसे भी हैं, जिन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रामाणिक विद्वान् के रूप में उद्धृत किया गया है। यह निर्विवाद तथ्य है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रणेता वा सम्पादक यज्ञ-विज्ञान का उद्भव अत्यन्त सुदूर प्राचीन काल में मानते हैं, और वस्तुतः इस यज्ञ-विज्ञान के विकास के लिए कई शताब्दियों का काल अपेक्षित भी है।

ब्राह्मणों का तिथि निर्धारण का प्रश्न, वेदों के तिथि निर्धारण के समान ही अभी तक प्रश्न ही है। निश्चित रूप से केवल इतना कहा जा सकता है, कि जब ये प्रार्थनाएं और यज्ञ एक विशेष 'विज्ञान' के रूप में सर्वप्रथम प्रतिष्ठित हुए, ऋग्वेद संहिता तथा सूक्तों की कविता को बने अत्यन्त सुदीर्घ काल व्यतीत हो चुका था। सम्भवतः यह भी निश्चित है कि अथर्ववेद, यजुर्वेद और सामवेद के अधिकांश मन्त्र व गीत ब्राह्मण-ग्रन्थों की ऊहापोह से काफी पुराने हैं; दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि अथर्ववेद और यजुर्वेद के अन्तिम भाग और ब्राह्मणग्रन्थों के प्रारम्भिक भाग एक ही काल के हों। कम से कम भौगोलिक और साँस्कृतिक परिस्थितियों की तुलना के आधार पर यह प्रतीत होता है कि अथर्ववेद यजुर्वेद और ब्राह्मणग्रन्थों में परस्पर निकटता है जबकि ऋग्वेद उनसे सुदूर और पृथक् है। हम देख ही चुके हैं कि अथर्ववेद के काल में आर्यजातियाँ ऋग्वेद की जन्मभूमि सिन्धु प्रदेश से बढ़ते-बढ़ते पूर्व में गङ्गा-यमुना के प्रदेश तक फैल चुकी हैं। यजुर्वेद की संहिता और ब्राह्मणों में जिस प्रदेश का वर्णन है वह है कुरु-पंचाल-देश। कुरु तथा पांचाल इन दो शक्तिशाली जातियों के संग्राम ही महाभारत की कथा का मूल हैं। कुरुक्षेत्र को पवित्रभूमि माना जाता है और पुनः पुनः यह वर्णन मिलते हैं कि देवता स्वयं वहाँ यज्ञानुष्ठान वा भोज आयोजित करते हैं। कुरुक्षेत्र गङ्गा और यमुना के प्रदेश के पश्चिम में, सरस्वती और दृषद्वती इन दो छोटी नदियों के मध्य में अवस्थित है और इसके साथ ही मिला हुआ पंचाल प्रदेश है जो कि गङ्गा और यमुना के मध्य में, उत्तर पश्चिम से दक्षिण-पूर्व तक फैला हुआ है। गङ्गा और यमुना का मध्यवर्ती यह 'दोआब' प्रदेश दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेश से मथुरा तक फैला हुआ है। यह "ब्राह्मणभूमि" (ब्रह्मावर्त) कहलाती थी। स्मृतियों के अनुसार यहाँ का आचार व्यवहार ही सम्पूर्ण भारत के लिए आदर्श वा अनुकरणीय है। यह प्रदेश यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों का ही उद्भव और विकासभूमि नहीं है, अपितु सम्पूर्ण ब्राह्मण-साहित्य यहाँ से सारे भारत देश को मिला है।

ब्राह्मण-काल में हम धार्मिक वा सामाजिक स्थितियों को बहुत बदला हुआ पाते हैं। ऋग्वेद के प्राचीन देवताओं का वर्णन अथर्ववेद के समान यजुर्वेद तथा

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलता है। परन्तु उनका महत्त्व पूर्णरूप से समाप्त हो चुका है और उनके अन्दर जो भी शक्ति है केवल यज्ञ के कारण है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे देवता जिनका ऋग्वेद में सामान्य स्थान था, यजुर्वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गए, जैसे विष्णु, और विशेष रूप से रुद्र या शिव। प्रजापति को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हो गया। उसे देवों और असुरों दोनों का पिता माना जाता है। असुर (अवस्ता 'अहुर') शब्द का ऋग्वेद में अर्थ है "चामत्कारिक शक्तियों" से युक्त या "परमात्मा", तथा विशेष रूप से यह प्रायः वरुण के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं; परन्तु ब्राह्मण काल में तथा परवर्ती संस्कृत साहित्य में इसका अर्थ केवल "दैत्य" हो गया है। ब्राह्मणों में पुनः पुनः देवासुरसंग्रामों की चर्चा है। परन्तु ये संग्राम बहुत भयंकर नहीं हैं जैसे कि उदाहरण के लिए ऋग्वेद के इन्द्र-वृत्रसंग्राम, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए देव और असुर दोनों ही यज्ञ करते दिखाई देते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार तो यदि देवों को भी कुछ प्राप्त करना है तो उन्हें भी यज्ञ करने पड़ेंगे। ब्राह्मण-ग्रन्थों के लिए यज्ञ से अधिक शक्ति कहीं नहीं है। यज्ञ अब किसी लक्ष्य का साधन नहीं रह गया है, अपने आप में लक्ष्य हो गया है, वस्तुतः मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य हो गया है। यज्ञ एक ऐसी शक्ति है जो सब पर छाई हुई है। वस्तुतः यह "प्रकृति" की सृजनात्मक शक्ति है। इसलिए यज्ञ और प्रजापति (स्रष्टा) अभिन्न है। "प्रजापति यज्ञ है", ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस वाक्य को पुनः-पुनः दुहराया गया है। "यह यज्ञ सब प्राणियों की, सब देवताओं की आत्मा है।" "वस्तुतः जो अपने को यज्ञ के लिए दीक्षित करता है, वह अपने को 'सर्व' के लिए दीक्षित करता है, क्योंकि यज्ञ 'सर्व' का अनुसरण करता है, जिस यज्ञ के लिए वह अपने को दीक्षित करता है उसके लिए उद्योग करता हुआ वह अपने में से 'सर्व' को सृष्ट करता है।"[१] यज्ञ से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु में भी उतनी ही जादू की शक्ति है और वह उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। प्रार्थनाएं, मन्त्र, छन्द, साम और स्वर इत्यादि चामत्कारिक शक्ति से युक्त हैं ही, परन्तु यज्ञीय पात्र भी छुटे नहीं हैं। प्रत्येक यज्ञीय कार्य का सूक्ष्मतम वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अत्यन्त सामान्य कार्य की सामान्य बात को भी अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ-कला में निपुण पण्डितों की सुदीर्घ परम्परा है। गम्भीर भाव से विस्तृत गवेषणाएं एवं अन्वेषणाएँ की गई हैं—"यह कार्य उत्तर की ओर मुंह करके किया जाए कि दक्षिण की ओर। यज्ञ वेदि पर यह पात्र इस स्थान पर रखा जाए कि उस स्थान पर। दूर्वा की नोक उत्तर की ओर की जाए या उत्तरपूर्व की ओर, पुरोहित अग्नि के सम्मुख होकर प्रवेश करे या पीछे से, उसे किस दिशा में मुख करना चाहिए, पुरोडाश को कितने भागों में विभक्त करना चाहिए, हवन कुण्ड में घी को उत्तरार्द्ध या दक्षिणार्द्ध या मध्य में डालना चाहिए, किसी मन्त्र या गीत को किस समय

१. शत० १४.३.२.१; ३.६,३.१,

उच्चारित किया जाना चाहिए···।"[1] इन विवरणों के शुद्ध ज्ञान होने पर ही यजमान का सुख-दुःख पूर्ण रूप से निर्भर रहता था। "वस्तुतः यज्ञ ऐसा ऊबड़-खाबड़ विषम जङ्गल था कि उसको पार करने के लिए सौ दिन गाड़ी में बैठा हुआ भटकता रहे और यदि कोई इस जङ्गल में बिना पूरी जानकारी के प्रवेश करे तो भूख व प्यास, बुरी आत्माएँ और राक्षस उसका जीवन नरकमय बना दें, जैसे किसी जङ्गल में भटकते हुए मूर्ख व्यक्ति को भयङ्कर कष्टों का सामना करना पड़ता है। परन्तु यदि कोई समझदार और जानकार आदमी यज्ञ करता है तो वह एक देवता से दूसरे देवता के पास ऐसे जाता है जैसे एक नदी की धारा से दूसरी धारा को, एक सुरक्षित स्थान से दूसरे सुरक्षित स्थान को। उसे सर्वथा भद्र की प्राप्ति होती है और वह स्वर्ग का अधिकारी होता है।"[2]

परन्तु ये "जानकार" जो कि यज्ञ के जङ्गल में यजमान रूपी यात्री को पार पहुँचाते हैं, पुरोहित हैं जोकि ब्राह्मण जाति के होते थे। ब्राह्मण-काल में यह जातिप्रथा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। इस जाति-प्रथा का विकसित रूप अथर्ववेद के अन्तिम चरण में निष्पन्न हो चुका था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ब्राह्मण पुरोहित के सर्वातिशायी महत्त्व की पुनः-पुनः उद्घोषणा की गई है। उनके विषय में कहा गया है कि वे पृथ्वी पर देव (भूदेव) हैं। "हाँ, ये ब्राह्मण देव ही हैं।"[3] एक ब्राह्मण ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कहा है :—

"दो प्रकार के देव हैं। एक तो देव देव हैं और एक विद्वान् व स्वाध्याय करने वाले देव हैं।[4] ब्राह्मण मानवीय देव हैं। इन दो देवों में यज्ञ विभक्त है। यज्ञीय पुरोडाश इत्यादि देवों के लिए हैं और दक्षिणाएँ मानवीय देवों, विद्वानों तथा स्वाध्यायशील ब्राह्मणों के लिए हैं। यज्ञीय पुरोडाश इत्यादि से वह देवों को प्रसन्न करता है, दक्षिणाओं से वह मानवीय देवों, विद्वान् स्वाध्यायशील ब्राह्मणों को प्रसन्न करता है। जब ये दो देव तृप्त व प्रसन्न हो जाते हैं तो उसे (यजमान को) स्वर्ग के आनन्दमय लोक में पहुँचा देते हैं।"[5]

---

१. एगलिंग (SBE Vol. 12 P.x) प्राचीन रोमनिवासियों के विषय में कहता है कि धर्माचार्य लोगों की यज्ञीय कर्मकाण्ड में बड़ी दृढ़ आस्था थी और कर्मकाण्ड की छोटी से छोटी बातों के विषय में भी वे सतर्क रहते थे। प्राचीन रोम में यह प्रथा थी कि यदि किसी कर्मकाण्ड में छोटी-सी भी त्रुटि रह जाए तो उसे ३० बार भी वे दोहराने का आग्रह करते थे। किसी भी कर्मकाण्ड को बिल्कुल निष्फल समझा जाता था यदि किसी शब्द के उच्चारण में जरा-सी भी त्रुटि रह गई। यदि किसी कार्य में पूर्णता की दृष्टि से जरा सी भी कमी रह गई या संगीत ठीक क्षण पर न रोक दिया गया, इत्यादि।

२. शत० १२.२. ३. १२.

३. तैत्तिरीय संहिता १.७.३.१.

४. शब्दानुवाद—"जिन्होंने सुना है और जो दुहराते हैं (जो उन्होंने सुना है उसे वे दुहराते हैं)।"

५. शत० २.२.२.६; ४.३.४.४.।

ब्राह्मण के चार कर्तव्य हैं—ब्राह्मण कुल में जन्म, ब्राह्मणों के आचार से युक्त होना, यश (विद्वत्ता द्वारा अर्जित) तथा लोगों को परिपक्व (योग्य) बनाना (अर्थात् यज्ञों का अनुष्ठान करना जिनसे लोग परलोक के लिए परिपक्व होते हैं)। परन्तु 'परिपक्व' लोगों के भी ब्राह्मणों के प्रति चार कर्त्तव्य हैं—वे उनका सम्मान करें, उन्हें दक्षिणाएँ दें, उन पर अत्याचार न करें और उनका वध न करें। किसी भी स्थिति में राजा ब्राह्मण की सम्पत्ति पर हाथ न डाले। यदि राजा सम्पूर्ण वस्तुओं के साथ अपना सारा देश भी पुरोहितों को दक्षिणा के रूप में दे दे तो वह सर्वमान्य रूप से उनकी सम्पत्ति बन जाती है। राजा में यह शक्ति है कि वह ब्राह्मण पर अत्याचार करले, परन्तु यदि वह ऐसा करेगा तो उसका निश्चित रूप से सर्वनाश हो जाएगा। राजा के अभिषेक के समय ब्राह्मण कहता है—"ऐ लोगो, यह आदमी तुम्हारा राजा है; हम ब्राह्मणों का राजा तो सोम है।" इस पर शतपथ ब्राह्मण का कथन है—"इस कथन के द्वारा वह सम्पूर्ण राष्ट्र को राजा के अन्न के रूप में स्थापित करता है।[१] केवल ब्राह्मण को अपवाद के रूप में रखता है। केवल इसलिए ब्राह्मण का किसी भी दशा में अन्न के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका राजा सोम है।"[२] केवल ब्राह्मण का वध ही वास्तविक वध है। ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर के विवाद में न्यायाधीश का यह कर्त्तव्य है कि ब्राह्मण के पक्ष में निर्णय दे। क्योंकि ब्राह्मण का विरोध नहीं किया जा सकता।[३] कोई भी वस्तु जो किसी भी कारण से निषिद्ध है जिसे कोई छू नहीं सकता और न ही उपयोग में ला सकता है, ब्राह्मण को दे दी जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, किसी मृत व्यक्ति के पत्थर और मिट्टी के बर्तन या कोई गाय (जो कि अग्निहोत्र में दूध के लिए रखी गई है।) जो बिगड़ जाए या बीमार हो जाए। विशेष रूप से यज्ञ के वे अवशेष तथा अन्न, जो औरों के लिए निषिद्ध हैं, वे ब्राह्मण को दे दिए जाने चाहिएँ क्योंकि ब्राह्मण के जठर को कोई भी वस्तु हानि नहीं पहुँचाती।[४]

इस प्रकार अन्त में ब्राह्मण ग्रन्थकार इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ब्राह्मण स्वर्गीय देवों की तुलना में रखा जाने वाला 'मानवीय देव' नहीं है, परन्तु वह देवों से ऊपर है। शतपथ ब्राह्मण[५] में कहा गया है—"ब्राह्मण ऋषि का अवतार है, वह

१. अर्थात् राजा की आजीविका लोगों पर आश्रित है जो उसे कर देते हैं।

२. शत०. ११.५.४.१; १३.५. ४.२४; १३.१.५.४; ५.४.२.३.

३. शत० १३.३.५.३। तैत्तिरीय संहिता २.५.२.६.

४. तैत्तिरीय संहिता २.६.८.७; देखिए गेटे फॉस्ट—
"चर्च का हाजमा बहुत अच्छा है
सारी जमीनों को आत्मसात् कर चुका है।
फिर भी अधिक खाया है, ऐसी कोई अनुभूति नहीं।"

५. १२.४.४.६. बाद में मनुस्मृति में यह कहा गया है—"ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान्, महान् देवता है। तथा 'ब्राह्मण सब से ऊंचा देवता है।' मनु० ६. ३१७, ३६.

वस्तुतः सर्वदेव है।" अर्थात् उसमें सब देवता सम्मिलित हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरोहितों की यह मान्यता संस्कृति के इतिहास में पुरोहितों के दम्भ के उदाहरण के रूप में तो है ही; प्राचीन भारत के इतिहास में सभ्यता और संस्कृति के स्वरूप पर इसका बहुत प्रभाव हुआ। वस्तुतः इस विचारधारा का मूल भारतयूरोपीय काल में ढूंढा जा सकता है। उदाहरणार्थ एक हिब्रू कवि कहता है—"मनुष्य क्या है जो प्रभु "तू" उसका ख्याल करता है और मनुष्य का पुत्र जो प्रभु तू उसके पास आता है ?" तथा कहता है "यह मनुष्य शून्य के समान है।" एक ग्रीक कवि कहता है—"दुनिया में बहुत कुछ है जो शक्ति से सम्पन्न है परन्तु सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न मनुष्य है।" और एक जर्मन कवि—जिस कवि ने एक अतिमानव[1] फॉस्ट की सृष्टि की है जो मृतात्माओं के संसार में दरवाजों पर जोर से टक्कर मारता है उसने प्रोमीथियस का गीत गाया है, जो देवों को कहता है :—

"मुझे नहीं है ज्ञात कि जो हो
इस रवि के नीचे ए देवो,
तुमसे अधिक दीनतर दुर्बल।"

और भारत में हम देखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में किस प्रकार पुरोहित यज्ञ के द्वारा स्वयं को देवों से ऊपर उठा लेता है। महाभारत, रामायण इत्यादि में हमें तपस्वियों की अनेकों कथाएँ मिलती हैं जो तपस्या के द्वारा अपने को इतना ऊँचा उठा लेते हैं कि उनके सम्मुख देव अपने सिंहासनों पर कांपने लगते हैं। बौद्ध-धर्म में देवराज इन्द्र इत्यादि दिव्य प्राणी अत्यन्त अमहत्त्वपूर्ण स्थिति में पहुँच गए हैं। सामान्य मनुष्यों से उनमें इतना ही अन्तर है कि वे कुछ अधिक ऐश्वर्यशाली हैं और उनका यह ऐश्वर्य भी तभी तक है जब तक वे श्रद्धा से बौद्ध-धर्म अनुयायी बने रहें; तथा बुद्ध इन देवों से अनन्त गुना ऊपर है, न केवल बुद्ध ही अपितु ऐसा प्रत्येक मनुष्य जो सर्वभूतहितरति और वैराग्य के द्वारा 'अर्हत्' बन गया है।[2]

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में उस महान् आन्दोलन का पथ प्रशस्त हो चुका था जिससे कि बौद्ध धर्म उद्भूत हुआ। इस विषय में तो सब एकमत हैं कि प्राचीन तथा वास्तविक ब्राह्मण-ग्रन्थ प्राग्बौद्ध काल के हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में बौद्ध-धर्म[3] की कहीं कोई चर्चा नहीं है; जबकि बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-साहित्य विकसित हो चुका था। अतः यह कथन युक्तिसंगत ही होगा कि कर्मकाण्डीय संहिताएँ तथा ब्राह्मण-साहित्य जिन शताब्दियों में विकसित हुआ वे ऋग्वेद के परवर्ती और बौद्धधर्म के पूर्ववर्ती हैं।

१. "किस कुत्सित विभीषिका ने जकड़ तुझे लिया है हे अति-मानव !"

२. देखिए A. Weber, SBA, 1897. 1.594 ff.

३. यह उल्लेखनीय है कि वाजसनेयिसंहिता (अध्याय ३०) के पुरुषमेधों की सूची में भिक्षुकों-भिक्षुकियों या बौद्धों की बिल्कुल भी चर्चा नहीं है, और यह सूची सम्भवतः प्राचीनतम ब्राह्मण-ग्रन्थों से परवर्ती है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का वास्तविक विषय क्या है ? उससे पाठकों को अवगत कराने के लिए कुछ ही उदाहरण पर्याप्त होंगे। भारतीय स्वयं ही प्राय: ब्राह्मणों के विषय को दो भागों में विभक्त करते हैं—'विधि' और 'अर्थवाद'। विधि का अर्थ है 'नियम' और अर्थवाद का अर्थ है 'अर्थ की व्याख्या'। ब्राह्मणों में पहले विभिन्न कर्मकाण्डों के अनुष्ठानों के नियम दिए गये हैं और फिर इनकी व्याख्या की गई है। कर्मकाण्डीय कार्यों का स्वरूप और प्रयोजन सर्वत्र समझाया गया है और साथ में प्रार्थनाएं संयोजित की गई हैं। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण का व्रत, दर्श तथा पूर्णमास यज्ञ से पहले दिन यजमान द्वारा किए जाने वाले "उपवसथ" व्रत के नियमों से होता है :—

> "जिसने यह व्रत ग्रहण करना है वह आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नियों के मध्य खड़ा होकर पूर्वाभिमुख होकर जल का स्पर्श करता है। वह जल का स्पर्श क्यों करता है ? इसका कारण यह है कि असत्य भाषण के कारण से मनुष्य (यज्ञ की दृष्टि से) अपवित्र है, और क्योंकि इस कार्य से उसकी आन्तरिक शुद्धि हो जाती है; —क्योंकि जल वास्तव में (यज्ञ की दृष्टि से) शुद्ध है। 'यज्ञ की दृष्टि से शुद्ध होकर मैं व्रत का धारण करूँगा', इस प्रकार (वह विचार करता है); क्योंकि जल वास्तव में पवित्र करने वाला है 'इस पवित्र करने वाले जल के द्वारा पवित्र हुआ मैं व्रत का धारण करूंगा', इस प्रकार (वह विचार करता है, और) यह कारण है कि वह जल का स्पर्श करता है।"[1]

इन सीधी-साधी व्याख्याओं के साथ प्राय: किसी कर्मकाण्ड के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत प्रस्तुत करके विवाद उपस्थापित किया गया है; जैसे उपर्युक्त व्रत के विषय में यह विचार किया गया है कि उस समय उपवास करना चाहिए या नहीं; और यह कहा गया है :—

> "अब खाने (या) उपवास के विषय में, इस प्रसंग में आषाढ़ सावयस का मत है कि इस व्रत का स्वरूप उपवास करना है। (उसकी युक्ति है कि देव निश्चित रूप से मनुष्य के मन की बात जानते हैं। वे जानते हैं कि जब वह (यजमान) इस व्रत का धारण करता है तो वह अग्रिम प्रभात में उनके लिए यज्ञ करना चाहता है। इसलिए सब देवता उसके घर का आश्रय ले लेते हैं; और उसके घर में (उसके या अग्नियों के) पास रहते हैं (उप-वस्)। इसीलिए इस दिन को उपवसथ कहते हैं।"
>
> [७]

यह उसके लिए अनुचित भी है कि वह लोगों से (जो उसके अतिथि के रूप में उसके साथ रह रहे हैं)[2] पूर्व भोजन करले; और यह दोष और भी अधिक बढ़

---

१. शत० १.१.१.१.

२. कोष्ठकों में कुछ शब्द ऊपर से बात को स्पष्ट करने के लिए लिखे गए हैं। ब्राह्मण-

जाएगा यदि वह देवताओं से (जो उसके साथ रह रहे हैं) पहले भोजन करले। इसलिए उसे भोजन बिल्कुल नहीं करना चाहिए। [८]

दूसरी ओर याज्ञवल्क्य का कथन है—"यदि वह भोजन नहीं करता तो उसका यज्ञ पितरों के प्रति हो जाता है;[१] और यदि वह भोजन करता है तो वह देवों से पहले भोजन कर लेता है। इसलिए यह उचित है कि वह उस चीज को खाए जो खाकर भी खाने में न गिनी जाए", क्योंकि हव्य बलि आदि के रूप में जिस चीज का उपयोग नहीं किया गया है, यदि वह खा भी ली जाए तो माना जाता है कि वह नहीं खाई। इसलिए जब वह खा लेता है तो वह पितरों के प्रति यज्ञ करने वाला बनने से बच जाता है और ऐसी चीज खाने से जिसका हव्य आदि के लिए उपयोग नहीं किया गया है, वह देवों से पूर्व खाने का दोषी नहीं होता। [९]

इसलिए उसे चाहिए कि वह उस चीज को खाए जो जङ्गल में उगती है, जंगली पौधे या वृक्षों के फल।"[२]

ऊपर उपवसथ पर निर्वचन की दृष्टि से विचार किया गया है। ऐसे निर्वचन ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत मिलते हैं। तथा च यह अधिक अच्छा समझा जाता है कि यदि कोई निर्वचन पूर्ण रूप से स्पष्ट न हो क्योंकि "देवों को परोक्ष प्रिय है।" उदाहरण के लिए इन्द्र का निर्वचन इन्द् (प्रदीप्त करना) से किया गया है और कहा गया है वस्तुतः इसलिए उसका नाम इन्द्र हुआ और उसे 'इन्द्र' केवल इसलिए कहा गया क्योंकि देवों को परोक्ष प्रिय है। इसी प्रकार 'उलूखल' शब्द का निर्वचन 'उरु करत्' (यह विस्तृत करेगा) से किया गया है और कहा गया है कि उलूखल उरुकर के लिए रहस्यमय अभिधान है।[३] निर्वचन के समान ही 'तादात्म्य-स्थापन' और प्रतीकात्मकता ब्राह्मण-ग्रन्थों में यजुर्वेद संहिताओं से अधिक उपलब्ध हैं।[४] परस्पर अत्यधिक विभिन्न वस्तुओं का एकत्र परिगणन किया जाता है और एक दूसरे से संबंध स्थापित किया जाता है। ब्राह्मणों के प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसी व्याख्याएँ मिल जाती हैं:—

> "अब वह (अग्नियों के) सब ओर कुशा बिछाता है और पात्र लाता है, दो-दो पात्र करके शूर्प तथा चमस, काष्ठ-खड्ग तथा मृत्तिका-कपाल, शङ्कु तथा कृष्णाजिन, उलूखल तथा मूसल, सिल तथा बट्टा। ये गिनती

ग्रन्थ पाठकों के लिए नहीं लिखे गए थे। ये श्रोताओं के लिए भाषित रूप में हैं। भाषण करते हुए कई भाव किसी शब्द को बलपूर्वक बोलने से या इंगित करने से भी प्रकट होते हैं। इसलिए कई बार वाक्य पूरा भी नहीं किया जाता।

१. क्योंकि पितरों के प्रति यज्ञ से पूर्व उपवास का नियम है।

२. शत० १.१.१.१, ७-१०.

३. शत० ६.१.१.२; ७.५.१.२२.

४. ब्राह्मणों में तादात्म्य स्थापन पर देखिए—Oldenberg, *vorwissen-schaftliche wissenschaft*, pp. 110 ff.

में दस हैं, क्योंकि 'विराज्' (छन्द) में दस अक्षर होते हैं और इससे यज्ञ विशेष दीप्ति से युक्त (विराज्) हो जाता है। इसलिए वह विराज् के साम्य से यज्ञ करता है। वह एक समय में दो वस्तुएँ लाता है। उसका कारण यह है कि युगल का अर्थ है शक्ति, क्योंकि जब दो मिल कर कोई काम करते हैं उसमें शक्ति होती है; तथा च युगल सर्जनात्मक सम्भोग का प्रतीक है। इससे (उन पदार्थों के) सर्जनात्मक संसर्ग पर प्रभाव पड़ता है।"[1] [१]

"यज्ञ पुरुष है, इसका कारण यह है कि पुरुष इसे प्रसृत (पूर्ण) करता है, क्योंकि जब इसे प्रसृत किया जाता है तो इसका आयाम ठीक पुरुष के समान होता है।[2] यही कारण है जिससे कि यज्ञ पुरुष है।" [१]

जुहू[3] उससे (पुरुषाकार यज्ञ से) सम्बद्ध है। इसी प्रकार उपभृत्[3] और ध्रुवा[3] भी सम्बद्ध है। ध्रुवा पुरुष के धड़ का प्रतिनिधि है। धड़ से सब अङ्ग विकसित होते हैं। इसी कारण ध्रुवा से सम्पूर्ण यज्ञ विकसित होता है। [२]

स्रुव[4] (पुंलिग) प्राण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह प्राण सब अङ्गों में सञ्चरित होता है। इसी कारण स्रुव स्रुचों में सञ्चरित होता है। (स्रुच्, स्त्रीलिंग)। [३]

वह जुहू उससे (पुरुष से)[5] परे उस द्युलोक के अतिरिक्त कुछ नहीं है और उपभृत् यह अन्तरिक्ष है और ध्रुवा यह वही (पृथ्वी) है। इस पृथ्वी से सब लोक उत्पन्न होते हैं और इसलिए ध्रुवा से सम्पूर्ण यज्ञ विकसित होता है। [४]

स्रुव उस प्रवाहित होने वाले (वात) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यही इन सब लोकों को पार करके प्रवाहित होता रहता है और इसी कारण स्रुव इन सब स्रुचों में जाता है।[6] [५]

ब्राह्मणों में अनेक स्थानों पर यज्ञ का विष्णु से तादात्म्य स्थापित किया गया है। इसी प्रकार पुनः पुनः प्रजापति से भी तादात्म्य स्थापित है। प्रजापति से संवत्सर का भी अनेक स्थानों पर तादात्म्य है। अग्नि-वेदिका के रूप में स्थित अग्नि का भी संवत्सर से तादात्म्य स्थापित किया गया है; क्योंकि अग्नि-वेदिका के निर्माण में पूरा

१. शत० १.१.१.२२.

२. क्योंकि यज्ञवेदि को मापते हुए निम्न मानों का प्रयोग किया जाता है—पुरुष का आयाम, बाहों का आयाम, बालिश्त की लम्बाई इत्यादि।

३. विभिन्न यज्ञीय चमसों के नाम।

४. स्रुव से घृत पात्र से घी लिया जाता है और उसे यज्ञीय चमसों में डाला जाता है।

५. 'उससे परे' का तात्पर्य है पुरुष से परे। पुरुष का अर्थ मनुष्य है, परन्तु पुरुष का अर्थ आत्मा भी है। यह महान् आत्मा का वाचक भी है। इसे प्रजापति भी कहा गया है। इस प्रकार यज्ञ का तादात्म्य केवल पुरुष (मनुष्य यजमान) से ही स्थापित नहीं किया जाता है परन्तु सर्वव्यापी आत्मा तथा प्रजापति से भी स्थापित किया जाता है।

६. शत० १.३.२, १-५।

वर्ष लग जाता है। एक स्थान पर कहा गया है—अग्नि संवत्सर है और संवत्सर यह लोक है", इसके एकदम बाद कहा गया है—"अग्नि प्रजापति है और प्रजापति संवत्सर है।" अथवा "प्रजापति वस्तुतः यज्ञ तथा संवत्सर है। दर्श (नवीन चन्द्र रात्रि) द्वार है और चन्द्र इस द्वार की अर्गला।[1] यहाँ आँखों के प्रतीक के द्वारा अनेक बातें कही गई हैं। इस प्रकार उदाहरणार्थ हम पढ़ते हैं :—

> "चार (मन्त्रों) के साथ वह (कुछ राख) लेता है। इसके द्वारा वह उसे (अग्नि को) चतुष्पाद पशु प्रदान करता है और पशु अन्न है। इस प्रकार वह उसे अन्न प्रदान करता है। तीन (मन्त्रों) के साथ वह (राख) (पानी में) डालता है। ये मिला कर सात हुए। क्योंकि यज्ञवेदिका में सात परतें होती हैं। सात ऋतुएँ एक संवत्सर है, और संवत्सर अग्नि है। जितना महान् अग्नि है, जितना महान् उसका माप है उतना महान् वह हो जाता है।"[2]

> ये निरर्थक व्याख्याएँ किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करतीं। कहीं-कहीं ये ब्राह्मण काल के नैतिक दृष्टिकोणों तथा सामाजिक दशाओं पर थोड़ा बहुत प्रकाश डालने के कारण उपयोगी भी हैं। उदाहरणार्थ सोमयाग में एक सोम-हवि अग्नि पत्नीवत् (पत्नियों से युक्त) अग्नि को दी जाती है और कुछ बातों में यह हवि भिन्न है। इसकी व्याख्या स्त्री-जाति की दुर्बलता और असहायता का वर्णन करते हुए की गई है—"यज्ञीय चमस में अवशिष्ट घी के साथ वह (सोम) मिलाता है। दूसरी सोम-हवियों को, उनको मिश्रित करने के द्वारा वह तेज बनाता है, पर वह इस हवि को हलका कर देता है क्योंकि घी वस्तुतः वज्र है और इस घी रूपी वज्र से देवताओं ने अपनी पत्नियों पर प्रहार किया और उन्हें दुर्बल बनाया, और इस प्रकार प्रहार की गई और दुर्बल बनाई गई उनका न तो कोई अपने शरीरों पर अधिकार रहा और न ही किसी दाय पर, और इसी प्रकार वह अब घी रूपी वज्र से पत्नियों पर प्रहार करता है और उन्हें दुर्बल बनाता है और इस प्रकार प्रहार की गई और दुर्बल बनाई गई पत्नियों का न तो अपने किसी शरीर पर अधिकार रहता है और न किसी दाय पर।" (शत ४.४.२.१३)

तो यह स्त्रियों की दासता के पक्ष में कर्मकाण्डीय युक्ति हुई।[3] अन्य स्थानों पर पत्नी का पति से संबंध कुछ अच्छी झलक लिए है। उदाहरणार्थ—वाजपेययज्ञ में निम्न कर्मकाण्डीय अनुष्ठान होता है—

१. शत० ८.२.१, १७-१८; ११.१.१.१.

२. शत० ६.८.२.७.

३. ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे वाक्य भी मिलते हैं। "वस्तुतः यज्ञ ऋत तथा सत्य है। स्त्री अनृत है" (मैत्रायणी संहिता १.१०.११) "स्त्री निर्ऋति है" (मैत्रा० १.१०.१६) "स्त्री, शूद्र, कुक्कुर और काक अनृत हैं" (शत० १४.१.१.३१ इत्यादि)।

यज्ञीय स्तम्भ के साथ एक सीढ़ी लगा दी जाती है और यजमान अपनी पत्नी के साथ उस पर चढ़ता है :—

"चढ़ना आरम्भ करने से पहले वह अपनी पत्नी को निम्न शब्दों से सम्बोधित करता है—(हे पत्नी, आओ हम द्युलोक का आरोहण करें) और पत्नी उत्तर देती है —'हाँ आओ हम आरोहण करें। पत्नी को इस प्रकार संबोधन करने का कारण यह है कि वह पत्नी वस्तुतः उसका अर्द्धभाग है। इसलिए जब तक उसकी पत्नी नहीं है तब तक वह अपना वंश नहीं चला सकता और तब तक वह पूर्ण व्यक्ति नहीं है; परन्तु जब उसकी पत्नी है तब वह अपना वंश चलाता है और तब वह पूर्ण है। वह सोचता है 'पूर्ण व्यक्ति के रूप में मैं इस मार्ग पर (द्युलोक में) जाऊँगा। इस लिए वह पत्नी को इस प्रकार संबोधित करता है।" (शत० ५.२.१.१०)

ब्राह्मण-ग्रन्थों में वेदि नारी के प्रतिरूप से भी वर्णित है। वेदि की रचना के लिए निम्नलिखित नियम नारी-सौन्दर्य के प्राचीन आदर्श पर प्रकाश डालते हैं :—

> "यह (वेदि) पश्चिम की ओर कुछ चौड़ी होनी चाहिए। मध्य में संकुचित और फिर पूर्व की ओर चौड़ी क्योंकि इस आकार वाली नारी की प्रशंसा होती है—"नितम्ब भाग में पृथु, स्कन्धों के मध्य भाग में कुछ संकुचित, शरीर के मध्य भाग (कटि प्रदेश) में क्षाम (आकुंचित)' ऐसा करने से वह इसे (वेदि को) देवों को प्रिय बनाता है।"[1]

हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों से यौन-नैतिकता के विषय में कुछ तथ्य ज्ञात होते हैं। एक ऋतुयाग में एक बड़ी पाशविक यज्ञ-कथा का वर्णन है :—

"इसके अनन्तर प्रतिप्रस्थाता[2] लौट कर आता है (जहाँ यजमान की पत्नी बैठी हुई है)। जब वह यजमान पत्नी को (यज्ञ-वेदि पर) ले जाने लगता है[3], वह उससे पूछता है—'तू किसके साथ सम्भोग करती है?' अब जो स्त्री एक (मनुष्य) की पत्नी है, यदि वह किसी दूसरे से सम्भोग करती है, निर्विवाद रूप से वह वरुण के विरुद्ध (पाप) करती है। वह इसलिए उससे इस प्रकार पूछता है कि कहीं ऐसा न हो कि वह अपने मन में कोई गुप्त यन्त्रणा लिए हुए यज्ञ करे क्योंकि पाप जब स्वीकार कर लिया जाता है वह कम हो जाता है क्योंकि वह सत्य बन जाता है। यह कारण है कि वह स्त्री से इस प्रकार पूछता है और जो भी (संबंध) वह स्वीकार नहीं करती है वह वस्तुतः उसके अपने संबंधियों के लिए हानिकारक व घातक होगा।"[4]

यह स्मरण रखना चाहिए कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में नैतिकता के विषय में अत्यल्प स्थानों पर विचार किया गया है। यह (उपरिलिखित) उनमें से एक है। अत्यल्प

---

१. शत० १.२.५.१६.
२. एक पुरोहित जो अध्वर्यु के सहायक का कार्य करता है।
३. अर्थात् वेदि की ओर जहाँ उसने वरुण के प्रति हवि देनी है।
४. शत० २.५.२.२०.

स्थान ही ऐसे हैं जहाँ हमें नैतिक चिन्तनाएँ उपलब्ध होती हैं। उदाहरण के लिए असुरों ने देवों को असत्य का आश्रय लेकर पराजित कर दिया, परन्तु अन्त में देवताओं का ही उत्कर्ष हुआ। इस कथा को कहकर यह कहा गया है कि जब मनुष्य सत्य भाषण करते हैं, प्रारम्भ में उन पर विपत्ति आ सकती है परन्तु अन्त में वे समृद्धि व उत्कर्ष प्राप्त करेंगे, यद्यपि असत्यवादियों को अल्पकाल के लिए सफलता मिल सकती है, अन्त में उनका सर्वनाश हो जाएगा।[1] सामान्य रूप से कहें तो यह कह सकते हैं, कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह एक खास बात देखने को मिलती है कि इनमें नैतिकता की चर्चा कहीं मुश्किल से ही मिलेगी। ब्राह्मण-ग्रन्थ इस तथ्य को पूर्णतया प्रमाणित करते हैं कि कहीं भी धर्म की बहुत अधिक चर्चा हो सकती है और यह भी हो सकता है कि उसका नैतिकता से अत्यल्प संबंध हो। विस्तृत ब्राह्मण-साहित्य का एक मात्र विषय है धार्मिक कर्मकाण्ड, यज्ञ व अनुष्ठान; परन्तु नैतिकता नाम की वस्तु से इन ग्रन्थों को कोई प्रयोजन नहीं है।[2] इसके विपरीत यज्ञीय कर्मकाण्ड केवल इसी लिए नहीं किए जाते कि देवता यजमान की भौतिक इच्छाओं को पूर्ण करें, परन्तु ऐसे कर्मकाण्डों की भी बहुसंख्या है जो शत्रुओं को हानि पहुँचाने के लिए किए जाते हैं। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थों में पुरोहितों को ऐसे उपाय भी बताए गए हैं कि कैसे वे यज्ञ के द्वारा, अपने ही यजमान को हानि पहुँचा सकते हैं, यदि वह उन्हें पर्याप्त दक्षिणा व भेटें न दे। इसके लिए उन्हें केवल अनुष्ठानों को उलटे क्रम से करना होता है या जादू टोने की दिशा बदलनी होती है और यजमान का सर्वनाश हो जाता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के उलझे हुए यज्ञ-विज्ञान पर बहुत लिखा जा सकता है, क्योंकि यह ही उनका मुख्य विषय है; परन्तु सौभाग्य से अर्थवाद का एक और भाग भी है जिसे इतिहास, आख्यान या पुराण कहते हैं। ये वे गाथाएँ हैं जो विभिन्न कर्मकाण्डों के हेतु आदि को स्पष्ट करने के लिए कही गई हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों का तालमड (एक यहूदी संहिता) के साथ बहुत साम्य है। तालमड में 'हलचा'[3] की धर्मशास्त्रीय कलाबाजी के साथ-साथ 'हगदा'[4] के पुष्पित उद्यान का वर्णन भी है (इसका अत्यन्त

---

१. शत० ६.५.१.१६. ओल्डनबर्ग ने ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध नैतिक विचारों के संग्रह में बहुत परिश्रम किया है, परन्तु ऐसे विचार बहुत अधिक नहीं हैं।

२. सिल्वाँ लेवी—"इस प्रणाली में नैतिकता को कोई स्थान नहीं मिला है। मनुष्य और देवताओं के संबंध को व्यवस्थित करने वाला है यज्ञीय कर्मकाण्ड। यह प्रकृति के गर्भ में छिपी हुई आन्तरिक ऊर्जा के द्वारा की गई यांत्रिक प्रक्रिया है। यह ऊर्जा पुरोहित के जादू-टोने के कार्यों से उद्बुद्ध होती है।" "ब्राह्मण ग्रन्थों के धर्मशास्त्र से अधिक पाशविक या अधिक भौतिक वस्तु की कल्पना भी वस्तुतः कठिन है। उनमें उपस्थापित धारणाओं का जंगलीपन स्पष्ट है। धीरे-धीरे इन पर सूक्ष्मता और नैतिकता का आवरण आ गया है।

३. Halacha.

४. Hagada.

सुन्दर वर्णन हीन[1] ने अपने गीतों में किया है।) इसी प्रकार 'धर्मशास्त्रीय शुष्क विवादों से परिपूर्ण मरुस्थल में कहीं-कहीं सुन्दर शाद्वल भी है जिसमें कविता के सुन्दर पुष्प खिले हैं। कवित्वमय गाथाएँ हैं या सृष्टि-उत्पत्ति के गम्भीर विचारपूर्ण आख्यान हैं।

ऋग्वेद का पुरूरवा-उर्वशी-संवाद अत्यन्त सुन्दर गाथा के रूप में शतपथ ब्राह्मण[2] में वर्णित है, जोकि इस मरुस्थल में ऐसा ही एक शाद्वल है। इस गाथा में पुरूरवा का उर्वशी के प्रति प्रेम, पत्नी बन जाने के बाद उसकी शर्तें, और गन्धर्वों द्वारा किया गया षड्यन्त्र, सब कुछ सुन्दर कवित्वमय भाषा में वर्णित है। उर्वशी पुरूरवा को छोड़कर चली गई। पुरूरवा विलाप करता हुआ कुरुक्षेत्र-प्रदेश में इधर-उधर भटकता रहा। अन्त में उसने एक कमल-सरोवर में अप्सराओं को हंसनियों के रूप में तैरते हुए देखा। उनमें उर्वशी भी थी। फिर उन दोनों में संवाद हुआ। (ऋग्वेद के इस प्रकरण में हम इस संवाद से परिचित हो चुके हैं)।

> तब उसके हृदय में उसके प्रति अनुकम्पा उद्भूत हुई। उसने कहा—'अब से एक वर्ष बाद अन्तिम रात्रि में यहाँ आना, तब तू मेरे साथ एक रात्रि शयन करेगा और तब तक तेरा यह पुत्र[3] उत्पन्न हो चुका होगा।' वह वर्ष की अन्तिम रात्रि में वहाँ आया और उसने आश्चर्य से देखा वहाँ एक स्वर्ण-प्रासाद खड़ा था। उन्होंने तब उसे यह (शब्द) कहा—'प्रवेश कीजिए' और तब उन्होंने उसे (उर्वशी को) उसके पास जाने को कहा।

तब उसने (उर्वशी ने) कहा—'कल सवेरे गन्धर्व तुझे एक वर देंगे। तू अपने लिए चुन ले।' उसने उर्वशी से कहा—'तू मेरे लिए चुन दे।' उर्वशी ने कहा—यह कहना 'मैं तुममें से एक हो जाऊँ।' सवेरे गन्धर्वों ने उसे एक वर दिया और उसने कहा—'मैं तुममें से एक हो जाऊँ।'

पुरूरवा के यह कहने पर गन्धर्वों ने उसे एक विशेष प्रकार के अग्निहोत्र की शिक्षा दी, जिसके द्वारा मर्त्य गन्धर्व का रूप धारण कर लेता है। इस अग्निहोत्र के वर्णन में इस ब्राह्मण-ग्रन्थ में एक प्राचीन अद्भुत कथा दी गई है और यज्ञीय कर्म-काण्ड के शुष्क वर्णन ने भी इस कथा की कविता के जादू को ग्रस्त नहीं किया है।

शतपथ ब्राह्मण में भारतीय जल-प्लावन की कथा भी मिलती है। सम्भवतः यह कथा सेमेटिक स्रोत से आई है :—

"प्रभात में वे मनु के पास मुँह-हाथ धोने के लिए जल लाए, जैसे आज भी हाथ धोने के लिए जल लाने की प्रथा है। जब वह मुँह-हाथ धो रहा था एक मत्स्य उसके हाथों में आ गया। [१]

---

१. Heine.

२. ११.५.१.

३. शब्दानुवाद "यह तेरा पुत्र यहाँ" इस प्रकार की अभिव्यक्ति केवल मौखिक रूप से कहने में ही समझ में आ सकती है। इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'यह यहाँ' का प्रायः अर्थ होता है—'पृथ्वी', 'वह वहाँ' का प्रायः अर्थ होता है—'द्युलोक' इत्यादि।

मत्स्य ने उसे कहा—'मेरा पालन-पोषण कर, मैं तेरी रक्षा करूँगा'। 'तू मेरी किससे रक्षा करेगा ?' 'एक जलप्लावन आएगा और इन सब प्राणियों को बहा कर ले जाएगा, उससे मैं तेरी रक्षा करूँगा।' 'मुझे तेरा पालन पोषण किस प्रकार करना है।' [२]

मत्स्य ने कहा—'जब तक हम लघु होते हैं, हमारा महान् नाश ही नाश है। मत्स्य मत्स्य को निगल जाता है। तू पहले मुझे एक घड़े में रखना, जब मैं उससे बढ़ जाऊँ तो एक गर्त्त खोदकर मुझे उसमें रखना, जब मैं उससे बढ़ जाऊँ तू मुझे समुद्र में ले जाना, क्योंकि तब कोई मेरा नाश नहीं कर सकेगा।' [३]

वह मत्स्य झष (बड़ा मत्स्य) बन गया क्योंकि वह (सब मत्स्यों में) सबसे अधिक बढ़ता है। इसके अनन्तर मत्स्य ने कहा—'अमुक वर्ष में जल प्लावन आएगा। तू मेरे कथन का अनुसरण करके एक जलयान का निर्माण कर, और जब जलप्लावन आ जाए, तू उस जलयान में बैठ जाना, मैं तुझे उस जलप्लावन से बचा लूँगा। [४]

मनु ने बताए हुए तरीके से मत्स्य का पालन-पोषण किया और उसे समुद्र में ले गया। मत्स्य द्वारा बताए गए वर्ष में उसने उसके कथनानुसार जलयान का निर्माण कर लिया, और जब जलप्लावन आ गया तो वह जलयान में बैठ गया। मत्स्य तैर कर उसके पास पहुँच गया और उसने अपने शृङ्ग में जलयान की रस्सी को बाँध दिया और इस तरीके से वह शीघ्र ही उधर के उत्तर पर्वत पर पहुँच गया। [५]

तब मत्स्य ने कहा—'मैंने तेरी रक्षा कर दी है, जलयान को एक वृक्ष के साथ बाँध दे। सावधान होकर पर्वत पर रहना कि तुझे जल बहाकर न ले जाए। जब जल नीचे उतर जाए, तू भी धीरे-धीरे नीचे उतरते जाना।' तदनुसार वह धीरे-धीरे नीचे उतरा, इसीलिए उत्तर पर्वत का वह (पठार) 'मनोरवसर्पण' कहलाता है। जलप्लावन ने सब प्राणियों को बहा दिया और अकेला मनु बचा रहा।[1]

प्राचीन गाथा यहाँ तक दी गई है। इसमें यह भी आगे अपेक्षित था कि यह वर्णन हो कि मनु के द्वारा मानव जाति का पुनरुद्भव कैसे हुआ। परन्तु ब्राह्मण में कथा अन्य प्रकार से चलती है—मनु ने संतति की प्राप्ति के लिए यज्ञ किया; उसमें से एक स्त्री निकली और उसके द्वारा मानव-जाति का आरम्भ हुआ। मनु की इस कन्या का नाम इडा है। इडा का आख्यान सिर्फ इसलिए बीच में डाला गया है कि इडा नाम से अभिहित एक यज्ञीय हवि के महत्व की व्याख्या की जाए।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के इन आख्यानों का इस दृष्टि से भी महत्त्व है कि ये प्राचीन-तम आख्यान गद्य का उदाहरण हैं। इसकी चर्चा की जा चुकी है कि इन प्राचीनतम पुराण-इतिहास कथाओं में गद्य, पद्य से बहु-मिश्रित रहता है, परन्तु जबकि पुरूरवा

१. शत० १.८.१.

उर्वशी की कथा में पद्य मन्त्र केवल ऋग्वेद संहिता में ही नहीं मिलते, परन्तु भाषा और छन्द की दृष्टि से वे प्राचीनतम वैदिक रचना के उदाहरण भी हैं; ऐतरेय ब्राह्मण में हमें एक आख्यान मिलता है जिसमें गद्य में बिखरी हुई गाथाएं (पद्य) भाषा तथा छन्द की दृष्टि से महाभारत रामायण आदि के समीप हैं। यह शुनःशेप का आख्यान[1] है। यह अनेक दृष्टियों से पठनीय है। यह इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

इक्ष्वाकु वंश के एक राजा वेधस् का पुत्र हरिश्चन्द्र निस्सन्तान था। उसकी सौ पत्नियाँ थीं पर किसी से भी उसे एक भी पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ। एक दिन पर्वत और नारद[2] उसे मिलने आए और उसने नारद से पूछा :—

बुद्धिमान जन और मूर्ख भी
पुत्र चाहते हैं सब के सब;
नारद, मुझे बता, पुत्र से
लाभ यहाँ क्या पाता मानव ?

इस प्रकार एक पद्य में किए गए प्रश्न का उत्तर नारद ने दस पद्यों में दिया—

अपने पैदा हुए पुत्र का पिता देखता जबकि वदन;
होता वह ऋण से मुक्त, प्राप्त करता है दिव्य अमरता-धन।[3]
भूमि, अग्नि, जल में कोई भी मानव को जो सुख, प्रसन्नता
सबसे बड़ी—पिता पुत्र के द्वारा प्राप्त यहाँ जो करता
सदा पिताओं ने पुत्रों के द्वारा की तम-विजय प्रसादक
पिता नवीन जन्म लेता है; पुत्र पिता हित नौका तारक

× × ×

भस्म-विलेप अजाजिन, जटाश्मश्रुवर्धन तप—काम न आएँ[4]
पुत्र, ब्राह्मणो, चाहो घर में, वह अनिन्द्य स्वर्लोक सुहाए

× × ×

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण—७.६-१३-१८. ब्राह्मण में ही इस कथा को आख्यान नाम से अभिहित किया है।

२. दो ऋषि या सन्त, जो कभी स्वर्ग में रहते हैं कभी पृथ्वी पर, प्राय: देवताओं के दूत का कार्य करते हैं।

३. इस पद्य की सर्वोत्तम व्याख्या तैत्तिरीय संहिता ६.३.१०.५ में की गई है—"जन्म से ही ब्राह्मण पर तीन ऋणों का भार होता है। ऋषि-ऋण, देव-ऋण, और पितृ-ऋण। इन ऋणों का निर्यातन क्रमश: वेदाध्ययन यज्ञ तथा पुत्रोत्पत्ति से होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.५.६ में भी इसकी ऐसी ही व्याख्या है—हे मर्त्य सन्तति के द्वारा तू अपनी जाति का विस्तार करता है, यही तेरी अमरता है।" ऋग्वेद ५.४.१० में कहा गया है—"हे अग्नि, मैं अपने वंशजों के द्वारा अमरता प्राप्त करूँ, यह कृपा कर।"

४. इस पद्य में वानप्रस्थियों और संन्यासियों पर आक्षेप किया गया है।

जीवन अन्न, वस्त्र है रक्षा, सुन्दरता है स्वर्णाभूषण
है विवाह पशु-प्राप्ति[1], मित्र है पत्नी[2], कन्या दुख का कारण[3]
पुत्र पिता के लिए उच्चतम-स्वर्ग प्रकाश (कहें ऋषि सज्जन)

× × ×

पति जाया में करके प्रवेश बन गर्भ वहाँ पर जाता है
दशम मास में वह नव मनुष्य बन कर फिर बाहर आता है।"

× × ×

...[4]इन पद्यों को कहकर उसने उसे कहा—'राजा वरुण के पास जाओ और कहो मुझ पर कृपा करें कि मेरे यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हो, मैं आपके लिए उसकी बलि दे दूँगा।' उसने कहा—'मैं ऐसा ही करूँगा' और राजा वरुण के पास जाकर प्रार्थना की कि 'मुझ पर कृपा करें कि मेरे यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हो, मैं आपके लिए उसकी बलि दे दूँगा।' 'ऐसा ही हो'—(वरुण ने कहा)। तब हरिश्चन्द्र के घर एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम रोहित रखा गया, और वरुण ने उसे कहा—"अब तेरे घर पुत्र उत्पन्न हो गया है, उसे मेरे लिए बलि दे दे।" परन्तु उसने कहा, 'जब तक कोई प्राणी दस दिन से अधिक का नहीं हो जाता, बलि देने के लिए उपयुक्त नहीं होता, उसे दस दिन से अधिक का हो जाने दीजिए, तब मैं उसे आपके लिए बलि दे दूँगा।" 'ऐसा ही हो' (वरुण ने कहा) और वह दस दिन से अधिक का हो गया। तब वरुण ने उसे कहा—'अब वह दस दिन से अधिक का हो गया है, उसे मेरे लिए बलि दे दे।' परन्तु हरिश्चन्द्र ने कहा—"जब तक किसी प्राणी के दाँत नहीं आ जाते, तब तक वह बलि के लिए उपयुक्त नहीं होता, उसके दाँत आ जाने दीजिए, तब मैं उसे आपके लिए बलि दे दूँगा।"। 'ऐसा ही हो।'

इसी प्रकार हरिश्चन्द्र देव वरुण को टालता गया और रोहित प्रौढ़ अवस्था में पहुँच गया, तब अन्त में हरिश्चन्द्र ने रोहित की बलि देने का निश्चय किया किन्तु रोहित भागकर जंगल में चला गया और वह वहाँ एक वर्ष इधर-उधर घूमता रहा। इस पर हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हो जाता है। यह रोग वरुण ने दण्ड के रूप में भेजा है। रोहित को इस विषय में सूचना मिलती है और वह लौटना चाहता है परन्तु उसे इन्द्र एक ब्राह्मण के रूप में मिलता है और यह समझाता है कि घूमते रहने में बड़े गुण हैं और परामर्श देता है कि वह अपना घूमना जारी

१. क्योंकि प्राचीन भारतीयों में पुत्रियों के लिए क्रय मूल्य गौओं के रूप में दिया जाता था। प्राचीन यूनानियों में भी यही प्रथा थी। देखिए—होमर—"गौएं लाने वाली कुमारिकाएं।"

२. प्राचीन भारत में विवाह के समय वधू और वर सप्तपद एक साथ चलते थे। सप्तम पद रखने के समय वह कहता था "इस सप्तम पद पर तू सखा बन"।

३. लड़कियों को पैदा होते ही मार डालना तथा छोटे बच्चों की शादी कर देना—इस दृष्टिकोण का परिणाम है कि लड़की का जन्म एक महान् विपत्ति है। लड़की दुःख का कारण है यह विश्वास सारे संसार में ही प्रचलित है।

४. यहाँ चार पद्य और हैं, जिनमें पहली बात दूसरे शब्दों में कही गई है।

रखे। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्ष आ गया। नवयुवक रोहित जंगल में इधर-उधर घूमता रहता है। पुनः-पुनः वह लौटना चाहता है और पुनः पुनः इन्द्र उसे मिलता है और समझाता है कि वह अपना घूमना जारी रखे। जब वह छठे साल इधर-उधर घूम रहा था, उसका ऋषि अजीगर्त से मिलना हुआ जो भूख से व्याकुल होकर जंगल में इधर-उधर घूम रहा था। अजीगर्त के तीन पुत्र थे—शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनोलांगूल।[1] रोहित ने अजीगर्त से कहा, 'तू अपना एक पुत्र मुझे दे दे, जो मेरे बदले वरुण के लिए बलि दिया जा सके और इसके बदले मैं तुझे १०० गौएं दूँगा। पिता बड़े पुत्र से वियुक्त नहीं होना चाहता था और माता छोटे पुत्र से। इसलिए मध्यम पुत्र शुनःशेप का विक्रय कर दिया गया। शुनःशेप के साथ रोहित अपने पिता के पास गया और वरुण ने यह स्वीकार कर लिया कि उसके लिए शुनःशेप की बलि दे दी जाए क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रिय से अधिक मूल्यवान् है और कहा कि इसकी बलि राजसूय यज्ञ में उस स्थान पर दी जाए जहाँ यज्ञीय पशुओं की बलि दी जाती है। बलि के लिए सब तैयारियाँ हो गईं, परन्तु ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला जो इस यज्ञीय बलि प्राणी को वहाँ बाँधे। इस पर अजीगर्त ने कहा 'मुझे सौ गौएं और दे दो, मैं उसे बाँध दूँगा' तथा उसने सौ गौएं और लेकर अपने पुत्र शुनःशेप को बलि-स्तम्भ के साथ बांध दिया और कहा 'यदि सौ गौएं और दे दो तो इसका गला भी मैं काट देता हूँ।' उसे सौ गौएं ओर दे दी गईं और वह तेज चाकू लेकर अपने पुत्र की ओर चला। तब शुनःशेप ने सोचा यह तो मुझे ऐसे जिबह करना चाहते हैं जैसे मैं इन्सान ही न होऊँ। अस्तु मैं देवताओं की शरण में जाऊँगा और उसने एक के बाद दूसरे प्रमुख वैदिक देवताओं की स्तुति करनी प्रारम्भ की। स्तुति के ये सूक्त ऋग्वेद संहिता में उपलब्ध हैं। अन्त में शुनःशेप ने देवी उषा की तीन मन्त्रों में स्तुति की और एक एक मन्त्र के बाद उसका एक-एक बन्धन टूट कर गिरता गया और हरिश्चन्द्र का जलोदर से फूला हुआ पेट सिकुड़ता गया और अन्तिम मन्त्र के उच्चारण के साथ ही शुनःशेप सब बन्धनों से मुक्त हो गया और हरिश्चन्द्र नीरोग हो गया। इसके अनन्तर पुरोहित शुनःशेप को यज्ञ सभा में ले गए और शुनःशेप को अन्तःप्रेरणा हुई और उसने एक सोमयाग का साक्षात्कार किया। हरिश्चन्द्र के यज्ञ में विश्वामित्र 'होता' था। विश्वामित्र के विषय में अनेक कथाएं प्रचलित हैं। विश्वामित्र ने शुनःशेप को दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया और अपने सौ पुत्रों के होते भी उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। अन्त में यह कहा गया है—

"यह शुनःशेप का आख्यान है। इसमें एक सौ से अधिक ऋग्वेद के मन्त्र हैं तथा गाथाएं भी हैं। 'होता', राजसूय यज्ञ में जब राजा का पवित्र जल से अभिषेक

१. ये विचित्र नाम हैं। ये नाम सम्भवतः इसलिए रखे गए हैं कि अजीगर्त की दुरवस्था का ठीक-ठीक वर्णन किया जा सके। अजीगर्त का अर्थ है 'जिसके पास कुछ खाने को नहीं है।'

कर दिया जाता है, उसे यह आख्यान सुनाता है। सुनाते समय 'होता' एक स्वर्णासन पर बैठता है। स्वर्णासन पर बैठा हुआ 'अध्वर्यु' स्वीकृति वचन कहता जाता है। स्वर्ण वस्तुतः श्री का प्रतीक है। इससे वह उसकी श्री बढ़ाता है। ऋग्वेद के मन्त्र के प्रति स्वीकृति वचन 'ओम्' है और गाथा के प्रति 'आम्'[1]। 'ओम्' दिव्य है और 'आम्' मानवीय। इस प्रकार वह दिव्य और मानवीय शब्द के द्वारा दुर्भाग्य और पाप से मुक्त करता है। इसलिए जो राजा विजयी बनना चाहता है, भले ही वह यजमान भी न हो, उसे चाहिए शुनःशेप का आख्यान सुने। तब उसे पाप का अत्यल्प स्पर्श भी नहीं रहता। गाथा सुनाने वाले को १००० गौएं और स्वीकृति वचन कहने वाले पुरोहित को १०० गौएं दक्षिणा रूप में दी जानी चाहिएँ। जिन स्वर्णासनों पर वे बैठते हैं, वे भी उन्हें दे दिए जाने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त अश्वतरों से युक्त एक रजत रथ भी 'होता' को दिए जाना चाहिए। जिन्हें पुत्र की कामना है, उन्हें भी शुनःशेप आख्यान का श्रवण करना चाहिए। निश्चित रूप से उन्हें पुत्र की प्राप्ति होगी।"

ऐतरेय ब्राह्मण के सम्पादकों या संग्रहकर्त्ताओं के लिए शुनःशेप आख्यान अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा आख्यान था और इसका वाचन राजसूय[2] के कर्मकाण्ड का भाग था। यह आख्यान अत्यन्त प्राचीन होगा। इससे यह अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होता है कि इसमें पुरुष बलि की चर्चा है। यह पुरुष बलि प्रागैतिहासिक काल में राजसूय यज्ञ में दी जाती होगी। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में राजसूय यज्ञ में कहीं भी पुरुष बलि की चर्चा नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण में जिन ऋग्वेद के सूक्तों का[3] ऋषि शुनःशेप को कहा गया है, वे स्तर की दृष्टि से ठीक ऐसे हैं जैसे अन्य ऋषियों द्वारा लिखे गए सूक्त। उन सूक्तों में ऐसी कोई भी सामग्री नहीं है जिसका इस ब्राह्मण के आख्यान से कोई भी संबंध हो। उन सूक्तों में जो भाव अभिव्यक्त हुए हैं, वे इस आख्यान के शुनःशेप की वाणी पर सजते भी नहीं हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद १.२९ की टेक है—"हे उदारता से दान देने वाले इन्द्र, हम हजार दीप्तिमान गौओं और अश्वों की आशा करते हैं" तथा ऋग्वेद १.२४ के मन्त्र भी ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप के द्वारा बनाए हुए नहीं हो सकते। १.२४.१२ में कहा गया है कि बन्धनों में बंधे शुनःशेप ने जिस राजा वरुण का आह्वान किया, वह हमें मुक्त करे,

---

१. 'होता' जब ऋग्वेद के मन्त्र का उच्चारण करता है उसके अनन्तर अध्वर्यु उच्च स्वर में कहता है 'ओम्' और गाथा के उच्चारण के बाद कहता है—'आम्'।

२. शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१५.१७) में भी राजसूय यज्ञ में शुनःशेप आख्यान की चर्चा है। इस श्रौत सूत्र में अन्यत्र (१६.११.१-३) यह भी चर्चा है कि इस आख्यान का वाचन पुरुषमेध यज्ञ में किया जाना चाहिए। इस आख्यान की चर्चा कात्यायन, आपस्तम्ब तथा बौधायन श्रौत सूत्रों में भी है।

३. अर्थात् ऋग्वेद १.२४-३० तथा ९.३। कीथ—'शुनःशेप' आख्यान की गाथाएं ऋग्वेद के मन्त्रों से बहुत परवर्ती हैं। परन्तु उनके छन्द से यह सिद्ध होता है कि वे उपनिषदों के पद्य भाग से पूर्ववर्ती हैं।

तथा १.१३.२४ में कहा है कि शुनःशेप जब बांधा गया और तीन द्रुपदों में बद्ध किया गया तब उसने आदित्य का आह्वान किया। इन मन्त्रों से यह संकेत मिलता है कि इनका संबंध इनसे अत्यन्त प्राचीन शुनःशेप आख्यान से है। ऐतरेय ब्राह्मण ने जो इन सूक्तों को शुनःशेप-रचित कहा है, इसका कारण यह है कि अनुक्रमणियों में इन्हें ऋषि शुनःशेप रचित कहा गया है। यहाँ हमें यह एक प्रमाण और मिलता है जिससे यह सिद्ध होता है कि काल की दृष्टि से ऋग्वेद के सूक्त अन्य सम्बद्ध वैदिक साहित्य से अत्यन्त प्राचीन हैं।

जैसे शुनःशेप का प्राचीन आख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में पूर्णतया वर्णित है, वैसे अन्य प्राचीन आख्यान कम ही हैं। अधिकांशतः किसी कर्मकाण्डीय आख्यान की व्याख्या के लिए या न्यायसंगतता को सिद्ध करने के लिए कथाएँ घढ़ ली गई हैं और कभी-कभी यह सरल नहीं होता कि उन कथाओं में हम किसी प्राचीन आख्यान या प्राचीन कथा का मूल खोज सकें। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ब्राह्मणों में मिलने वाले सभी आख्यानों का स्रोत प्राचीन कथाओं या गाथाओं में है भी नहीं। अधिकांश आख्यान यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिए पुरोहितों द्वारा स्वयं बनाए गए हैं। परन्तु कभी-कभी इन घढ़ी हुई कथाओं में भी बहुत महत्त्व की बातें मिलती हैं। उदाहरण के लिए, प्रजापति को दी जाने वाली यज्ञीय हवियों के समय प्रार्थनाएं अत्यन्त मन्द स्वर में उच्चारित की जाती हैं। इसकी व्याख्या करने के लिए अत्यन्त सुन्दर रूपक बाँधा गया है :—

"एक बार मन और वाक् में यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि दोनों में उत्कृष्ट-तर कौन है। मन और वाणी दोनों ने कहा—'मैं श्रेष्ठ हूँ'। [८]

मन ने कहा—'निश्चय ही मैं तुझसे उत्कृष्ट हूँ क्योंकि तू कोई ऐसी बात नहीं बोलती जो पहले मेरे द्वारा मनन नहीं कर ली गई और क्योंकि तू मेरे किए हुए का अनुकरण करती है और इस प्रकार मेरी अनुयायी है। इसलिए मैं निश्चित रूप से तुझसे उत्कृष्ट हूँ'। [९]

वाक् ने कहा—'निश्चित रूप से मैं तुझसे उत्कृष्ट हूँ क्योंकि जो कुछ तू जानता है मैं उसे श्रोता तक पहुँचाती हूँ, तेरे ज्ञान को मैं संक्रमित करती हूँ। [१०]

वे दोनों निर्णय के लिए प्रजापति के पास गए। प्रजापति ने मन के पक्ष में निर्णय दिया और वाक् को कहा—'वस्तुतः मन तुझसे उत्कृष्ट है। तू मन के कार्यों का अनुकरण करने वाली है और उसकी अनुयायी है और जो अपने से उत्कृष्ट के कार्यों का अनुकरण करता है और उसका अनुयायी बनता है, वह निश्चय ही निम्नतर है।' [११]

इस प्रकार वाक् की बात कट गई। वह हताश हो गई, और उसने विफलता का अनुभव किया। वाक् ने प्रजापति को कहा—कि 'तूने मेरी बात काटी है, मैं तेरे

लिए कभी हवि का वहन नहीं करूंगी। इसलिए प्रजापति के लिए जब कोई भी यज्ञ किया जाता है वह मन्द स्वर में किया जाता है, क्योंकि वाक् प्रजापति के लिए हवि-र्वाहिका का कार्य नहीं करती।" [१२]

वाक् कई आख्यानों का विषय है और उनमें वह रूपक में नारियों के प्रति-निधि के रूप में वर्णित की गई है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में पुनः-पुनः वर्णित 'सोम की चोरी' के आख्यान में वाक् इसी रूप में वर्णित है। सोम का निवास स्वर्ग में है। गायत्री पक्षी का रूप धारण करके उसे नीचे लाई, परन्तु रास्ते में ही गन्धर्वों ने उसे चुरा लिया। अब देवों ने परस्पर सलाह की कि सोम को कैसे वापस लाया जाए—

"उन्होंने कहा कि गन्धर्व लोग स्त्रियों के बहुत शौकीन हैं। हम उनके पास वाक् को भेज दें, और वह सोम को लेकर वापस आ जाएगी।" उन्होंने वाक् को उनके पास भेज दिया और वह सोम को लेकर उनके पास वापस आ गई। [३]

गन्धर्व उसके पीछे-पीछे आए और कहा—'सोम, तुम्हारा (होगा) और वाक् हमारी'। देवों ने कहा—'हम सहमत हैं, परन्तु यदि वाक् हमारे पास आए तो तुम उसे जबर्दस्ती मत ले जाना। हम दोनों उसके प्रेम को जीतने का प्रयत्न करें।' दोनों ने उसे प्रेम से जीतने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। [४]

गन्धर्वों ने वाक् के सम्मुख वेदों का पाठ किया तथा कहा कि 'देखो, हमें कितना ज्ञान है; देखो, हमें कितना ज्ञान है।' [५]

तब देवताओं ने वीणा बनाई और बजाना और गाना प्रारम्भ किया और वाक् को कहा—'इस प्रकार हम तुझे गा कर सुनायेंगे, इस प्रकार हम तेरा मनो-रञ्जन करेंगे।' वाक् गन्धर्वों को छोड़ कर देवों के पास चली गई, परन्तु उसका यह कार्य अनुचित था, क्योंकि वह उन्हें छोड़ कर, जो स्तुति और प्रार्थना कर रहे थे, उनके पास चली गई जो नाच-गा रहे थे। आज के दिन भी स्त्रियों का यह स्वभाव है कि व्यर्थ और अनुचित बातों में उनका मन रमता है। यही कारण था कि वाक् देवों के पास गई और दूसरी स्त्रियाँ भी वही करती हैं जो वाक् ने किया। और इसलिए, जो नाचता एव गाता है, स्त्रियाँ तत्काल उस पर मुग्ध हो जाती हैं।"[१]

जिस प्रकार यह आख्यान स्त्रियों की एक प्रवृत्ति की व्याख्या के लिए गढ़ा गया है, इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेकों आख्यान हैं जो किसी वाद या संस्था के उद्भव (प्रभव) के विषय में विचार करते हैं। उद्भव के इन आख्यानों में सृष्टि-उत्पत्ति के आख्यान भी सम्मिलित हैं। भारतीय जन ऐसे आख्यानों को 'पुराण' नाम से अभिहित करते हैं;[२] उन्हें इतिहासों (या आख्यानों) से पृथक् रूप में वर्णित करने

१. शत० ३. २. ४. २-६।

२. पुराण का अर्थ है: पुराना आख्यान, पुरानी कथा, विशेष रूप से सृष्टि-उत्पत्ति संबंधी तथा सृष्टि विज्ञान-संबंधी कथाएँ। परवर्ती काल में इसी प्रकार के साहित्य का विकास हुआ, जिसे 'पुराण' नाम दिया गया।

के लिए। इतिहासों में देवों और मनुष्यों की कथाएँ हैं। इन पुराण-कथाओं में ऐसी कथाएँ भी हैं, जो ब्राह्मण धर्मशास्त्रियों द्वारा गढ़ी गई थीं; और ऐसी भी हैं जो प्राचीन काल से परम्परा में चली आ रही हैं, या कम से कम जिनका यज्ञ-विज्ञान से कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में चार वर्णों के उद्भव का अनेकत्र वर्णन है। इनसे पूर्व ऋग्वेद के एक दार्शनिक सूक्त (पुरुष-सूक्त)[1] में कहा गया है कि देवों ने पुरुष की बलि दी और उसके मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से राजन्य, ऊरु-प्रदेशों से वैश्य और पाँवों से शूद्र उद्भूत हुए। ब्राह्मण-ग्रन्थों के वर्णनों के अनुसार, प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, देव और अग्नि; उसके वक्षस् और बाहुओं से राजन्य और इन्द्र; उसके शरीर के मध्य भाग से वैश्य तथा विश्वदेव (विश्वदेवाः) और उसके पाँवों से शूद्र उद्भूत हुए। शूद्र के साथ कोई देव उद्भूत नहीं हुआ, इसलिए शूद्र यज्ञ का अधिकारी नहीं है। इस प्रकार के उद्भव के कारण ही ब्राह्मण अपना कार्य मुख से करता है और क्षत्रिय बाहुओं से। वैश्य कभी नष्ट नहीं होता। ब्राह्मण और क्षत्रिय भले ही उसका कितना शोषण क्यों न करें, क्योंकि वह प्रजापति के शरीर के मध्य भाग से उद्भूत हुआ है, जहाँ सर्जक शक्ति का निवास है। धार्मिक अनुष्ठानों में शूद्र केवल ऊँचे वर्णों के लोगों के चरण-प्रक्षालन का काम कर सकता है क्योंकि वह चरणों से उद्भूत हुआ है।[2] रात्रि के तथा पक्षधर पर्वतों के उद्भव के विषय में मैत्रायणी संहिता की कहानियाँ विचारोद्बोधक तथा मनोरञ्जक हैं—

"यम की मृत्यु हो गई थी, देवों ने यमी[3] को समझाने का प्रयत्न किया कि वह उसे भूल जाए। जब भी वे उसे समझाते थे तो वह कहती—'आज ही तो उसकी मृत्यु हुई है।' तब देवों ने विचार किया—'इस प्रकार तो यह उसे कभी नहीं भूलेगी; हम रात्रि को सृष्ट करेंगे।' उन दिनों केवल सदा दिन ही रहता था, रात नहीं होती थी। देवों ने रात्रि को सृष्ट कर दिया, तब एक 'कल' (श्वः) का जन्म हुआ जिससे कि यमी यम को भूल गई। इसलिए लोग कहते हैं कि 'दिन-रात का चक्र इसलिए है कि हम दुःखों को भूल जाएँ'।" (मैत्रा० १. ५. ११)

"प्रजापति के सबसे पहले अपत्य पर्वत थे, और ये पक्षधर थे। ये उड़ते-फिरते थे और जहाँ चाहते थे बैठ जाते थे; तथा उस समय यह पृथ्वी भी स्थिर नहीं थी और आगे-पीछे झूलती रहती थी। तब इन्द्र ने पर्वतों के पंख काट दिए और उसके साथ पृथ्वी को भी स्थिर कर दिया, परन्तु पर्वतों के वे पंख झंझामेघ बन गए, इसलिए वे सदा पर्वतों की दिशा में परिभ्रमण करते हैं।" (मैत्रायणी, १. १०. १३)[4]

---

१. १०. ९०. १२।

२. तैत्तिरीय संहिता ७.१.१, ४-६; ताण्ड्य ब्राह्मण ६. १. ६-११।

३. यम की जुड़वां बहन।

४. सपक्ष पर्वतों की गाथा से ऋग्वेद के गायक परिचित थे। परवर्ती कवियों के लिए भी यह प्रिय वर्णनीय विषय रहा।

ब्राह्मणों में सृष्टि-उत्पत्ति की कथाएँ संख्या में बहुत अधिक हैं। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार आध्यात्मिक विचारों का निरर्थक यज्ञीय व्याख्याओं के साथ सम्मिश्रण हुआ है। दैनिक अग्नि-यज्ञ (अग्निहोत्र) में प्रत्येक प्रभात में तथा सन्ध्या-काल में अग्नि में दुग्ध की हवि दी जाती है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यज्ञों में अन्यतम है। इस यज्ञ के उद्भव और महत्त्व के विषय में एक ब्राह्मण[1] में निम्न कथन है—

"प्रारम्भ में अकेला प्रजापति था। उसने अपने मन में विचार किया—'मुझे सन्तति कैसे प्राप्त हो?' उसने अपने शरीर को कष्ट दिया और घोर तपस्या की।[2] अब उसने अपने मुख से अग्नि को उत्पन्न किया, और क्योंकि उसने अपने मुख से अग्नि को उत्पन्न किया, इसलिए अग्नि भोजन को खाने वाला है; और वस्तुतः जो यह जानता है कि अग्नि भोजन को खाने वाला है, वह अपने-आप भोजन को खाने वाला बन जाता है। प्रजापति ने देवों में अग्नि को सबसे पहले (अग्रे) उत्पन्न किया, इसलिए वह अग्नि कहलाया। अग्नि शब्द वस्तुतः 'अग्रि' है। अब प्रजापति ने मन में विचार किया—'मैंने इस अग्नि को भोजन खाने वाले के रूप में उत्पन्न किया है परन्तु संसार में मेरे अतिरिक्त कोई और भोजन नहीं है; कहीं ऐसा न हो कि अग्नि मुझे ही खा जाए।' क्योंकि उस समय यह पृथ्वी बिल्कुल शून्य थी, न तो कोई पौधा था, न कोई वृक्ष। अतः प्रजापति को यह चिन्ता सताने लगी। तभी अग्नि (मुंह को) खोले हुए प्रजापति की ओर झपटा। और क्योंकि प्रजापति भयभीत हो गया, इसलिए उसकी अपनी महिमा उसे छोड़कर चली गई। वाणी ही प्रजापति की अपनी महिमा थी और उसकी यह महिमा उसे छोड़कर चली गई।' (इसके बाद यह वर्णन है कि प्रजापति अपने लिए यज्ञ करना चाहता है और अपने हाथ रगड़कर घी या दूध की हवि प्राप्त करता है, जिसके परिणामस्वरूप वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। घी की या दूध की दूसरी हवि के परिणामस्वरूप सूर्य तथा वायु उत्पन्न हुए।) "तथा यज्ञ-कर्म से प्रजापति ने एक ओर तो अपनी नस्ल को बढ़ाया, और दूसरी ओर अपनी अग्नि से (मृत्यु से) रक्षा की, जब

---

१. शत० २. २. ४।

२. ब्राह्मण-ग्रन्थों में अधिकांश सृष्टि-उत्पत्ति संबंधी कथाएँ इसी प्रकार प्रारम्भ होती हैं, जिस प्रकार जादूगर को अपने जादू के लिए और पुरोहित को अपने यज्ञ के लिए तैयारी आवश्यक है, इसी प्रकार अपने कष्ट-सहन और तपस्या के द्वारा प्रजापति को सृष्टि के महान् कार्य के लिए तैयारी करनी होती है। 'श्रम्' (परिश्रम करना) धातु से श्रमण (तपस्वी) शब्द बना है। बौद्ध साहित्य में यह शब्द बहुत प्रयुक्त है। 'तपस्' शब्द का वास्तविक अर्थ है—'ऊष्मा'। तप की ऊष्मा : तपस्या। ओल्डनबर्ग—"वस्तुतः तपस् शब्द से आज अनेक प्रकार के निग्रहों या स्वयं को कष्ट देने का अर्थ ग्रहण किया जाता है, परन्तु विशेष रूप से शुरू-शुरू में इसका मुख्य विचार ऊष्मा का ही है जिसे निग्रह के साधन के रूप में माना जाता है।" शतपथब्राह्मण १०.४.४.१. के अनुसार प्रजापति ने एक बार एक हजार वर्ष तक तपस्या की। इस तपस्या के ताप से उसके रोम-कूपों से ज्योति की किरणें निकलीं और वे ही तारे बन गईं।

कि वह उसे खा जाने को ही था; और जो इस तत्त्व को जानता हुआ अग्निहोत्र को करता है, एक ओर तो वह अपने वंशजों के द्वारा अपनी नस्ल को बढ़ाता है, जैसा कि प्रजापति ने किया; और दूसरी ओर अपने को अग्नि से (मृत्यु से) बचाता है जबकि वह उसे खाने को होती है, और जब वह मरता है तो उसे अग्नि पर रखा जाता है। वह अग्नि से फिर उत्पन्न हो जाता है। अग्नि केवल शरीर को दग्ध करती है;[१] और जैसे मानो वह अपने पिता और अपनी माता से उत्पन्न हुआ हो, ठीक वैसे ही वह अग्नि से उत्पन्न होता है। इसलिए मनुष्य को अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए, इसमें उसी का लाभ है।" (इसके बाद प्रकरणवश यह वर्णन है कि किस प्रकार प्रजापति से उत्पन्न हुए देव, अग्नि, वायु तथा सूर्य यज्ञ करते हैं, और किस प्रकार गौ उत्पन्न हुई)—"अग्नि ने इस गौ की कामना की। उसके मन में आया—'मैं इससे सम्भोग करना पसंद करूँगा'; अग्नि ने उसके साथ सम्भोग किया और उसमें अपने वीर्य का आधान किया, और यह वीर्य दुग्ध बन गया। इसीलिए दुग्ध को पकाया जाता है, जबकि गौ अपक्व है। क्योंकि दुग्ध अग्नि का वीर्य है इसलिए चाहे वह कृष्णवर्ण गौ से निकले, चाहे अरुण वर्ण गौ से, वह अग्नि के समान सदा श्वेत और शुभ्र होता है क्योंकि यह अग्नि का वीर्य है; और इसीलिए दोहने पर यह उष्ण होता है क्योंकि यह अग्नि का वीर्य है।"

प्रायः ये सृष्टि-उत्पत्ति संबंधी कथाएँ इस वर्णन से प्रारम्भ होती हैं कि प्रजापति अपने को कष्ट देता है और तपस्या करता है। इसलिए प्रायः यह वर्णन भी मिलता है कि सृष्टि-कार्य पूरा हो जाने के बाद प्रजापति दुर्बल, क्षीण एवं परिश्रान्त हो गया। फिर किसी यज्ञ का वर्णन होता है जिससे शक्ति का पुनराधान होता है। एक बार देव यह यज्ञ करते हैं और दूसरे अवसर पर अकेला अग्नि प्रजापति पर यह अनुग्रह दिखाता है और एक दूसरे अवसर पर 'सूक्तों का गायन तथा घोर तपस्या करने के अनन्तर' प्रजापति यज्ञीय पशुओं को सृष्ट करता है और उनकी बलि देता है।[२] और इस प्रकार वह पुनः शक्ति प्राप्त करता है। यह वस्तुतः उल्लेखनीय है कि विश्व का स्रष्टा, यह प्रजापति, जो ब्राह्मण-ग्रन्थों में वस्तुतः सर्वोत्कृष्ट देव है, उसमें किसी विशेष उत्कर्ष के दर्शन नहीं होते, और उसकी स्थिति व व्यवहार प्रायः दयनीय हैं। एक बार तो देवों ने उसे ही बलि के रूप में प्रस्तुत किया है।[३] एक कथा की स्थान-स्थान पर चर्चा है—उस पर अगम्यागमन का दोष लगाया गया है कि उसने अपनी पुत्री 'द्यु' या ऊषा से सम्भोग किया। उसे इस पाप का दण्ड देने के लिए देवों ने अपने सर्वाधिक भयंकर रूपों से देव रुद्र का निर्माण किया। रुद्र ने प्रजापति को अपने शर से विद्ध कर दिया जिससे कि सप्तर्षि तथा अन्य तारामण्डल

१. यह ब्राह्मणों के कुछ स्थलों में से एक है जहां मृत्यु के बाद जीवन की चर्चा है।

२. शत० ४.६.४.१; ७.४.१.१६; ६.१.२.१२ इत्यादि।

३. शत० १०.२.२।

उत्पन्न हुए ।[1] यह विशेष रूप से अभिधेय है कि वस्तुतः ब्राह्मणों में और वेदों में भी कोई 'एक' सृष्टि-उत्पत्ति-संबंधी कथा नहीं है जिसे भारत में सर्वसम्मति प्राप्त हो, जैसी कि यूरोप में बाइबिल की सृष्टि-उत्पत्ति-कथा को प्राप्त है। सृष्टि-उत्पत्ति-संबंधी कथाएं बहुसंख्या में हैं, जिनमें परस्पर विभिन्न वर्णन एवं कल्पनाएँ हैं और एक का दूसरे से समन्वय करना सर्वथा असम्भव है। उदाहरण के लिए शतपथ-ब्राह्मण में उपरि-उद्धृत कथा के एकदम बाद ही सृष्टि-उत्पत्ति का सर्वथा भिन्न वर्णन किया गया है। इस कथा में भी प्रजापति प्राणियों को उत्पन्न करने के लिए अपने को कष्ट देता है और घोर तपस्या करता है;[2] "उसने प्राणियों को उत्पन्न किया; पहले पक्षियों को फिर छोटे-छोटे रेंगने वाले जन्तुओं को और फिर साँपों को; परन्तु उत्पन्न होते ही वे सब नष्ट हो गए और प्रजापति एक बार फिर अकेला रह गया। इसके कारण पर प्रजापति ने अत्यन्त गम्भीरता से विचार किया और अन्त में उसे यह ख्याल आया कि ये प्राणी भोजन के अभाव में नष्ट हो गए हैं। इसलिए उसने नये प्राणियों को उत्पन्न किया जिनके वक्षस् से उसने दुग्ध-धारा प्रसृत की, और ये प्राणी जीवित रहे।" पुनः शतपथब्राह्मण में ही एक दूसरे स्थान[3] पर वर्णन है कि "उसने अपने शक्तिमय अंगों से पशुओं को उत्पन्न किया, अपने मन से मनुष्यों को उत्पन्न किया, अपनी आँख से अश्व को, अपने श्वास से गौ को, अपने कर्ण से भेड़ को, और अपनी वाणी से बकरे को उत्पन्न किया। क्योंकि मनुष्य प्रजापति के मन से उत्पन्न हुआ है और मन शक्तिमय अंगों में प्रमुख है, इसलिए मनुष्य सब पशुओं में प्रमुख और सर्वाधिक शक्तिशाली है।"[4]

अधिकतर कथाओं में प्रजापति ही एकमात्र स्रष्टा है, संसार और उसके सब प्राणी उसी से उद्भूत हुए हैं। परन्तु ब्राह्मणों में ऐसे भी स्थल हैं जहाँ प्रजापति को भी उत्पन्न हुआ कहा गया है, और यह कहा गया है कि सृष्टि का प्रारम्भ जल या असत् या ब्रह्मन् से हुआ। इस प्रकार की एक सृष्टि-कथा निम्न है—

"प्रारम्भ में यहाँ सिर्फ जल था, जल का एक समुद्र। इन जलों के मन में इच्छा हुई कि अपना वंश चलाया जाए। उन्होंने अपने को कष्ट दिया; उन्होंने घोर तपस्या की और जब उन्होंने घोर तपस्या की[5] तो उनसे एक स्वर्णमय अण्ड उत्पन्न

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ३.३३। देखिए शत० १.७.४.१; २.१.२.८; ६.१.३.८।

२. शत० २.५.१. १-३।

३. शत० ७.५.२.६।

४. पशुओं का तात्पर्य यहाँ विशेष रूप से बलि-पशुओं से है।

५. क्योंकि तपस् शब्द का अर्थ केवल तपस्या ही नहीं है, ऊष्मा भी है, इसलिए जब यह कहा जाता है—'तब उन्होंने घोर तपस्या की', तो इसका अर्थ यह भी हो सकता है—कि तब वे ऊष्मा से युक्त हो गए। इसका इंगित 'अण्डे सेने की ऊष्मा' की ओर भी हो सकता है और यह बहुत संभव है। संस्कृत-शब्दों में ऐसी अस्पष्टता जानबूझ कर रखी गई है। देखिये Deussen-AGPh. 1, 1, p: 182; 2. pp. 60 ff.

हुआ। तब तक उस समय संवत्सर की सत्ता नहीं थी, परन्तु एक संवत्सर जितने काल तक यह स्वर्णमय अण्ड जलों में इधर-उधर तैरता रहा। एक संवत्सर के बाद उसमें से मनुष्य उद्‌भूत हुआ; वह प्रजापति था। इसीलिए, स्त्री या गौ या घोड़ी एक संवत्सर में सन्तान को जन्म देती है; क्योकि प्रजापति एक संवत्सर के बाद उत्पन्न हुआ था। उसने स्वर्णमय अण्ड के दो टुकड़े कर दिये; परन्तु उस समय तब तक खड़े होने का स्थान भी नहीं था, इसलिए यह स्वर्णमय अण्ड, जिसने उसे धारण कर रखा था, एक संवत्सर के काल तक इधर-उधर तैरता रहा। एक संवत्सर के बाद प्रजापति ने बोलने का प्रयत्न किया और उसने कहा—'भूः' और यह (शब्द) पृथ्वी बन गया; (उसने कहा—) 'भुवः' और यह शब्द वह अन्तरिक्ष बन गया; (उसने कहा—) 'स्वः'[1] और यह शब्द वह द्युलोक बन गया। इसलिए एक शिशु एक संवत्सर के बाद बोलने का प्रयत्न करता है क्योंकि एक संवत्सर के बाद प्रजापति बोला। जब प्रजापति पहले-पहल बोला, उसने एक अक्षर और दो अक्षरों के शब्द बोले। इसलिए जब कोई शिशु पहले-पहल बोलता है तो वह एक अक्षर या दो-अक्षरों के शब्द बोलता है। इन (तीन शब्दों) में मिलाकर कुल पाँच अक्षर हैं। इन पाँच अक्षरों से उसने संवत्सर की पाँच ऋतुएँ बनाईं इसलिए यहाँ पाँच ऋतुएँ होती हैं।[2] इस प्रकार उत्पन्न किए गए पाँच भुवनों से प्रजापति एक संवत्सर के बाद ऊपर उठा; इसलिए शिशु एक संवत्सर के बाद खड़े होने का प्रयत्न करता है, क्योंकि प्रजापति एक संवत्सर के बाद ऊपर उठा था। वह एक हजार वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुआ, जैसे कोई नदी के इस किनारे से नदी के सुदूर-स्थित दूसरे किनारे को देखता है, ऐसे प्रजापति ने अपने जीवन के दूसरे किनारे को देखा[3] और स्तुति-गान करते हुए और तपस्या करते हुए वह जीवन व्यतीत करता रहा क्योंकि वह अपना वंश चलाना चाहता था। उसने अपने अन्दर सर्जनात्मक ऊर्जा (वीर्य) का स्थापन किया और अपने मुख से देवताओं को उत्पन्न किया...जब वह उन्हें उत्पन्न कर चुका, उसने देखा कि मानो उसके लिए दिन का प्रकाश (दिवा) हो गया है और यह देवों का देवत्व (दिव्यता) है। जब वह उन्हें उत्पन्न कर चुका उसने देखा कि मानो वहाँ उसके लिए दिन का प्रकाश हो गया। अब उसने अपान से असुरों को उत्पन्न किया...और जब वे उत्पन्न हो गए तो उसने देखा कि मानो वहाँ अन्धकार था। उसे यह ज्ञात हो गया—वस्तुतः मैंने अपने लिए विनाश उत्पन्न कर लिया है; क्योंकि उनको उत्पन्न करते ही अन्धकार हो गया है। और उसने उस प्रारम्भिक स्थिति में ही असुरों पर प्रहार किया और उन्हें नष्ट कर दिया। इसीलिए यह कहा गया है कि 'अन्वाख्यानों तथा इतिहासों में जिन देवासुर संग्रामों की चर्चा है वह सत्य नहीं है[4] क्योंकि

१. पहले चर्चा की जा चुकी है कि भूः, भुवः सुवः (अथवा 'स्वः') ये तीन पवित्र शब्द हैं।

२. वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, शिशिर व हेमन्त।

३. क्योंकि प्रजापति उत्पन्न हुआ था, अतः उसका भी मर्त्य होना आवश्यक है।

४. उसके कहने का तो यह अभिप्राय हुआ कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में देवासुर-संग्रामों की जो अनेक कथाएँ हैं, वे सब झूठ हैं।

प्रजापति ने उसी समय उन पर प्रहार कर दिया था और उन्हें नष्ट कर दिया था... जब प्रजापति देवों को उत्पन्न कर चुका तो उसने प्रकाश में से दिन उत्पन्न किया और जब वह असुरों को उत्पन्न कर चुका तो उसने अन्धकार में से रात्रि उत्पन्न की। इस प्रकार दिन और रात्रि की उत्पत्ति हुई।" (शत० ११. १. १. ६, १-११)

सृष्टि-उत्पत्ति की एक अन्य कथा इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि वह इतनी स्पष्ट नहीं है (शत० ६. १. १.)। उसका प्रारम्भ इन शब्दों से होता है— "प्रारम्भ में केवल असत् था", परन्तु इसके अगले वाक्य में ही यह कहा गया है कि "यह असत् वास्तव में ऋषि थे, क्योंकि इन्होंने कष्ट-सहन और घोर तपस्या के द्वारा हर वस्तु को सृष्ट किया और प्राण ही ये ऋषि थे। और इन्होंने पहले सात पुरुषों को उत्पन्न किया और फिर उन्हें मिलाकर एक पुरुष, प्रजापति, बना दिया। उन्होंने यह किस प्रकार किया, यह बुद्धिगम्य नहीं है।...

"इस पुरुष प्रजापति ने यह कामना की कि मैं सन्तानोत्पत्ति करूँ जिससे कि मेरा वंश चले। उसने कष्ट सहन किया और तपस्या की। जब वह कष्ट सहन कर चुका और तपस्या कर चुका, उसने सर्वप्रथम 'ब्रह्मन्' अर्थात् त्रयी विद्या को उत्पन्न किया। यह उसके लिए भित्ति-रूप थी, इसलिए यह कहा गया है—'कि ब्रह्मन् सब वस्तुओं की आधार-भित्ति है, इसलिए वह ही स्थिरता से अवस्थित रहता है जिसने वेद का अध्ययन किया है क्योंकि ब्रह्मन् (वेद) ही आधार-भित्ति है'।"

इसके अनन्तर यह कथा है कि "इस आधार-भित्ति पर स्थिर रूप से अवस्थित होकर प्रजापति ने तप किया और फिर सबसे पहले जल उत्पन्न किया। वेद की सहायता से उसने एक अण्ड को सृष्ट किया। अण्ड में से अग्नि उद्भूत हुई और अण्ड का आवरण पृथ्वी बन गया", इत्यादि यह अत्यन्त उबा देने वाला तथा अस्पष्ट वर्णन है। यहाँ यह विशेष रूप से अभिधेय है कि ब्रह्मन् शब्द का मूलार्थ था प्रार्थना या जादू का मन्त्र, फिर इसका अर्थ हुआ—'पवित्र ज्ञान या वेद।' ब्रह्मन् को यहाँ सम्पूर्ण सृष्टि की आधारभित्ति कहा है। इससे एक कदम और आगे बढ़ें तो यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है कि ब्रह्मन् ही सर्जक शक्ति है। यह सिद्धान्त शतपथ-ब्राह्मण (११. २. ३. १) में प्रतिपादित है—

"प्रारम्भ में केवल ब्रह्मन् था। उसने देवों को उत्पन्न किया, और जब वह देवों को उत्पन्न कर चुका तो उसने उन्हें निवास के लिए ये लोक दिए[1]—(अर्थात्) अग्नि को भूलोक, वायु को अन्तरिक्ष-लोक और सूर्य को द्युलोक।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मणों में वे सब विचार विकसित हो रहे थे जिनका पूर्ण विकास आरण्यकों और उपनिषदों में हुआ। भारतीय विचारधारा के इतिहास की दृष्टि से उनका बहुत महत्त्व है। शांडिल्य द्वारा प्रतिपादित उपनिषदों का आधारभूत सिद्धान्त भी शतपथब्राह्मण में पहले ही वर्णित हो चुका है।

---

१. शब्दानुवाद—उसने उनसे इन लोकों का आरोहण करवाया।

आरण्यक तथा उपनिषद्

आर. गार्बे[1] का कथन है कि "दार्शनिक ऊहा के उद्भव से पूर्व की अनुर्वर शताब्दियों में ब्राह्मण-ग्रन्थों का यज्ञ-विज्ञान ही केवल साहित्यिक सृष्टि है।" यही सम्मति अन्य विद्वानों की भी है। परन्तु मेरी सम्मति में यह एक भ्रान्त धारणा है। प्राचीन भारतीयों के विषय में ऐसी धारणा बनाना अनुचित है। वे अत्यन्त प्रतिभावान् थे, यह ऋग्वेद के सूक्तों के साक्ष्य पर ही निर्विवाद कहा जा सकता है। यह सम्भव नहीं है कि पुरोहितों के विचार का एकमात्र विषय याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रयोजन और अभिप्राय के विषय में निरर्थक ऊहा और बाल की खाल निकालना हो। और क्षत्रियों तथा अन्य वर्गों के विषय में तो इसका प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थों में कल्प-विचार के अतिरिक्त आख्यान, इतिहास, पुराण-गाथाएँ और वीरों की स्तुति में गीत (नाराशंसी) भी हैं। सायण ने यह बात स्पष्ट रूप से कही है और गत अध्याय में अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट भी किया गया है।[2] दूसरे शब्दों में, महाभारत इत्यादि काव्यों का प्रारम्भ ब्राह्मण-काल में ही हो गया था। इसमें सन्देह का कोई अवकाश ही नहीं है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित बड़े-बड़े तथा महाव्यय-साध्य यज्ञ संभव ही नहीं थे यदि लोग कर्मठ और परिश्रमी न होते; और इसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती कि उस काल के योद्धा तथा व्यापारी, कृषक तथा पशुपालक, कारीगर तथा श्रमिक गीत नहीं गाते थे, कहानियाँ नहीं कहते थे। उस प्रारम्भिक काल में भारत में जो गीत गाये जाते थे, या कहानियाँ कही जाती थीं, उसका अत्यल्प भाग वेदों में उपलब्ध है (उदाहरण के लिए शुनःशेप-आख्यान); परन्तु अधिकांश भाग परवर्ती वीरकाव्यों (महाभारत आदि) तथा पुराणों में सुरक्षित है। तथा च ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उनसे पूर्व ही व्याकरण, ध्वनि-विज्ञान तथा ज्योतिष-विज्ञान का प्रारम्भ हो चुका था। परवर्ती काल में ये सब विज्ञान तथा अन्य विज्ञान स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए और 'वेदांग' नाम से अभिहित हुए।[3] तथा दार्शनिक ऊहा का यह उन्मीलन भी ब्राह्मण-काल के बाद नहीं, वरन् उससे पूर्व ही हो चुका था। हम देख चुके हैं, ऋग्वेद के सूक्तों में ही देवताओं तथा पुरोहितों की धार्मिक पूजा के विषय में सन्देहों और विवादों का जन्म हो चुका था। वे सन्देहवादी तथा विचारक प्राचीन

१. *Beitrage zur indischen Kulturgeschichte* (*Berlin 1903*) *p.6.*

२. मैक्समूलर *History of Ancient Sanskrit Literature.* देखिये शत० ११.५.६.८; ७.६। ऐतरेयब्राह्मण (३.२५) में आख्यानविदों की चर्चा है। यह विद्वानों का एक विशेष वर्ग है।

३. ब्राह्मणों में वेदांग साहित्य के प्रारम्भ के विषय में देखिये—मैक्समूलर : *History of Ancient Sanskrit Literature.*

भारत के सर्वप्रथम दार्शनिक थे। वे भी निष्क्रिय नहीं बैठे रहे—उन्होंने अपने-अपने विचार-सम्प्रदाय स्थापित किए। उनकी शिक्षाएँ भी प्रचलित थीं, अथर्ववेद के 'दार्शनिक' सूक्तों से यह सिद्ध है। कहीं-कहीं यजुर्वेद की संहिताओं में भी उनकी चर्चा है। यह सच है कि उनमें उन दार्शनिकों की शिक्षाओं की व्यंग्य के रूप में ही चर्चा है, परन्तु इन व्यंग्यों से भी सिद्ध होता है कि दार्शनिक ऊहा उन शताब्दियों में भी चल रही थी, जिनमें यज्ञ-विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर था; तथापि भारत के प्राचीनतम दार्शनिकों की खोज उन पुरोहितों में नहीं की जा सकती जो यज्ञ-विज्ञान में व्यस्त थे, क्योंकि वे दार्शनिक देवों के बहुत्व पर आक्षेप करते थे जो कि स्पष्टतः ही पुरोहितों के स्वार्थ के लिए घातक था। इसलिए यह कल्पना करना बहुत कठिन है कि उन ब्राह्मणों में, जिनकी आजीविका यज्ञों से ही चलती थी, ऐसे लोगों की अधिक संख्या रही होगी जो इन्द्र की ही सत्ता में सन्देह करें और यह प्रश्न उठावें कि देवों के प्रति यज्ञ करने में कोई सार्थकता है कि नहीं। इसकी अधिक सम्भावना है कि ऐसे सन्देहवादी तथा विचारक पुरोहितों के लिए अत्यन्त अप्रीतिकर थे, जिन्हें वे 'कृपण (अराति) तथा 'अविश्वासी' (यज्ञ में विश्वास न रखनेवाले तथा पुरोहितों को दक्षिणा न देनेवाले) कहते थे। उपनिषदों में (और ब्राह्मणों में भी) ऐसे अनेक सन्दर्भ मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में बौद्धिक तथा साहित्यिक गतिविधि क्षत्रियों के हाथ में थी। कौषीतकि-ब्राह्मण (२६.५) में कथा है कि राजा प्रतर्दन ब्राह्मणों से यज्ञ-विज्ञान के विषय में वार्तालाप करता है। शतपथब्राह्मण के एकादश अध्याय में पुनः-पुनः विदेहराज जनक की चर्चा है जिसके ज्ञान के सम्मुख सब पुरोहित हतबुद्धि हो जाते थे। एक संदर्भ में जनक श्वेतकेतु, सोमशुष्म तथा याज्ञवल्क्य से यह प्रश्न करता है कि वे अग्निहोत्र किस प्रकार करते हैं। यह सन्दर्भ विशेष रूप से शिक्षाप्रद है—राजा जनक एक प्रश्न पूछते हैं, उन पुरोहितों में से कोई भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाता, परन्तु याज्ञवल्क्य को सौ गौएँ उपहार-रूप में मिलती हैं क्योंकि यज्ञ के अर्थ के विषय में उसकी विवेचना सर्वाधिक गम्भीर थी। यद्यपि राजर्षि जनक कहता है, कि याज्ञवल्क्य को भी अभी अग्निहोत्र के वास्तविक अर्थ का ज्ञान नहीं हुआ है। जब राजा चला गया तो पुरोहित परस्पर वार्तालाप करने लगे—"वस्तुतः इस क्षत्रिय ने हमें अपनी वाणी से हतबुद्धि कर दिया, अच्छा, हम इसको एक धर्मशास्त्रीय विवाद (ब्रह्मोद्य) के लिए चुनौती देंगे।" परन्तु याज्ञवल्क्य ने उन्हें ऐसा करने से रोका और कहा—"हम ब्राह्मण हैं और वे केवल क्षत्रिय। यदि हमारी विजय हुई तो हम किससे जाकर कहेंगे कि हम विजयी हैं? परन्तु यदि उसने हमें पराजित कर दिया तो लोग हमारे विषय में कहेंगे—'एक क्षत्रिय ने सब ब्राह्मणों को पराजित कर दिया है।' इसलिए यह करने का विचार न करो।" दोनों पुरोहित याज्ञवल्क्य से सहमत हो गए, परन्तु याज्ञवल्क्य राजा जनक के पास गया और प्रार्थना की कि आप मुझे शिक्षा दीजिए।[1] अयस्थूण ने

१. शत० ११. ६. २ देखिए। ११. ३. १, २-४; ११. ६. ३।

यज्ञ किया। वह अपने पुरोहित शौलवायन[1] को शिक्षा देता है। अयस्थूरण ब्राह्मण था, यह कहना बहुत कठिन है, यद्यपि सायरण ने उसे ऋषि कहा है। परम्परा के अनुसार ऋषि (ऋग्वेद के सूक्तों के रचयिता) सदा पुरोहित वर्ग के लोग ही नहीं होते थे। ऋषि कवष के विषय में कहा गया है कि वे एक दासी (ब्राह्मणेतर) के पुत्र थे। जब कवष ने एक महान् यज्ञ में भाग लेना चाहा तो पुरोहितों ने उसे धक्का देकर निकाल दिया। तब वह जंगल में भूखा और प्यासा भटकने लगा, परन्तु जलों ने तथा सरस्वती देवी ने उस पर दया की और उसने एक सूक्त का 'दर्शन' किया। इसके अनन्तर पुरोहित उसे ऋषि के रूप में स्वीकार करते हैं और बुलाकर उसका स्वागत करते हैं।[2]

उपनिषदों के वर्णन से यह स्पष्ट है कि केवल राजा ही नहीं, वरन् स्त्रियाँ भी, तथा वे लोग भी जिनके कुलवंश के विषय में सन्देह है, साहित्यिक तथा दार्शनिक क्षेत्र में क्रियात्मक भाग लेते हैं और प्रायः उच्चतम ज्ञान से सम्पन्न हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में वचक्नु की पुत्री गार्गी याज्ञवल्क्य से सम्पूर्ण सृष्टि के मूल के विषय में प्रश्न करती है और प्रश्न-पर-प्रश्न किये जाती है। तब याज्ञवल्क्य कहता है—"गार्गी, अतिप्रश्न मत कर! कहीं ऐसा न हो कि तेरे सिर के दो टुकड़े हो जाएँ। वस्तुतः देवता के विषय में किसी को अतिप्रश्न नहीं करने चाहिएं। गार्गी, तू अतिप्रश्न मत कर, अतिप्रश्न मत कर!" एक अन्य संदर्भ में शास्त्रार्थ करने वाले ब्राह्मणों की सभा में, गार्गी प्रसिद्ध विद्वान् याज्ञवल्क्य की ओर उन्मुख होकर कहती है—"याज्ञवल्क्य, मैं तेरे विरोध में खड़ी हो रही हूँ जैसे वाराणसी के किसी राजन्य का पुत्र या विदेहराज ज्यारहित धनुष पर ज्या चढ़ाए और हाथ में शत्रुओं को बींधने वाले दो शर लेकर खड़ा हो, इसी प्रकार मैं तेरे विरुद्ध दो प्रश्न लेकर खड़ी होती हूँ, मुझे इनका उत्तर दे!" इसी उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को सर्वोत्कृष्ट आत्मिक ज्ञान की शिक्षा देता है।[3] यह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान पुरोहितों की ही एकमात्र सम्पत्ति नहीं था, वस्तुतः उनमें तो यह अत्यल्प था। यह वृषभ युगल[4] से युक्त रैक्व की मनोरञ्जक कथा से भी सिद्ध होता है जो अपनी बैलगाड़ी के नीचे बैठा है और अपने खुजली से भरे शरीर को खुजला रहा है, परन्तु सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की सम्पन्नता में उसे एक राजा के समान गर्व है। एक धनिक दानी जनश्रुति नम्रता से रैक्व के पास आता है और कहता है—'मुझे शिक्षा दीजिए!' रैक्व उससे कहता है—कि 'तुम शूद्र हो',[5] और उसके द्वारा दिए गए उपहारों का मजाक उड़ाता है। वह उसे शिक्षा देना तभी स्वीकार करता है जब वह अपनी सुन्दर कन्या का

१. शत० ११.४.२, १७-२०।

२. ऐतरेय ब्राह्मण २.१६।

३. बृहदारण्यक उप०—३.६, ३.८; २.४ तथा ४-५।

४. 'सयुग्वन्' का अनुवाद वृषभ-युगल से किया गया है, परन्तु इस अर्थ के विषय में सन्देह है। इसके अन्य अर्थ भी सन्देहास्पद हैं। रैक्व को जो ब्राह्मण कहा गया है वह इस अर्थ में कि वह ब्रह्म को जानता है, इस अर्थ में नहीं कि वह जाति का ब्राह्मण है।

५. यहाँ शूद्र का प्रयोग तिरस्कार-द्योतन के लिए किया गया है।

उससे विवाह कर देता है।[1] निम्न कथा भी बड़ी मनोरञ्जक और ज्ञानवर्धक है—

"१. जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता को कहा, 'हे पूज्ये, मैं ब्रह्मचर्य-पूर्वक [गुरुकुल में] निवास करना चाहता हूँ, [बताइए] मेरा गोत्र क्या है ?'

२. माता ने उसे कहा—'हे तात, मुझे यह ज्ञात नहीं है कि तेरा गोत्र क्या है। अपने यौवन में मुझे परिचारिणी के रूप में अनेक स्थानों पर कार्य करना पड़ा और तू मेरे गर्भ में आ गया। मुझे यह ज्ञात नहीं है कि तेरा गोत्र क्या है। मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है। यह कह देना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।'

३. उसने हारिद्रुमस गौतम के पास जाकर कहा—'भगवन्, मैं आपके समीप ब्रह्मचारी बनकर रहना चाहता हूँ। भगवन्, क्या मैं आपके पास रह सकता हूँ ?'

४. उसने उसे कहा, 'सौम्य, तेरा गोत्र क्या है ?' उसने उत्तर दिया—'श्रीमन्, यह मुझे ज्ञात नहीं है कि मेरा गोत्र क्या है; मैंने अपनी माता से पूछा था और उसने उत्तर दिया कि—अपने यौवन में मुझे परिचारिणी के रूप में अनेक स्थानों पर कार्य करना पड़ा और तू मेरे गर्भ में आ गया। मुझे यह ज्ञात नहीं कि तेरा गोत्र क्या है। मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है—अतः श्रीमन्, मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।'

५. उसने उसे कहा—'सच्चे ब्राह्मण के अतिरिक्त ऐसा स्पष्ट कथन और नहीं कर सकता। हे सौम्य, समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन करूँगा, तू सत्य के मार्ग से विचलित नहीं हुआ।'[2]

इस संदर्भ से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण-कुल में जन्म का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। परन्तु स्मृतियों में हम यह देखते हैं कि पुनः-पुनः इस बात पर बल दिया गया है कि वेद के अध्यापन का अधिकारी केवल ब्राह्मण ही है और वेद के अध्ययन के अधिकारी तीन उच्च वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ही हैं; परन्तु उपनिषदों में पुनः-पुनः इसका वर्णन है कि उच्चतम ज्ञान राजाओं या क्षत्रियों के पास ही है और ब्राह्मण उनके पास अध्ययन के लिए जाते हैं। श्वेतकेतु का पिता ब्राह्मण गौतम 'पर'-विषयक ज्ञान के लिए राजा प्रवाहण के पास जाता है। राजा प्रवाहण को गौतम की इच्छा पूरी करने में संकोच हो रहा है। वह कहता है कि अब तक यह विद्या ब्राह्मणों को नहीं दी गई। सब लोकों में इसके प्रशासन का कार्य क्षत्रिय वर्ग का ही रहा है। अन्ततः राजा गौतम को उस सिद्धान्त की शिक्षा देता है और यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त है। इससे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त क्षत्रियों में ही उद्भूत और विकसित हुआ, ब्राह्मणीय धर्मशास्त्र इसे

१. छान्दोग्य उप० ४.१-३।

२. छान्दोग्य उप० ४.४। शतपथ ब्राह्मण में गुरुओं की वंशावली में अनेक गुरुओं का निर्देश मातृनामों से किया गया है। सत्यकाम का अर्थ है—सत्य से प्रेम करने वाला।

प्रारम्भ में अपरिचित था।[१] एक दूसरे संदर्भ से यह सिद्ध होता है कि उपनिषदों का मुख्य सिद्धान्त—आत्मा का सिद्धान्त—भी मूलतः ब्राह्मणेतर वर्ग में उद्भूत हुआ। पाँच विद्वान् ब्राह्मण उद्दालक आरुणि के पास आत्म-सिद्धान्त ज्ञान के लिए गए। उद्दालक आरुणि ने सोचा, 'ये बहुत प्रतिष्ठित हैं और महाश्रोत्रिय हैं; ये मुझ से प्रश्न करेंगे और मैं सबका पूरी तरह से उत्तर नहीं दे सकूँगा। अच्छा, इन्हें मैं किसी दूसरे के पास भेज देता हूँ।' उसने उन्हें राजा अश्वपति कैकेय के पास भेज दिया और उन्होंने वहाँ जाकर यह ज्ञान प्राप्त किया।[२]

इस प्रकार जब ब्राह्मण अपने अनुर्वर यज्ञ-विज्ञान के चक्कर में घूम रहे थे, अन्य वर्ग उच्चतम प्रश्नों के समाधान में संलग्न थे और उनका चिन्तन अन्त में उपनिषदों के रूप में हमारे सामने आया। ये आध्यात्मिक विचारक, जो मूल रूप से पुरोहित वर्ग से सम्बद्ध नहीं थे, वानप्रस्थियों और परिव्राजकों के रूप में रहते थे। इन्होंने संसार तथा इसके भोगों का ही त्याग नहीं कर रखा था, ये ब्राह्मणों के यज्ञों व कर्मकाण्डों से भी अलग रहते थे। शीघ्र ही ब्राह्मणों के विरोधी विभिन्न सम्प्रदाय इसी वर्ग में बन गए; इनमें बौद्ध सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध हुआ। इन सम्प्रदायों के, विशेष रूप से बौद्ध सम्प्रदाय के, सुविस्तर प्रचार से यह सिद्ध होता है कि उन प्राचीन दार्शनिकों के सिद्धान्तों के बीज कितनी उर्वरा भूमि पर पड़े थे; तथा वे कर्मकाण्ड-विरोधी सिद्धान्त सुसंस्कृत वर्ग में कितने प्रिय व स्वीकृत हुए।

तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम यह परिणाम निकाल लें कि दार्शनिक ऊहाओं में ब्राह्मणों ने कोई भी भाग नहीं लिया। क्योंकि क्षत्रिय तथा अन्य उच्च वर्णों की शिक्षा-दीक्षा ब्राह्मणों की ही पाठशाला में होती थी और ब्राह्मणों तथा अन्य शिक्षित-वर्ग में सदा से ही दार्शनिक विचारों का प्रभूत आदान-प्रदान अवश्य होता रहा होगा।[3] तथाच सब ब्राह्मण या पुरोहित यज्ञ-कार्यों में संलग्न नहीं थे। धनिकों और निर्धनों में ऐसे भी ब्राह्मण थे जो सांसारिक धन्धे करते थे। और उनमें से ऐसे भी अनेक अवश्य रहे होंगे जिनकी सन्देहवादियों

---

१. छान्दोग्य उप० ५.३; बृह० उप० ६.२; कौषीतकि उप० १.१ से क्षत्रिय चित्र पुरोहितों में प्रमुख आरुणि को पर-विषयक ज्ञान देता है।

२. छान्दोग्य उप० ५.११.; शतपथ १०.६.१ में भी यह कथा वर्णित है।

३. देखिए A. Hillebrandt, *Aus Brahmanas and Upanisaden. pp. 10 ff.*। हिल्ब्राण्ड के इस कथन से मैं पूर्णतया सहमत हूँ कि "उपनिषदों के दर्शन को न तो ब्राह्मणीय कहना चाहिए और न ही 'क्षत्रिय दर्शन'; परन्तु इस बात में भी कोई सन्देह नहीं है कि ब्राह्मणेतर वर्ग का, विशेष रूप से क्षत्रियों का, प्राचीन भारत में आध्यात्मिक और बौद्धिक जीवन में उल्लेखनीय योगदान रहा।" देखिए P. Deussen, *System des Vedanta*; *R. Garbe, Beitrage zur Indischen Kulturgeschichte*; *R. Fick, The social organisation in North-East India in Buddha's Time*। 'औपनिषदिक विचारों

तथा नवसिद्धान्त-प्रवर्तकों के साथ सहानुभूति रही होगी। अन्ततः भारतीय विचारधारा के इतिहास में हम सर्वत्र यह देखते हैं कि ब्राह्मणों में ऐसी एक कुशलता थी कि वे ऐसे विचारों को भी अपनी पौरोहित्य तथा कट्टर विचारधारा में ढाल लेते थे, जो उनके विरोधी थे। उन्होंने चार आश्रमों के सिद्धान्त प्रवर्तन द्वारा यह कार्य निष्पन्न कर लिया। इसके अनुसार तपस्वी तथा वानप्रस्थ के जीवन को ब्राह्मणीय धर्म-प्रणाली का अभिन्न अंग बना लिया गया। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक 'आर्य' अर्थात् 'द्विज' (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य), जो आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसके लिए यह अनिवार्य है कि वह चारों आश्रमों में से गुजरे। प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम है जिसमें वह गुरुकुल जाकर ब्रह्मचारी के रूप में निवास करे और वेदाध्ययन करे। जब यह शिक्षण कार्य पूर्ण हो जाए तब वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे, सन्तानोपत्ति करे और देवों के लिए विहित यज्ञ करे या उनकी व्यवस्था करे। जब वृद्धावस्था आ जाए तो वह वानप्रस्थ के रूप में सीमित यज्ञ व अनुष्ठान करे, परन्तु मुख्य रूप से यज्ञ के रहस्यात्मक तथा प्रतीकात्मक रूप पर मनोनिधान करे; और जब वह यह अनुभव करे कि अन्त-समय समीप आ रहा है तो इन यज्ञादि का भी सर्वथा परित्याग करके संन्यासी बन जाए और ब्रह्म का ध्यान करे और उससे एकरूप होने की साधना करे।[1]

ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही भाग या परिशिष्ट के रूप में आरण्यक ग्रन्थ हैं। इनका स्वरूप रहस्यमय है। इनका ज्ञान दीक्षित को ही दिया जाता था। अदीक्षित के लिए यह खतरे का कारण माना जाता था। इस कारण इनका अध्ययन-अध्यापन अरण्य में ही होता था, ग्रामों में नहीं। आरण्यकों का मुख्य विषय यज्ञ का रहस्यवाद तथा

के विकास में क्षत्रियों का प्रमुख भाग है' इस दृष्टिकोण से ओल्डनबर्ग, ओल्डमेयर, कीथ तथा एस. दासगुप्त (*A Hist. of Indian Philosophy. 1*) ने सहमति प्रकट की है, परन्तु एस. दासगुप्त (पृष्ठ ३१) यह स्वीकार करते हैं —"सामान्य रूप से क्षत्रियों में उत्कट दार्शनिक जिज्ञासा थी और यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि औपनिषदिक सिद्धान्तों के निर्माण में उनका प्रमुख प्रभाव है।" तथ्य यह है साहित्यिक कृतियों के रूप में उपनिषद् ब्राह्मणीय सम्प्रदायों के द्वारा लिखे गए। इस दृष्टि से उन्हें 'ब्राह्मणीय' कहा जा सकता है; परन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि उपनिषदों में उपलब्ध सब या सर्वाधिक प्रमुख 'विचार' सर्वप्रथम पुरोहित वर्ग में उद्भूत हुए। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि आपस्तम्बीय धर्मसूत्र (२.२.४.२५) भी यह अनुमति देते हैं कि "आपत्काल में ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य अध्यापक का शिष्य बन सकता है।" ओल्डनबर्ग—*Die Lehre der Upanishaden, etc. p.5.*

१. प्राचीनतम उपनिषदों में (छान्दोग्य उप० २.२३; ८.१.) आदर्श जीवन की तीन शाखाओं के विषय में कहा गया है परन्तु तीन या चार आश्रमों की चर्चा नहीं है। केवल परवर्ती उपनिषदों में (मैत्रा० ४.३; आश्रम उप०), महाभारत में तथा धर्मसूत्रों में आश्रम-सिद्धान्त पूर्णतः विकसित रूप में मिलते हैं। देखिए Deussen : *Sechzig Upanishads and Jacobi, ERE* II, 802।

प्रतीकवाद तथा पुरोहितों का दर्शन है। यज्ञों के अनुष्ठान व कर्मकाण्ड आरण्यकों का विषय नहीं हैं। ब्राह्मण धर्म में जब आश्रमों के सिद्धान्त को जीवन के आदर्श रूप में स्वीकार कर लिया गया तब आरण्यक ग्रन्थों का वेद के भाग के रूप में स्वीकृत होना स्वाभाविक ही था। इन ग्रन्थों का अध्ययन वानप्रस्थी लोग करते थे।[1] प्राचीनतम उपनिषदें अंशतः इन आरण्यकों का भाग हैं और अंशतः इनका परिशिष्ट। और प्रायः आरण्यकों और उपनिषदों के मध्य विभाजक रेखा खींचना कठिन हो जाता है। उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है। वेदान्त शब्द के दो अर्थ हैं: वेदों का अन्तिम भाग[2] या वेदों का अन्तिम उद्देश्य। अधिकांश उपनिषदें परवर्ती हैं और तिथि-क्रम की दृष्टि से वैदिक काल के अन्त में आती हैं। इसके साथ ही यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि यह सम्पूर्ण वैदिक साहित्य पुस्तकों के रूप में लिखित नहीं था। यह उच्चारित शब्द के रूप में संक्रान्त किया जाता था। इसलिए जब हम पृथक्-पृथक् ब्राह्मणों की चर्चा करते हैं और उन्हें ग्रन्थ नाम से अभिहित करते हैं तो उसका तात्पर्य यही है कि ये अमुक पुरोहित-सम्प्रदाय में प्रचलित शिक्षा-विषय इत्यादि हैं। उस विषय को शिष्य गुरुओं से पढ़ते थे। इसके लिए एक निश्चित काल तक (जो कई वर्षों का होता था) उन्हें गुरुओं के समीप रहना होता था और उनकी सेवा करनी होती थी। आरण्यकों और उपनिषदों का अध्यापन स्वभावतः ही शिक्षा के अन्तिम वर्षों में होता था, क्योंकि इनमें रहस्यमय और दार्शनिक सिद्धान्त हैं और इनका समझना सर्वाधिक कठिन है। वेद-पारायण के अन्त में इनका अध्ययन पवित्र एवं धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में किया जाता था। परवर्ती दार्शनिकों ने वेदान्त का अर्थ 'वेदों का अन्तिम उद्देश्य' यह स्वीकार किया। उनके विचार में उपनिषदों के सिद्धान्त एकमात्र उद्देश्य हैं।[3]

आरण्यक तथा प्राचीनतर उपनिषदें वेदान्त (वेद-अन्त) के रूप में विभिन्न वैदिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध हैं। वस्तुतः वे ब्राह्मणों का ही भाग हैं। इस प्रकार ऐतरेय-आरण्यक, जिसमें ऐतरेय उपनिषद् भी सम्मिलित है, ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का ही भाग है। कौषीतकि ब्राह्मण भी ऋग्वेद से सम्बद्ध है; इसका अन्तिम भाग

१. देखिए ओल्डनबर्ग *Die Hymnen des Rigveda 1.* तथा NGGW। रामानुज का कथन है कि उपनिषदों के प्रारम्भ में कुछ मन्त्रों और यज्ञीय कर्मकाण्डों पर विचार किया गया है, "इसका कारण यह है कि उपनिषदों की भांति उनका अध्ययन भी अरण्य में अपेक्षित है।" आरुणि-उपनिषद् में यह कहा गया है कि "वानप्रस्थ को सम्पूर्ण वेदों में केवल आरण्यक और उपनिषद् का ही अध्ययन करना चाहिए।" मनुस्मृति ६.२९ में कहा गया है कि "वानप्रस्थ को 'उपनिषद् ग्रन्थों' (औपनिषदीः श्रुतीः) का अध्ययन करना चाहिए।" उपनिषदों के अध्ययन के समय कठिन तपस्या के नियमों का भी विधान किया गया है—बौधायन धर्मसूत्र २.१०.१८.१५। देखिए मैक्समूलर, *History of Ancient Sanskrit literature,* पृष्ठ ३१३।

२. वेदान्त का मूल अर्थ उपनिषद् है। परवर्ती काल में उपनिषदों पर आधृत दर्शन-प्रणाली के लिए भी यह शब्द प्रयुक्त होने लगा।

३. देखिए P. Deussen, *System des Vedānta*।

कौषीतकि आरण्यक है जिसका कि कौषीतकि उपनिषद् एक भाग है (इसे कौषीतकि-ब्राह्मण-उपनिषद् भी कहते हैं)।[1] कृष्ण यजुर्वेद में तैत्तिरीय आरण्यक तैत्तिरीय ब्राह्मण की ही अविच्छिन्न धारा से है और अन्त में इसने तैत्तिरीय उपनिषद् तथा महानारायण उपनिषद् का रूप ले लिया। शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश अध्याय का प्रथम एक-तिहाई भाग आरण्यक है और इस अध्याय का अन्तिम भाग बृहदारण्यक उपनिषद् है जो कि उपनिषदों में सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। छान्दोग्य उपनिषद् का प्रथम भाग आरण्यक के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह उपनिषद् सामवेद के एक ब्राह्मण, सम्भवतः ताण्ड्य महाब्राह्मण से सम्बद्ध है। तथाकथित जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण सामवेद की जैमिनीय या तलवकार शाखा का आरण्यक है; तथा केन-उपनिषद्, जिसे तलवकार उपनिषद् भी कहते हैं, इसका एक भाग है।

महानारायण उपनिषद् तैत्तिरीय आरण्यक के साथ परवर्ती काल में जोड़ा गया। इसे छोड़कर अन्य सब उपरि-निर्दिष्ट उपनिषदों की प्राचीनतम उपनिषदों में गणना होती है। भाषा और शैली की दृष्टि से वे ब्राह्मणों से मिलती-जुलती हैं। वे ब्राह्मणों का ही भाग हैं या इसी काल में ब्राह्मणों के साथ जोड़ी गई हैं। इनमें वैसा ही सीधा-सादा कुछ अनगढ़-सा गद्य है; परन्तु इसमें सौन्दर्य का अभाव नहीं है, विशेष रूप से आख्यानात्मक भागों में। केवल केन-उपनिषद् का आधा भाग छन्दोमय है और यह उपरि-परिगणित उपनिषदों में अर्वाचीनतम है; परन्तु इनमें किसी भी उपनिषद् के पाठ्य के सब भाग एक ही काल के नहीं हैं। इस विषय में डूसन का कथन है—"इन सब उपनिषदों में पूर्ववर्ती और परवर्ती पाठ्य मिले-जुले हैं। इसलिए काल-निर्णय करते हुए प्रत्येक पर पृथक् रूप से विचार करना होगा।" परन्तु यदि केवल भाषा के आधार पर विचार करें तो इन उपनिषदों के परवर्ती भाग भी अत्यन्त प्राचीन काल के सिद्ध होते हैं।[2] यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसी बड़ी-बड़ी उपनिषदें बड़ी तथा छोटी कई भिन्न-भिन्न उपनिषदों को मिलाकर बनी हैं। यह तथ्य भी इसकी पुष्टि करता है कि कई बार अनेक संदर्भ कई उपनिषदों में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। बड़ी उपनिषदें, ब्राह्मणों तथा आरण्यक ग्रन्थों के काल से बहुत पीछे की नहीं हैं और निर्विवाद रूप से उनका काल बुद्ध से पूर्व है तथा पाणिनि से भी पूर्व है। ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि तथा केन उपनिषद् साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनमें तथाकथित वेदान्त सिद्धान्त अपने शुद्ध तथा मूल रूप में है।

---

१. ऐतरेय आरण्यक अंग्रेजी अनुवाद सहित ए० बी० कीथ ने प्रकाशित किया है। इसके परिशिष्ट रूप में शाङ्खायन-आरण्यक का एक भाग (७-१५) दिया गया है। शाङ्खायन या कौषीतकि आरण्यक के विषय में देखिए S. Keith, JRAS, 1908, 353 ff.

२. उपनिषदों की भाषा के विषय में निम्न विद्वानों के ग्रन्थ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—R. Liebich, Otto wecker, W. Kirfel, A. Fürst, Oldenberg.

कुछ उपनिषदें पूर्णतया या अधिकांशतः पद्य में लिखी हुई हैं। वे कुछ परवर्ती काल की हैं तो भी उनका काल अत्यन्त प्राचीन है और सम्भवतः बुद्ध से पूर्व है। इनका भी किसी वैदिक शाखा से संबंध स्थापित किया जाता है, परन्तु सर्वदा ही किसी आरण्यक के भाग के रूप में ये हमें प्राप्त नहीं होतीं। कठ या काठक[1] उपनिषद् इसी श्रेणी की है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसका कृष्ण यजुर्वेद की किसी शाखा से संबंध है। श्वेताश्वतर[2] उपनिषद् तथा महानारायण उपनिषद् हमें तैत्तिरीय आरण्यक के परिशिष्ट रूप में उपलब्ध हैं। इनकी गणना भी कृष्णयजुर्वेद के पाठ्यों में होती है। ईश-उपनिषद्[3] बहुत छोटी है परन्तु महत्त्व की दृष्टि से सर्वोच्च है। यह वाजसनेयि संहिता (शुक्ल यजुर्वेद) का अन्तिम अध्याय है। मुण्डक उपनिषद्[4] तथा प्रश्न उपनिषद्[5] अथर्ववेद से संबद्ध हैं। ये दोनों उपनिषदें अंशतः गद्य में, अंशतः पद्य में हैं। यद्यपि इन छः उपनिषदों में भी वेदान्त सिद्धान्त मिलता है तथापि सांख्य तथा योग के सिद्धान्त तथा एकेश्वरवादी विचार इनमें ओतप्रोत हैं। भावी गवेषणाओं से यह स्पष्ट होगा कि इनमें कौन-कौन से विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त हैं और किनका परवर्ती काल में प्रक्षेप किया गया है। इनको पढ़ने से स्थान-स्थान पर प्रक्षेप का स्पष्ट आभास होता है। उदाहरण के लिए महानारायण उपनिषद् के तीन विभिन्न पाठ मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि इनका पाठ कितना अनिश्चित है।

मैत्रायणीय उपनिषद्[6] का अपने शीर्षक के कारण से कृष्ण यजुर्वेद की

---

१. इसके पाठ की आलोचना के लिए देखिए R. Fritzsche, ZDMG. 66, 1912, 727 f; Hillebrandt, ZDMG; 68, 1914, 579 ff. and Hertel *Dic weischeit der Upanischaden*, pp. 42 ff.।

२. देखिए—*Weber*, *Ind. Stu.* 1 तथा R. G. Bhandarkar, *Vaiṣṇavism, Śaivism and Minor Religious Systems* ('Grundriss' 111, 6, 1913), pp, 106 ff.

३. द्रष्टव्य, श्रीअरविन्द का अंग्रेजी-अनुवाद, सत्यभूषण योगी का ईशोपनिषद् भाष्य।

४. हर्टेल ने अथर्ववेद (१०. ७-८) के साथ संबंध की ओर निर्देश किया है। मुण्डक उपनिषद् का अर्थ संभवतः यह है—कि उस विद्वान् की उपनिषद् जिसने सिर मुँडाया हुआ है, अर्थात् उस सम्प्रदाय का व्यक्ति जिसके लोग अपने सिर को मुण्डित रखते थे। हर्टेल का सुझाव है कि मुण्डक उपनिषद् तथा जैनियों में कोई संबंध है।

५. इस उपनिषद् में उपदेष्टा ऋषि के रूप में पिप्पलाद है। यह ऋषि अथर्ववद की पैप्पलाद शाखा का प्रवर्त्तक है।

६. इसके अन्य शीर्षक निम्न हैं—मैत्रायण-ब्राह्मण-उप०, मैत्रायण-उप० मैत्रायणी-उप० तथा मैत्री-उप०। इस उपनिषद् के अनेक पाठ्य मिलते हैं। इससे एक बिलकुल अलग ग्रन्थ मैत्रेय उप० मिलता है जो कि पद्य में है, इसकी भूमिका गद्य में है। भूमिका का कुछ भाग मैत्रायणीय उप० से मिलता है।

किसी शाखा[1] से संबंध स्थापित किया जाता है, परन्तु यह पर्याप्त परवर्ती काल की प्रतीत होती है जो अवश्य ही बुद्ध के बाद का होना चाहिए। प्राचीनतम उपनिषदों की भाँति यह गद्य में लिखी हुई है परन्तु इसमें वैदिक भाषा के कोई चिह्न दृष्टि-गोचर नहीं होते। भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से इसे परिनिष्ठित संस्कृत साहित्य के काल में रखा जा सकता है। अथर्ववेद की माण्डूक्य उपनिषद्[2] का काल भी सम्भवतः यही है। शङ्कर ने ऊपर गिनाई बारह उपनिषदों को अपनी 'ब्रह्मसूत्र-टीका' में प्रामाणिक रूप में उद्धृत किया है। उसने मैत्रायणीय उपनिषद् तथा माण्डूक्य उपनिषद् की कहीं भी चर्चा नहीं की है।[3]

यद्यपि अन्त में परिगणित दो उपनिषदें वैदिक साहित्य के सबसे परवर्ती काल की हैं तो भी उन्हें बारह उपनिषदों के साथ परिगणित किया जा सकता है तथा प्राचीनतम भारतीय दर्शन के इतिहास के आकर-ग्रन्थों के रूप में केवल इन चौदह उपनिषदों को ग्रहण किया जा सकता है।

इन चौदह उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य भी कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्या २०० से ऊपर है और प्रत्येक का किसी-न-किसी वैदिक शाखा से संबंध स्थापित किया जाता है, परन्तु इनमें से बहुत कम का वेदों से कोई वास्तविक संबंध है। इनमें से अधिकांश दार्शनिक न होकर धार्मिक ग्रन्थ हैं और इनमें अत्यन्त परवर्ती काल के दार्शनिक व धार्मिक सम्प्रदायों के विचार या सिद्धान्त संगृहीत हैं। इनमें से अधिकांश का, कालक्रम तथा विषय की दृष्टि से, वेदों की अपेक्षा पुराणों तथा तन्त्रों से अधिक घनिष्ठ संबंध है। इस परवर्ती उपनिषद् साहित्य का, प्रयोजन और विषय की दृष्टि से, निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है—

(१) वे ग्रन्थ, जिनमें वेदान्त के सिद्धान्त हैं।[4]

(२) जिनमें योग की शिक्षा है।[5]

---

१. किसी-किसी पाण्डुलिपि में इसे मैत्रायणीय संहिता के भाग के रूप में लिया गया है।

२. भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। गौडपादीय कारिका माण्डूक्य उप० पर आधृत है। पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य ने यह सिद्ध किया है कि इस उपनिषद् की टीका, जो शंकराचार्य-रचित कही जाती है, वस्तुतः उसके द्वारा रचित नहीं है।

३. इन चौदह उपनिषदों के काल की दृष्टि से पूर्वापर के विषय में पूर्ण निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। कीथ ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्राचीनतम उप० ऐतरेय है और उसका काल लगभग ७००-६०० ई० पू० है। अन्य विद्वान् बृहदारण्यक उप० को प्राचीनतम मानते हैं। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का कथन है कि "प्राचीन उपनिषदों के काल के विषय में स्वीकृत तिथियाँ १००० ई. पू० से ३०० ई० पू० तक हैं (*Indian Philosophy* 1, pp 141. f.)" ये तिथियाँ किसके द्वारा स्वीकृत हैं? वेणीमाधव बरुआ (*A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy*) ने उपनिषदों में मिलने वाले दार्शनिक विचारों के काल-क्रम के निर्णय का स्तुत्य कार्य किया है; यद्यपि वे सर्वत्र सफल नहीं हुए हैं, परन्तु उनका उपनिषदों के दर्शन को 'वेद-परवर्ती' (Post-Vedic) कहना अत्यन्त भ्रान्ति से पूर्ण है।

४. देखिए 'सामान्य वेदान्त उपनिषदें', अडयार लाइब्रेरी १९२१.

५. 'योग उपनिषदें', अडयार लाइब्रेरी १९२०.

(३) जिनमें संन्यास-जीवन की प्रशंसा है।[1]

(४) जिनमें विष्णु की महिमा का वर्णन है।[2]

(५) जिनमें शिव की महत्तम देवता के रूप में स्तुति है।

(६) शाक्तों तथा अन्य अप्रसिद्ध सम्प्रदायों की उपनिषदें।[3]

इन उपनिषदों में कुछ गद्य में लिखी गई हैं, कुछ मिश्रित गद्य-पद्य में और कुछ महाभारत की शैली के श्लोकों में। तिथि-क्रम की दृष्टि से श्लोकों में लिखी गई उपनिषदें सबसे अर्वाचीन हैं तथा पुराणों एवं तन्त्रों के स्तर की हैं। अन्यों में कुछ ऐसी हैं जो कि काफी प्राचीन काल की हैं और परिणामतः जिन्हें वेदों से सम्बद्ध किया जा सकता है। सम्भवतः निम्न प्राचीन उपनिषदों के उदाहरण हैं—

जाबाल उपनिषद्[4]—शंकर ने इसे प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में उद्धृत किया है। इसके अन्त में परमहंस नाम के संन्यासी का बड़ा सुन्दर वर्णन है; 'परमहंस उपनिषद्'[5]—इसमें परमहंस के मार्ग का विशद वर्णन है। सुबाल उपनिषद्[6]—रामानुज ने इससे बहुत उद्धरण दिए हैं। इसमें सृष्टि-उत्पत्ति विज्ञान, शरीर-क्रिया-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अध्यात्मशास्त्र के विषय हैं; 'गर्भ उपनिषद्'[7]—इसके कुछ भाग में गर्भ-विज्ञान का वर्णन है, परन्तु यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि इसमें गर्भ पर ध्यान लगाने की विधि बताई गई है जिसका उद्देश्य यह है कि मनुष्य का पुनर्जन्म व नवीन गर्भ में जाना न हो; तथा शैव अथर्वाङ्गिरस उपनिषद्[8]—धर्मसूत्रों[9] में इसकी

१. *Minor Upaniṣads*, Vol. 1 (F. Otto. Schrader, संन्यास उपनिषदें, अड्यार लाइब्रेरी १९१२.)

२. 'वैष्णव उपनिषदें', अड्यार लाइब्रेरी १९२३। रामतापनीय उपनिषद् जर्मन-अनुवाद सहित (वेबर), नृसिंहतापनीय उपनिषद् (वेबर), निरालम्ब उपनिषद् तथा गरुड उपनिषद् देखिए Weber, *Ind. Stud.* 3.324 ff; 17, 136 ff, 161 ff.

३. शिव तथा शाक्त उपनिषदें, अड्यार लाइब्रेरी। वैदिकेतर उपनिषदों का यह विभाजन सर्वप्रथम ड्सन ने किया, परन्तु यह विभाजन सर्वथा निर्दोष नहीं है। किन्हीं योग उपनिषदों में ब्रह्मविद्या की भी शिक्षा है। इसी प्रकार किन्हीं योग उपनिषदों को वैष्णव उपनिषदें भी कहा जा सकता है, इत्यादि।

४. *Minor Upaniṣads*, ed. F.O. Schrader। pp. 57 ff. Deussen, *Sechzig Upanishads*, pp. 106 ff.

५. *Sāmānya Vedānta Upanishads*, ed. Mahadeva Sastri, pp. 460. ff.

६. *Minor Upaniṣads*. 1. pp. 43 ff.; Deussen, loc, cit., pp. 703 ff.

७. *Sāmānya Vedānta Up.*, pp. 168 ff.; Deussen Sechzig Upanishads, pp 605. ff.

८. Deussen, loc, cit. pp, 716 ff. See also Bhandarkar, *Vaiṣṇavism, Śaivism,* etc. pp. 111 f.

९. Gautama, XIX, 12; Baudhāyana, 111, 10, 10: Vāsiṣṭha, XXII, I; XXVII, 14 Viṣṇu, 56, 22.

पवित्र ग्रन्थ के रूप में चर्चा है और कहा गया है कि इसके द्वारा पापों का प्रक्षालन किया जा सकता है। 'वज्रसूचिका उपनिषद्'[1]—में यह शिक्षा दी गई है कि जो ब्रह्म को अद्वितीय के रूप में जानता है, वह ही ब्राह्मण है। यह बहुत परवर्ती काल की नहीं है। इन उपनिषदों का काल-निर्धारण इसलिए भी कठिन है कि इनकी अनेक शाखाएं मिलती हैं जिनका आकार बहुत पृथुल है।[2]

जिन उपनिषदों को 'वैदिकेतर उपनिषद्' नाम से हम अभिहित करते हैं वे बड़े-बड़े संग्रहों के रूप में मिलती हैं। ये संग्रह बहुत प्राचीन नहीं हैं।[3] दार्शनिक शंकराचार्य (लगभग ८०० ई० प०) उपनिषदों को उन वैदिक पाठ्यों के नाम से उद्धृत करता है जिनसे वे सम्बद्ध हैं तथा रामानुज (लगभग ११०० ई० प०) भी उपनिषदों को उद्धृत करते हुए 'छन्दोगाः', 'वाजसनेयिनः' या 'कौषीतकिनः' इत्यादि से अभिहित करता है। वह केवल 'सुबाल' उपनिषद् को उसके नाम से अभिहित करता है। 'मुक्तिका' उपनिषद् में, जो कि निर्विवाद रूप से अत्यन्त परवर्ती उपनिषदों में से है, यह कहा गया है कि १०८ उपनिषदों के स्वाध्याय से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। इसमें १०८ उपनिषदों की सूची दी गई है और चारों वेदों से सम्बन्ध की दृष्टि से वर्गीकरण किया गया है—१० ऋग्वेद से, १९ शुक्ल यजुर्वेद से, ३२ कृष्ण यजुर्वेद से, १६ सामवेद से और ३१ अथर्ववेद से सम्बद्ध कही गई हैं। यह वर्गीकरण किसी प्राचीन परम्परा पर आधृत प्रतीत नहीं होता।[4] ये सब उपनिषदें वस्तुतः वैदिकेतर हैं। प्रायः इन्हें 'अथर्ववेद की उपनिषदें' कहा जाता है। अथर्ववेद की वेद के रूप में मान्यता परम्परा से संदिग्ध रही है। इसलिए इस प्रकार की सब अप्रामाणिक सामग्री को उससे सम्बद्ध कर देना कठिन नहीं रहा होगा। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद जादू का वेद है और इसके साथ रहस्यमयता जुड़ी हुई है और 'उपनिषद्' का भी अर्थ है 'रहस्यमय सिद्धान्त'। इसलिए भी इनका अथर्ववेद से सम्बन्ध जोड़ना सरल था।

---

१. सामान्य वेदान्त उप० p. ४१६. ff। कई पाण्डुलिपियों में इसका लेखक 'शंकर' कहा गया है। एक पाण्डुलिपि में कुछ विस्तार किया गया है और जातिभेद की आलोचना की गई है और इसका लेखक बौद्ध कवि अश्वघोष कहा गया है।

२. डूसन ने एक 'महा-उपनिषद्' का अनुवाद किया है परन्तु आकार में यह अत्यन्त लघु है। इसकी एक दक्षिण-भारतीय शाखा आकार में बहुत बड़ी है।

३. १६५६ में उपनिषदों का एक संग्रह 'उपनेखत' नाम से पर्शियन में अनूदित हुआ। उसमें ५० उपनिषदें हैं। अथर्ववेद की ५२ उपनिषदों की सूची के विषय में देखिए कोलब्रुक, *Misc. Essays* : तथा 'भण्डारकर रिपोर्ट' १८८३-८४। उपनिषदों की वर्गीकृत सूची के लिए देखिए R. E. Hume, *The Thirteen Principal Upanishads*, pp-459 ff.)

४. रामानुज ने गर्भ० उप० तथा मन्त्रिका—(चूलिका—) उप० को अथर्ववेद से सम्बद्ध के रूप में उद्धृत किया है। जब कि मुक्तिका-उप० में ये क्रमशः कृष्ण तथा शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं।

उपनिषद् शब्द 'उप-नि√षद्' से बना है, जिसका अर्थ है किसी के समीप बैठना—एवं इसका अर्थ था शिष्य का गुरु के पास गुप्त व रहस्यमय ज्ञान के लिए बैठना। इसी से इसका 'रहस्यमय सिद्धान्त' यह अर्थ विकसित हुआ।[1] भारतीय जन 'उपनिषद्' तथा 'रहस्यम्' इन शब्दों को प्रायः पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त करते हैं। उपनिषदों में भी 'इति रहस्यम्', 'इति उपनिषद्' इसी अर्थ में पुनः-पुनः प्रयुक्त हुए हैं। उपनिषदों में बहुधा यह मिलता है कि अमुक ज्ञान (सिद्धान्त) अपात्र व अयोग्य को न दिया जाए। उदाहरण के लिए यह कहा गया है[2]—"यह ब्रह्म का सिद्धान्त पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र को दे या अपने विश्वासपात्र अन्तेवासी को—और किसी को नहीं, चाहे वह कोई भी हो, चाहे उसे कोई सिन्धुओं से आवृत तथा धन से पूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी भी क्यों न दे।" उपनिषदों में अनेकत्र यह मिलता है कि शिष्य गुरु से किसी ज्ञान के लिए प्रार्थना करता है और गुरु बार-बार प्रार्थना व आग्रह करने पर वह ज्ञान देता है।[3]

उपनिषद् शब्द के मूल अर्थ के अनुसार प्राचीनतम उपनिषदों में भी परस्पर पृथक् अनेक विषयों का समावेश है; क्योंकि उपनिषद् का मुख्य अर्थ 'रहस्य' था, इसलिए ऐसा प्रत्येक सिद्धान्त, जो जन-साधारण के लिए अभिप्रेत नहीं था, कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के सीमित वर्ग को ही दिया जाता था, उपनिषद् कहलाता था—चाहे वह गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्त हो या अतिसामान्य प्रतीक या रूपक; प्रतीकात्मक यज्ञ, जिसका जादू के रूप में प्रयोग किया गया है और किसी ब्राह्मण के द्वारा वाग्जाल से उलझा दिया गया है; या कोई ऐसी बात जिसे जादू के सूत्र के रूप में प्रयुक्त किया गया है। प्राचीन उपनिषदों में गम्भीर दार्शनिक तत्त्वों के

---

१. ओल्डनबर्ग ने उपनिषद् का अर्थ 'पूजा की एक पद्धति' किया है। डूसन ने इसका खण्डन किया है। मैं डूसन से सहमत हूं। उपनिषद् शब्द पुनः-पुनः 'रहस्यम्' के पर्याय रूप में मिलता है, उपासना के पर्याय रूप में कहीं नहीं मिलता। ई० सेनार्ट ने यह सिद्ध किया है कि उपनिषदों में उप आस का अर्थ पूजा करना नहीं; इसका अर्थ है 'गम्भीर ज्ञान प्राप्त करना' या निश्चित रूप से जानना या विश्वास करना।' एम. आर. बोडास 'उपनिषद्' का अर्थ करता है—यज्ञीय अग्नि के समीप बैठना।' जे० डब्ल्यू हौर (J. W. Hauer) उपनिषद् का अर्थ करता है 'तपस् और ध्यान से प्राप्त किया गया रहस्यात्मक ज्ञान', और इसे योग-साधन से सम्बद्ध करता है, नारायण मनुस्मृति (६. २९) की व्याख्या में 'उपनिषद्' का अर्थ करता है—जिसका समीप बैठकर उच्चारण किया गया है अर्थात् ऐसा पाठ्य, जिसका तब उच्चारण किया गया जब शिष्य गुरु के समीप बैठे हैं।'

२. छान्दोग्य उप० ३. ११. ५.

३. उपनिषदों में उपनिषद् शब्द तीन अर्थों में मिलता है—(१) रहस्य के अर्थ में अर्थात् 'ओम्' अक्षर का गुप्त अर्थ; (२) —'रहस्यमय शब्द', कुछ वाक्य और सूत्र ऐसे हैं जो केवल दीक्षित शिष्य ही समझ सकते है जैसे...'तज्जलान्'—उसमें ही उत्पत्ति, लय तथा प्राणन (सांस लेना) है।" अथवा 'सत्यस्य सत्यम्' ('सत्य का सत्य' यह है)—यह उच्चतम सत्ता के निर्देश के रूप में प्रयुक्त हुआ है। (३) गुप्त ग्रन्थ अर्थात् गोपनीय सिद्धान्त, गुप्त ज्ञान।

साथ ऐसी बातें भी बहुधा दृष्टिगोचर होती हैं। विशेषरूप से तथाकथित वेद-उपनिषदों में।[1]

इसी प्रकार कौषीतकि उपनिषद् में मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक व्याख्याओं के अतिरिक्त परलोक शास्त्र का भी विस्तृत वर्णन है।[2] इसमें ऐसे यज्ञीय अनुष्ठानों के वर्णन भी हैं जिनके द्वारा विभिन्न प्राप्तियाँ होती हैं—किसी वस्तु-विशेष की प्राप्ति, प्रेम में वशीकरण मन्त्र, शिशुओं की मृत्यु से रक्षा इत्यादि। इसमें एक ऐसी 'उपनिषद्' (रहस्यमय सिद्धान्त) भी है जो शत्रुओं के विनाश के लिए जादू-टोने का काम करती है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में सृष्टि-उत्पत्ति, विश्व तथा आत्मा के विषय के गम्भीर दार्शनिक विचार हैं, परन्तु इनके साथ ही 'ओ३म्' अक्षर के विषय में रहस्यमय कल्पनाएँ भी हैं तथा रोगों के नाश के लिए रहस्यमय अनुष्ठान हैं। अथर्ववेद-उपनिषदों में एक गरुड उपनिषद् है, जो कि सर्प-विष को दूर करने के लिए जादू-टोने के रूप में है। यदि यह अथर्वसंहिता का भाग भी होती तो भी कोई अस्वाभाविक बात न होती।

जब हम 'उपनिषदों के दर्शन' के विषय में बात करते हैं तो हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि इनमें सब प्रकार की रहस्यमयी बातें और दार्शनिक सिद्धान्त सम्मिलित हैं। 'उपनिषद्-दर्शन' इस शब्द का प्रयोग बिल्कुल सीमित अर्थ में ही किया जा सकता है, क्योंकि उपनिषदों में किसी एक दार्शनिक या किसी समान सिद्धान्त वाले दार्शनिकों के विचार नहीं हैं।[3] इनमें विविध लोगों[4] के तथा विविध

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र (१. १३. १.) में गर्भाधान, पुंसवन आदि से सम्बद्ध कुछ संस्कारों को 'उपनिषद्' शब्द से अभिहित किया गया है। कात्यायन ने अपनी 'सर्वानुक्रमणिका' में ऋग्वेद (१. १९१) में उपलब्ध जादू के एक मन्त्र को उपनिषद् कहा है। कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में आग लगाना, हत्या करना, अन्धा करना इत्यादि के लिए किए गए सब प्रकार के जादू-टोनों के प्रकरण तथा कामसूत्र के ग्रन्थों में रति-क्रीड़ा तथा प्रसाधन के गुप्त नुस्खों के प्रकरण 'औपनिषदिक अध्याय' कहे गए हैं (देखिए 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' (१४) 'वात्स्यायन कामसूत्र' (७)। रामानुज ने 'पञ्चरात्र शास्त्र' को एक बृहद् उपनिषद् कहा है, (ब्रह्मसूत्र २. २. ४३)।

२. कौषीतकि उप० के इस अध्याय की तुलना जैमिनीय ब्राह्मणों में वर्णित इसके रूपान्तर से की गई है।

३. "उपनिषदों में अनेक विचारधाराओं का होना स्वाभाविक ही है क्योंकि ये भी ऋग्वेद संहिता की भाँति संग्रह ही हैं" R. G. Bhandarkar—*Vaiṣṇavism, Śaivism, etc*; p. 1. Cf. G. Thibaut, *SBE*, Vol. 34, pp. ci ff.।

४. उपनिषदों में याज्ञवल्क्य, शाण्डिल्क्य, बालाकि, श्वेतकेतु इत्यादि अनेक गुरुओं के सिद्धान्तों की चर्चा है परन्तु ये सिद्धान्त किस सीमा तक उनके हैं, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। याज्ञवल्क्य को बृहदा० उप० तथा सम्पूर्ण शुक्ल यजुर्वेद का प्रणेता कहा गया है (देखिए बृहदा० उप० ६. ५. ३, तथा याज्ञवल्क्य स्मृति ३. ११०) परन्तु बृहदा-

कालों के विचारों का संग्रह है।

इसमें संदेह नहीं कि उपनिषदों के कुछ आधारभूत सिद्धान्त भी हैं जो कि प्रामाणिक उपनिषदों में अलग से दिखाई देते हैं। हम इन्हीं सिद्धान्तों पर यहाँ विचार करना चाहते हैं। ड्यूसन ने भी इन्हीं पर विचार किया है और इनके आधार पर ही किसी सीमा तक 'उपनिषदों की व्यवस्थित विचारधारा' का वर्णन किया जा सकता है। इसलिए हमें यह नहीं समझना चाहिए कि उपनिषदों के प्रत्येक अध्याय में हमें गम्भीर ज्ञान की बातें मिलेंगी। इसी प्रकार हमें यह आशा भी नहीं रखनी चाहिए कि प्रत्येक उपनिषद् में ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के समान परिसंवाद मिलेंगे। यह वस्तुतः महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है कि उपनिषदों के प्राचीनतम तथा सुन्दरतम भागों में प्लेटो के स्तर के ही कई परिसंवाद मिलते हैं। जैसे प्लेटो के परिसंवादों में प्राचीन ग्रीस-निवासियों के जीवन तथा कार्यों का आश्चर्यजनक सजीव चित्रण है इसी प्रकार प्राचीन उपनिषदों में अनेकत्र प्राचीन राजसभाओं का वातावरण चित्रित है। उन राजसभाओं में पुरोहित तथा प्रसिद्ध परिव्राजक (जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं) एकत्र होते थे। वहाँ राजा के सम्मुख धर्मशास्त्रीय तथा दार्शनिक वाद-विवाद होते थे जिनमें राजा भी भाग लेता था और विद्वान् ब्राह्मणों को अपने ज्ञान से चकित कर देता था। इनमें प्राचीन गुरुकुलों का वर्णन भी मिलता है जहाँ सुदीर्घ यात्राएं करके परिव्राजक विद्वान् किसी प्रसिद्ध गुरु से 'ज्ञान-श्रवण' के लिए आते थे। इन गुरुओं के पास सब दिशाओं से शिष्य ऐसे आते थे जिस प्रकार "नदियाँ किसी गह्वर में गिरती हैं और मास वर्ष में समा जाते हैं।"[1] परन्तु गम्भीर दार्शनिक विचारों तथा प्लेटो के तुल्य परिसंवादों के अतिरिक्त उपनिषदों में ऐसा भाग भी बहुत है जो कि दर्शन या साहित्य की दृष्टि से निम्न स्तर का है।

उपनिषदों के आधारभूत सिद्धान्त[2]

उपनिषदों में सर्वत्र ओतप्रोत आधारभूत सिद्धान्त यह है—"यह विश्व ब्रह्म है, परन्तु ब्रह्म आत्मा है।" यदि आज की दार्शनिक शैली में इसे कहें तो यों कहेंगे—"विश्व भगवान् है और भगवान् मेरी आत्मा है।" इसे ही संक्षेप से 'उपनिषदों का दर्शन' कहा जा सकता है।

रण्यक उप० में अन्य गुरुओं की चर्चा भी है। इसके अतिरिक्त कर्मकाण्ड तथा अध्यात्मशास्त्र इन दोनों के अनेक विभिन्न सिद्धान्तों के प्रणेता के रूप में भी याज्ञवल्क्य को कहा गया है। यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि वह उन सबका प्रणेता हो। हाँ, यह बहुत संभव प्रतीत होता है कि शाण्डिल्य जिस प्रसिद्ध सिद्धान्त का प्रणेता कहा गया है, वह वस्तुतः ही उसका प्रणेता हो।

१. तैत्तिरीय उप० 1, 3.

२. इस विषय में द्रष्टव्य ग्रन्थ—A. E. Gough, *The Philosophy of the Upanishads*; P. Deussen, *The Philosophy of the Upanishads*; G. Thibout SBE.; Vol. 34, B. Barua, *A History of Pre-Buddhistic Philosophy*; R. E. Hume, *The Thirteen Principal Upaniṣads*, Introduction;

उपनिषदों के दार्शनिकों का सारा विचार दो धारणाओं को केन्द्र बना कर आवर्तित होता है—ब्रह्मन् तथा आत्मन् । उपनिषदों का दर्शन समझने के लिए इन शब्दों को भली भाँति समझ लेना अनिवार्य है । 'ब्रह्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति व निरुक्ति विवादास्पद है ।[१] 'सेंट पीटर्सबर्ग संस्कृत-कोश' में 'ब्रह्मन्' की व्याख्या है, "वह भक्ति, जो आत्मा की तीव्र कामना और पूर्णता के रूप में प्रकट होती है और देवों की प्राप्ति के प्रयत्न में रत है ।" डूसन[२] की सम्मति में, " 'ब्रह्मन्' है मनुष्य का संकल्प, जो कि पवित्र तथा दिव्य के प्रति ऊर्ध्वगमन का प्रयत्न कर रहा है ।" इन व्याख्याओं का सादृश्य यहूदियों व ईसाइयों की दिव्य सत्ता-विषयक धारणाओं से हो सकता है, परन्तु ये धारणाएँ देवताओं तथा मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों के विषय में उस भारतीय धारणा के पूर्णतया विपरीत हैं जो हमें संहिताओं और ब्राह्मणों में मिलती है । 'ब्रह्मन्' शब्द का निरुक्ति के आधार पर क्या अर्थ है, यह निश्चित नहीं है परन्तु ब्रह्मन् शब्द स्वयं वेदों में ही अनेक बार आया है और वहाँ इसका अर्थ 'प्रार्थना' या 'जादू-मन्त्र' है । वेदों में इसका संबंध भक्ति या दिव्य सत्ता के प्रति ऊपर उठने से नहीं है परन्तु सर्वत्र यह अर्थ है कि जादू, रहस्यमय जादुई शक्ति से पूर्ण सूत्र या मन्त्र जिनके द्वारा मनुष्य देवों को प्रभावित करना चाहता है और उनसे कुछ प्राप्त करना चाहता है, यहाँ तक कि उन्हें देने के लिए बाधित भी करना चाहता है । परवर्ती काल में इन प्रार्थनाओं व मन्त्रों का ग्रन्थों के रूप में संग्रह हुआ और वे तीन वेद या त्रयी विद्या (तीन प्रकार का ज्ञान) तथा संक्षेप से 'ब्रह्मन्' कहलाए । इस वेद या ब्रह्मन् को ईश्वर-कृत माना जाने लगा । यज्ञ के विषय में यह माना जाता था कि इसकी शक्ति मानवोत्तर यहाँ तक कि देवोत्तर है और यह शक्ति वेद से मिलती है या वेद में निहित है ।[3] इस प्रकार ब्रह्मन् या पवित्र ज्ञान को सबसे

S. Das Gupta, A. *History of Indian Philosophy*; S. Radhakrishnan, *Indian Philosophy* । इसके अतिरिक्त निम्न विद्वानों के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं—P. Oltramare; H. Jacobi, Oldenberg.

१. ब्रह्मन् शब्द की एच्० ओस्थॉफ द्वारा दी गई निरुक्ति सर्वाधिक बुद्धिसंगत होती है । वह ब्रह्मन् शब्द का संबंध प्राचीन आयरिश ब्रिचत् (Bricht)—'जादू, जादू मन्त्र' से स्थापित करता है । ओल्डनबर्ग और हिलब्रान्ड् इस निरुक्ति से सहमत हैं । इसकी प्राचीनतर निरुक्ति 'बृह्' 'बढ़ना' (M. Haug) है । हिलब्राण्ड् तथा दासगुप्त ब्रह्मन् की व्याख्या में हाग से सहमत हैं—"वह जादुई शक्ति जो सूक्तों, स्तोत्रों तथा दक्षिणा के सम्यक् संयोजन से प्राप्त होती है ।" जे० हर्टेल ब्रह्मन् का संबंध ग्रीक Phlegma, तथा लैटिन के flagro से स्थापित करता है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि ब्रह्मन् शब्द का मूल अर्थ था 'अग्नि'—दो अग्नियाँ —मनुष्य में आन्तरिक अग्नि तथा विश्व में व्याप्त अग्नि । हर्टेल की युक्तियाँ मुझे तर्कसंगत नहीं लगीं ।

२. *System des Vedānta*, p. 128 ।

३. शत० ५.५.५.१०—"सम्पूर्ण यज्ञ त्रयीविद्या के समान बृहत् है ।" छान्दोग्य उप० ७४१ के अनुसार मन्त्रों (वेदों) का विषय याज्ञिक कर्म हैं ।

पूर्व उत्पन्न (ब्रह्म प्रथमजम्) कहा जाने लगा और अन्त में इसे सारी सृष्टि का कारण तथा स्वयंजात (ब्रह्म स्वयंभु) कहा जाने लगा। इस प्रकार एक दिव्य सत्ता के रूप में, ब्रह्म पुरोहित-दर्शन में विकसित हुआ और इसकी व्याख्या, प्रार्थना तथा यज्ञ के विषय में ब्राह्मणों के दृष्टिकोण के प्रकाश में बुद्धिसंगत प्रतीत होती है।[१]

'आत्मन्' शब्द का इतिहास सीधा-सादा है। इस शब्द की निरुक्ति भी निश्चित है। कुछ विद्वान् इसमें अन् 'साँस लेना' धातु (जर्मन 'Atman') मानते हैं और इसकी व्याख्या करते हैं 'निःश्वास, श्वास, आत्मा, आत्मभाव'। डूसन[२] आदि विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति दो धातुओं से करते हैं। तब इसका मूल अर्थ होगा 'यह मैं'। कोई भी व्युत्पत्ति की जाए, आत्मन् केवल दार्शनिक शब्द ही नहीं है। यह संस्कृत भाषा का बहुप्रचलित शब्द है और इसका अर्थ पूर्ण रूप से स्पष्ट है। इसका भाव है 'आत्म भाव' और यह प्रायः निजवाचक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। संज्ञा के रूप में यह मनुष्य के अपने व्यक्तिगत रूप के लिए, बाह्य संसार की तुलना में अपने शरीर के लिए और कभी-कभी अंगों की तुलना में धड़ के लिए, परन्तु अधिकांशतः शरीर की तुलना में 'आत्मा' अथवा वास्तविक 'अन्तःसत्ता' के लिए प्रयुक्त होता है।[3]

उपनिषदों के दर्शन में ब्रह्मन् तथा आत्मन् शब्द पर्यायवाची अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। शाण्डिल्य का प्रसिद्ध सिद्धान्त इन शब्दों से प्रारम्भ होता है—"वास्तव में यह सब-कुछ ब्रह्म है", तथा आत्मा का वर्णन करके अन्त में कहा है कि ब्रह्म और आत्मा अभिन्न हैं—

> "मेरे अन्तर हृदय में मेरी यह आत्मा धान से, यव से, सरसों से या शामाक तण्डुल से भी अणुतर है; मेरे अन्तर हृदय में यह मेरी आत्मा पृथिवी से बड़ी है, अन्तरिक्ष से बड़ी है, द्युलोक से बड़ी है, इन लोकों से बड़ी है। यह आत्मा सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस है; इन सबमें व्याप्त है, वाक्-रहित है। किसी बात में उद्विग्न होने वाली नहीं है। यह मेरी आत्मा

---

१. वेबर ने 'ब्रह्मन्' की तुलना नियो-प्लेटोनिज्म तथा ईसाई धर्म के शब्द तत्त्व (logos) के विचार के साथ की है। डूसन ब्रह्मन् को शॉपेनहार के संकल्प (Will) के समान सिद्ध करने का प्रयत्न करता है; परन्तु हेकर (Hecker) कहता है कि यह ब्रह्मन् की धारणा के साथ कुछ ज्यादती है, अधिक न्यायसङ्गत तुलना मेलनेशियनों के 'मन' (Mana)—दैवी शक्ति के साथ होगी। N. Soderblom ने अपने ग्रन्थ में इस पर बल दिया है।

२. AGPH. 1, 1, p. 285।

३. आत्मन् शब्द पर विस्तृत विचार के लिए देखिए, Deussen, ERE, 11 195 ff.; Jacobi, ERE, 11, 801; तथा Dāsgupta, *History of Indian Philosophy*, 1, 25 f.। शॉपेनहार ने अपने कुत्ते का नाम 'आत्मन्' रखा था। इसका आधार वेदान्त-दर्शन की अद्वैत भावना था कि 'मनुष्य और पशु में एक ही आत्मा है।'

मेरे अन्तर हृदय में ब्रह्म है। जब मैं इस संसार से जाऊँगा तब मैं उससे एकरूप हो जाऊँगा। जिसे यह ज्ञान हो गया है, उसके लिए कोई भी विचिकित्सा शेष नहीं है। इस प्रकार शांडिल्य ने कहा है, शाण्डिल्य ने कहा है।[1]"

डूसन ने उपनिषदों के इस आधारभूत सिद्धान्त को संक्षेप से इस प्रकार रखा है—"ब्रह्म वह शक्ति है जो कि संसार की प्रत्येक वस्तु के रूप में परिणत हुई-हुई है। यह शक्ति संसार का सर्जन, धारण और रक्षण करती है और यही शक्ति सब लोकों का अपने अन्दर प्रत्याहार भी कर लेती है। यह शाश्वत अनन्त दिव्य शक्ति आत्मा से अभिन्न (अद्वैत रूप) है। सब बाह्य वस्तुओं का निराकरण करके हम अपने वास्तविक स्वरूप का, अपने वास्तविक व्यक्तित्व का, आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं।[2] उपनिषदों के 'तत् त्वम् असि' (वह तू है) में यह सिद्धान्त अत्यन्त निश्चित व स्पष्ट रूप में कथित है। परवर्ती काल में यह करोड़ों भारतीयों के जीवन का आधारभूत दर्शन बन गया। शॉपेनहार ने अपने ग्रन्थों में पुनः-पुनः इस वाक्य को उद्धृत किया है। 'तत्त्वमसि' की व्याख्या है कि "विश्व और ब्रह्म वह तू स्वयं है।" दूसरे शब्दों में—"संसार की सत्ता वहीं तक है जहाँ तक कि तू इस का अनुभव करता है (जो कुछ है तेरी चेतना में ही है)।" उपनिषदों के कवि-दार्शनिकों ने विश्व का ब्रह्म के साथ तथा ब्रह्म का आत्मा के साथ अद्वैत के इस सिद्धान्त को स्थान-स्थान पर अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है[3]—

"श्वेतकेतु आरुणि का पुत्र था। उसे पिता ने कहा कि तू किसी गुरु के पास वेदाध्यायी शिष्य बन कर निवास कर, क्योंकि हे सोम्य (प्रिय), हमारे कुल में यह प्रथा नहीं है कि कोई केवल नाम का ही ब्राह्मण हो; वेदाध्ययन न करे। इस प्रकार १२ वर्ष की आयु में वह शिष्य के रूप में दीक्षित हुआ और जब वह २४ वर्ष का हो गया तो वह घर लौटा। उसे बहुत अभिमान हो गया था; वह अपने को बहुत बड़ा विचारक समझता था और यह समझता था कि मैं बड़ा विद्वान् प्रवचनकर्त्ता हूँ। तब उसके पिता ने उससे कहा कि—'हे सोम्य, तू अपने को बहुत बड़ा विचारक समझता है। तू बड़ा अभिमानी व अविनीत है और अपने को महान् विद्वान् प्रवचन कर्ता समझता है। तू यह बता कि क्या तूने उस सिद्धान्त की जिज्ञासा की है जिससे अश्रुत श्रुत, अमत मत तथा अविज्ञात विज्ञात हो जाता है?' 'भगवन् उस सिद्धान्त का क्या स्वरूप है?' 'हे सोम्य, जैसे एक मृत-पिण्ड से सब मृण्मय वस्तु-समूह विज्ञात हो जाता है, अन्तर केवल शब्द में है, वह केवल एक नाम है परन्तु सत्य तो 'मृत्तिका' ही है—तथा जैसे हे सोम्य, एक लोहमणि (स्वर्ण-पिण्ड)

१. छान्दोग्य उप० ३. १४.

२. Deussen, *The Philosophy of the Upaniṣads*, p. 39.

३. छान्दोग्य उप० ६. १.

के द्वारा सब स्वर्णनिर्मित वस्तुसमूह ज्ञात हो जाता है, अन्तर केवल शब्द में है; वह केवल एक नाम है परन्तु सत्य तो स्वर्ण है—और जैसे हे सोम्य, एक नख-कृन्तन (नहन्ना) से लोह-निर्मित सब वस्तु-समूह जाना जाता है, अन्तर तो केवल शब्द में है, वह केवल एक नाम है परन्तु सत्य तो लोहा ही है—हे सोम्य, इसी प्रकार वह सिद्धान्त है, 'निश्चय ही मेरे सम्मान्य अध्यापक इस सिद्धान्त को नहीं जानते थे, क्योंकि यदि वे जानते होते तो मुझे क्यों नहीं बताते ? तो भगवन्, आप ही मुझे इसका ज्ञान दीजिए !' 'ऐसा ही होगा, हे सोम्य' उसके पिता ने कहा ।

'हे सोम्य, प्रारम्भ में केवल 'सत्' ही था, यह एकमात्र अद्वितीय था । कुछ विद्वान् कहते हैं, प्रारम्भ में केवल 'असत्' था और यह एकमात्र अद्वितीय था । उस असत् से सत् उद्‌भूत हुआ । परन्तु हे सोम्य, ऐसा कैसे हो सकता है ? असत् से सत् कैसे उद्‌भूत हो सकता है, हे सोम्य प्रारम्भ में एकमात्र अद्वितीय यह सत् ही था' (इसके अनन्तर वह यह वर्णन करता है कि कैसे 'इस सत् ने तेजस् को उत्पन्न किया, तेजस् ने जल को और जल ने अन्न को; और किस प्रकार 'सत्' ने तीन तत्त्वों में व्याप्त होकर अपने में से इस भौतिक संसार को विकसित किया—निद्रा, बुभुक्षा और पिपासा ।' इसके अनन्तर वह उसकी व्याख्या करता है कि किस प्रकार 'प्रत्येक वस्तु तीन तत्त्वों—तेजस्, जल और अन्न—में समाहित हो जाती है अथवा हम कह सकते हैं अग्नि, जल और पृथ्वी ये तीनों तत्त्व 'सत्' पर आश्रित हैं, क्योंकि यह सत् अपनी आत्मा के साथ सब भूतों में व्याप्त है, इसलिए यह हम में भी आत्मा है, अतः जब किसी मनुष्य की मृत्यु होती है, वह फिर वही हो जाता है जो मूल रूप में था । वह पुनः 'सत्' के साथ एकरूप हो जाता है जिससे वह उत्पन्न हुआ था ।' इसके अनन्तर कई उपमाओं के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि 'यह संसार एकमात्र 'सत्' और मानव आत्मा के साथ अद्वैत रूप में है ।') 'हे सोम्य, जिस प्रकार मधुमक्षिकाएँ मधु बनाती हैं और नाना दिशाओं से वृक्षों के रस को एकत्र करती हैं और उनको एक बनाकर एक रस तैयार करती हैं, उस समय उस रस (मधु) में यह अन्तर नहीं रहता कि मैं अमुक वृक्ष का रस हूँ; मैं अमुक वृक्ष का रस हूँ । इसी प्रकार हे सोम्य, जब सब प्रजाएँ 'सत्' में एकरूप हो जाती हैं तब उन्हें यह ज्ञान नहीं रहता कि हम 'सत्' से एकरूप हो गई हैं । इस संसार में वह कुछ भी रही हो, व्याघ्र या सिंह, वृक या वराह, कीट या पतंग, दंश या मशक, वह 'यह' (अर्थात् सत्) हो जाती है । वह यह जो अणिमा है, सब-कुछ तद्‌रूप है । वह 'सत्' है, वह आत्मा है । हे श्वेतकेतु, 'तू वह है' (तत्त्वमसि) । 'हे भगवन्, मुझे और समझाइये' । 'बहुत अच्छा, हे सोम्य...।' 'यह सम्मुख जो न्यग्रोध वृक्ष है उससे एक फल ले आ' । 'भगवन् यह' । 'इसे

फोड़ दे'। 'भगवन् फोड़ दिया'। 'इसमें तू क्या देखता है ?' 'मैं छोटे-छोटे दाने देखता हूँ'। 'इनमें से एक को फोड़ दे'। 'फोड़ दिया'। 'तू इसमें क्या देखता है[1] 'भगवन्, कुछ नहीं'। तदनन्तर पिता ने उसे कहा—'हे सोम्य, तू इस अणिमा को नहीं देख पाता। इस अणिमा का ही यह इतना महान् न्यग्रोध खड़ा है। हे सोम्य, मेरे वचन पर श्रद्धा कर। वह जो यह अणिमा है तद्रूप ही यह सब है, वह 'सत्' है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु, वह तू है' 'भगवन्, मुझे और समझाइए !' 'बहुत अच्छा हे सोम्य।'

'यह नमक का टुकड़ा जल में डाल कर फिर कल प्रातःकाल मेरे पास आना।' उसने उसी प्रकार किया। तब उसके पिता ने उसे कहा—'मुझे वह नमक का टुकड़ा दे जो कल रात तूने जल में डाला था'। उसने जल में ढूंढा परन्तु उसे नहीं मिला। 'क्योंकि वह जल में विलीन हो गया है, इसलिए इस जल का एक पार्श्व से आचमन कर, इसका कैसा स्वाद है ?[1]' 'नमकीन'। 'इस जल का दूसरे पार्श्व से आचमन कर, इसका कैसा स्वाद है ?' 'नमकीन'। इसका मध्य में से आचमन कर, इसका कैसा स्वाद है, 'नमकीन'। इसका दूसरे पार्श्व से आचमन कर इसका कैसा स्वाद है ?' 'नमकीन'। 'अब इस जल को फेंक कर मेरे पास आओ।' उसने उसी प्रकार किया और कहा—'इस जल में नमक शाश्वत है।' उसको पिता ने कहा—'हे सोम्य यहाँ (इस शरीर में) तू सत् को नहीं देख पाता परन्तु यह यहाँ विद्यमान है, वह जो यह अणिमा है तद्रूप ही यह सब-कुछ है। वह सत् है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु, वह तू है।"

भारत के इन प्राचीन विचारकों के प्रति हमारे मन में अत्यधिक आदर का भाव उत्पन्न होता है जब हम देखते हैं कि दिव्य सत्ता की गहराई की थाह लेने के लिए उन्होंने कितनी ईमानदारी और उत्साह से प्रयत्न किया। जर्मन विद्वान् काण्ट ने जिस सत्ता को 'स्व-रूप वस्तु' कहा, उपनिषद् के ऋषियों ने उसे 'एक' (अद्वैत) या सत्, ब्रह्मन् या आत्मन् कहा। इस प्रसङ्ग में गार्ग्य बालाकि और अजातशत्रु का संवाद महत्त्वपूर्ण है।[1] गार्ग्य बालाकि अपने ज्ञान का अभिमान करने वाला तथा विद्या में पारङ्गत एक ब्राह्मण था। वह वाराणसी के राजा अजातशत्रु के पास आया और बोला कि मैं तुम्हारे सामने ब्रह्म का स्वरूप प्रकट करूँगा। उसने पुरुष के विषय में अनेक प्रकार से कथन किया—आदित्य में, चन्द्र में, विद्युत् में, आकाश में वायु में, अग्नि में, जल में, छाया में, पुरुष में, प्रतिध्वनि में, शब्द में, स्वप्न में, मानव-शरीर में या अक्षि में पुरुष की ब्रह्मन् के रूप में सत्ता प्रतिपादित की। अजातशत्रु उसकी किसी भी व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हुआ और अन्त में उस विद्वान् ब्राह्मण ने राजा से कहा कि—'आप ही मुझे शिक्षा दीजिए।' अजातशत्रु ने यह व्याख्या की—कि

१. यह संवाद दो स्थानों (कौषीतकि उप० ४, तथा बृहदारण्यक उप०. २. १.) पर मिलता है। दोनों वर्णनों में कुछ अन्तर है।

ब्रह्म की खोज 'विज्ञानमय पुरुष' अर्थात् आत्मा में ही करनी चाहिए—"जिस प्रकार एक मकड़ी अपने अन्दर से ही अपना जाल बुनती है, जिस प्रकार अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ सब दिशाओं में उड़ती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण, सब लोग, सब देव तथा सब भूत उद्भूत होते हैं।

इसी प्रकार एक प्रसिद्ध उपनिषद्-सन्दर्भ में सत्य तथा मिथ्या आत्मा में अन्तर दिखाया गया है—

"वह आत्मा जिसके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जो अजर है, मृत्यु-रहित है, शोक-रहित है, भूख और प्यास से रहित है, सत्यकाम और सत्य-संकल्प है, उसका ही अन्वेषण करना चाहिए, उसकी ही गम्भीर जिज्ञासा करनी चाहिए। जो उस आत्मा को पूर्ण गवेषणा करके भली भाँति जानता है, वह सब लोकों को प्राप्त करता है और उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं"—इस प्रकार प्रजापति ने कहा। इस बात को देवों तथा असुरों दोनों ने सुना और उन्होंने कहा—'ठीक है, हम उस आत्मा का अन्वेषण करेंगे जिस आत्मा का अन्वेषण करके कोई व्यक्ति सब लोकों को प्राप्त होता है तथा उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं।' देवों में से इन्द्र और असुरों में से विरोचन; दोनों समित्-पाणि होकर प्रजापति के पास गए। उनका परस्पर कोई भी वार्त्तालाप नहीं हुआ था।[1] उन दोनों ने प्रजापति के पास ३२ वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। प्रजापति ने उन्हें कहा—'यहाँ शिष्यों के रूप में रह कर आप किस इच्छा की पूर्त्ति करना चाहते हैं?' उन्होंने कहा—'वह आत्मा जिसके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जो अजर है, मृत्यु-रहित है, शोक-रहित है, भूख और प्यास से रहित है, सत्यकाम है, और सत्य-संकल्प है, उसका ही अन्वेषण करना चाहिए, उसी की ही गम्भीर जिज्ञासा करनी चाहिए। जो उस आत्मा को पूर्ण गवेषणा करके भली भाँति जानता है वह सब लोकों को प्राप्त करता है, और उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं; हे भगवन्, हमने सुना है, ऐसा आपका कथन है। उस आत्मा को जानने के लिए हम आपके पास शिष्यों के रूप में रह रहे हैं।' (इसके बाद प्रजापति ने उनके सम्मुख व्याख्या की, कि अक्षि या छायापुरुष में प्रतिबिम्बित पुरुष आत्मन् है। विरोचन इस व्याख्या से सन्तुष्ट हो गया और असुरों के पास लौट गया और उन्हें यह सिद्धान्त बताया कि शरीर आत्मा है और हमें यह चाहिए कि शरीर को तृप्त करें और उसकी देखभाल करें। इससे हम सब लोकों को प्राप्त कर लेंगे। परन्तु इन्द्र को यह बात शीघ्र ही समझ में आ गई कि प्रजापति ने जो व्याख्या की है, उसका वास्तव में यह तात्पर्य नहीं है। इसलिए इस उत्तर से उसकी सन्तुष्टि नहीं हुई और वह फिर लौट आया और प्रजापति का शिष्य बनकर उसके पास ३२ वर्ष रहा। तब प्रजापति ने उससे

१. शिष्य को गुरु के यहाँ अन्तेवासी बनकर उसकी सेवा करनी होती थी और विशेषरूप से पवित्र अग्नि की देखभाल करनी होती थी। 'समित्पाणि' होकर आने का तात्पर्य है कि किसी के पास शिष्य बनकर शिक्षा-प्राप्ति के लिए जाना।

कहा—"जो यह स्वप्न में अनेकविध भोगों का अनुभव करता हुआ विचरण करता है[1], वह आत्मा है, वह अमृत और अभय है; वही ब्रह्म है।" यह सुनकर इन्द्र शान्त-हृदय होकर वहाँ से चला गया। (परन्तु देवों के पास पहुँचने से पहले ही उसकी समझ में यह बात आ गई कि स्वप्न में देखा गया दृश्य सच्ची आत्मा नहीं हो सकता। वह पुनः प्रजापति के पास लौटा और उसके पास शिष्य के रूप में ३२ वर्ष रहा। तब प्रजापति ने उससे कहा कि स्वप्न-रहित निद्रा (सुषुप्ति) में जो आत्मा है वही सच्ची आत्मा है। इन्द्र इस उत्तर से भी सन्तुष्ट नहीं हुआ और फिर लौटा। प्रजापति ने उसे अपने पास और ५ साल रहने के लिए कहा और अन्त में सच्ची आत्मा का सिद्धान्त उसे बताया—) 'हे इन्द्र, शरीर मर्त्य है, यह मृत्यु के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है, यह उस अमृत व शरीर-रहित आत्मा का अधिष्ठान है। शरीर से युक्त आत्मा प्रिय और अप्रिय से ग्रस्त रहता है। जब तक यह सशरीर है, इसके प्रिय और अप्रिय का अभाव नहीं होता। जब यह अशरीर हो जाता है तब इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते···जब यह आकाश चक्षु में अनुगत होता है तब वह चाक्षुष पुरुष कहलाता है। उसकी रूपोपलब्धि करने के लिए चक्षु करण हैं। जो इस प्रकार जानता है कि मैं इसे सूंघूं, वह आत्मा है। उसके गन्ध-ज्ञान के लिए घ्राण है। तथा जो इस प्रकार जानता है कि मैं ये वचन उच्चारण करूँ, वह आत्मा है। शब्दोच्चारण की क्रिया की सिद्धि के लिए वाग्-इन्द्रिय करण है। तथा जो यह जानता है कि मैं यह श्रवण करूँ, वह आत्मा है, उसके श्रवण के लिए श्रोत्र इन्द्रिय है; तथा जो इस प्रकार जानता है कि मैं मनन करूँ, वह आत्मा है, उसके मनन करने के लिए मन दिव्य चक्षु है। वह इस दिव्य चक्षु रूप मन से उन सब कामों (भोग्य पदार्थों) को देखता हुआ रमण करता है। जो ये ब्रह्मलोक में देव हैं, वे इसी आत्मा की उपासना करते हैं; इसलिए उन्हें सब लोक तथा सब काम प्राप्त हैं। वह सब लोकों और सब कामों को प्राप्त कर लेता है जो इस आत्मा को, आचार्य के उपदेश से जान कर, सम्यक्तया जान लेता है।' इस प्रकार प्रजापति ने कहा, प्रजापति ने कहा।"[2]

इस प्रकार यहाँ पुनः वास्तविक आत्मा का, मनुष्य में जानने वाली तथा बुद्धि से युक्त शक्ति के रूप में वर्णन किया गया है—परन्तु यह सिद्धान्त कि 'यह

---

१. जिस प्रकार उपनिषदों में आत्मा के विचार के विकास में यह दिखाया गया है कि पुरुष अक्षि में, प्रतिबिंब में, छाया में, तथा स्वप्न दृश्यों में है, इसके साथ प्रायः प्राण की चर्चा भी की गई है इसी प्रकार आदिम जातियों में यह विश्वास मिलता है कि प्राण आंखों में 'अणु रूप से निवासी' है और वह प्रतिबिंब में, छाया में तथा स्वप्न-देशों में है वहाँ भी 'आत्मा के विश्वास' के ये प्रारम्भिक चरण हैं (Cf. E. B. Tylor, *Primitive Culture* ff. Fritz. Schultze, *Psychologie der Naturvolker*, Leipzig, 1900, pp. 254 ff.।

२. छान्दोग्य उप० ८, ७-१२.

आत्मा इस सम्पूर्ण विश्व से अभिन्न है और किसी भी वस्तु की सत्ता तभी तक और वहीं तक है जहाँ तक वह आत्मा के ज्ञान का विषय है'—याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी के अत्यन्त सुन्दर संवाद में वर्णित है। याज्ञवल्क्य वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिए गृह-त्याग करने को हैं। इसलिए वह अपनी दोनों पत्नियों में सम्पत्ति का बँटवारा करना चाहते हैं और मैत्रेयी को इस विषय में कहते हैं। मैत्रेयी कहती है—

"'हे भगवन्, यदि यह वित्त से पूर्ण सारी पृथिवी मुझे मिल जाए, तो क्या मैं अमृत (अमर) हो जाऊँगी ?'

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'नहीं, अन्य धनवानों का जैसा जीवन व्यतीत होता है, वैसा ही तेरा होगा; वित्त से अमृतत्व की कोई आशा नहीं।'

तब मैत्रेयी ने कहा—'जिससे मैं अमृत नहीं हूँगी, उसे लेकर मैं क्या करूँ ? भगवन्, आप जिस अमृत के विषय में जानते हैं उसका मुझे उपदेश दीजिए।'

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'तूने, जो सचमुच मुझे प्रिय है, ऐसे प्रिय वचन कहे हैं। आ, मेरे पास बैठ, मैं तेरे सम्मुख व्याख्या करूँगा, और जो मैं कहूँ, उसे पूर्ण मनोनिधान से सुन !'

और उसने कहा—'यह निस्सन्देह तथ्य है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, आत्मा के प्रयोजन के लिए ही पति प्रिय होता है...

'जाया के प्रयोजन के लिए जाया प्रिय नहीं होती परन्तु आत्मा के प्रयोजन के लिए जाया प्रिय होती है...

'पुत्रों के प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते परन्तु आत्मा के प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय होते हैं...

'देवों के प्रयोजन के लिए देव प्रिय नहीं होते, आत्मा के प्रयोजन के लिए देव प्रिय होते हैं...

'भूतों (प्राणियों) के प्रयोजन के लिए भूत प्रिय नहीं होते, परन्तु आत्मा के प्रयोजन के लिए भूत प्रिय होते हैं...

'सब कुछ' के प्रयोजन के लिए सब कुछ प्रिय नहीं होता, परन्तु आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रिय होता है।'

'इसलिए सर्वतोभावेन आत्मा ही द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, निदिध्या-सितव्य है। आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से प्रत्येक वस्तु विदित हो जाती है।"[1]

उपनिषदों में आत्मा के अभिधान के रूप में बहुत्र 'प्राण' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्राण का वर्णन अनेक संदर्भों में है। इसे विज्ञानमय पुरुष से अभिन्न कहा गया है। प्राण शब्द का बहुवचन में भी प्रयोग हुआ है और इनका इन्द्रियों से सम्बन्ध बताया गया है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों—वाणी, श्वास, दृष्टि, श्रवण तथा

१. बृहदारण्यक उप०, २. ४.

विचारेन्द्रिय (मन)—का सम्बन्ध प्रकृति की पञ्च शक्तियों—अग्नि, वायु, सूर्य, दिशाओं तथा चन्द्र—से स्थापित किया गया है। किसी सीमा तक यह मनोविज्ञान का विषय है, पर इसे उपनिषदों की अध्यात्म-विद्या से अलग नहीं किया जा सकता है। इन प्राणों की परस्पर प्रतियोगिता की कथा प्रसिद्ध है कि 'हममें कौन बड़ा है।' वे पिता प्रजापति के पास गए कि वह अपना निर्णय दे।

"प्रजापति ने उन्हें कहा—'तुममें से एक-एक शरीर को छोड़कर जाओ। जिसके जाने पर शरीर की दशा बहुत खराब हो जाए, वह तुममें उत्तम है।'

८—वाणी शरीर को छोड़कर चली गई। एक संवत्सर बाहर रहकर लौटी और कहा—'किस प्रकार तुम मेरे बिना जीने में समर्थ रहे ?'

'जैसे मूक व्यक्ति जो बोलते नहीं हैं, परन्तु नासिका से साँस लेते हैं, आँख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, मन से सोचते हैं—इस प्रकार।' यों कहकर वाणी शरीर में प्रविष्ट हो गई।

६—आँख चली गई। एक संवत्सर बाहर रहकर लौटी और कहा—'किस प्रकार तुम मेरे बिना जीने में समर्थ रहे ?'

'जिस प्रकार अन्धे मनुष्य देखते नहीं हैं परन्तु नासिका से साँस लेते हैं, वाणी से बोलते हैं, कान से सुनते हैं, मन से सोचते हैं—इस प्रकार।' ऐसा कहकर आँख शरीर में प्रविष्ट हो गई।

१०. तब श्रोत्र शरीर को छोड़कर चला गया। एक संवत्सर बाहर रह कर लौटा, और कहा—'किस प्रकार तुम मेरे बिना जीने में समर्थ रहे ?'

'जैसे बधिर व्यक्ति सुनते नहीं हैं, परन्तु नासिका से साँस लेते हैं, आँख से देखते हैं, वाणी से बोलते हैं और मन से सोचते हैं—इस प्रकार।' ऐसा बोलकर श्रोत्र शरीर में प्रविष्ट हो गया।

११. मन छोड़कर चला गया। एक संवत्सर बाहर रहकर लौटा, और कहा—'किस प्रकार तुम मेरे बिना जीने में समर्थ रहे ?'

'जैसे मूढ़ अविद्वान् जन होते हैं, परन्तु नासिका से साँस लेते हैं, आँख से देखते हैं, वाणी से बोलते हैं, कान से सुनते हैं—इस प्रकार।' ऐसा कहकर मन भी शरीर में प्रविष्ट हो गया।

१२. अब जब प्राण जाने को उद्यत हुआ जैसे कि सिन्धु देश का एक महाकार अश्व पाद-बन्धन शंकुओं को उखाड़ दे, ऐसे ही इसने अन्य प्राणों को अपने स्थान से बिल्कुल विचलित कर दिया। वे बोले—'भगवन्, यहीं रहिए। आप हम सबमें उत्तम हैं—मत जाइए।'

१३. वस्तुतः वाणी, आँखें तथा श्रोत्र इस प्रकार नहीं कहे जाते हैं। प्राण (प्राणाः) इस प्रकार ही कहा जाता है। ये सब प्राण ही हैं।"[1]

---

१. छान्दोग्य उप० ५. १; बृहदा० ६. १. ७-१४.

प्राण तथा प्राणों का सिद्धान्त आत्मा के आधारभूत सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध है। जीवात्मा की सम्पदाओं के विषय में उपनिषदों में अत्यन्त सुन्दर दार्शनिक काव्य मिलता है। उसकी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के वर्णन मिलते हैं, मृत्यु तथा परलोक-गमन के वर्णन हैं तथा अन्त में मुक्ति, अर्थात् ब्रह्म में पूर्ण लय के वर्णन हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ३-४) में आत्मा की सम्पदाओं (ज्योतियों) का चित्र खींचा गया है। इस विषय में डूसन का कथन है (और यह कथन बिल्कुल उपयुक्त है) कि "यह चित्र अभिव्यक्ति की समृद्धता और ऊष्मा में भारतीय साहित्य में तथा सम्भवतः विश्व-साहित्य में अद्वितीय है।"[१] यहाँ हमें पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी मिलता है और कर्म के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन है। कर्म के फल का नियम अखण्डनीय है। परवर्ती काल में विशेष रूप से बौद्ध धर्म में यह सिद्धान्त गली-गली में प्रचारित होने लगा, परन्तु उपनिषदों में यह अभी महान् रहस्य के रूप में ही वर्णित है। आर्तभाग याज्ञवल्क्य से पूछता है—

"उसने कहा—'हे, याज्ञवल्क्य, जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तब उसकी वाणी अग्नि में प्रविष्ट हो जाती है, प्राण वात में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्र में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, आत्मा आकाश में, लोभ ओषधियों में, केश वनस्पतियों में, लोहित और रेतस् जलों में लीन हो जाता है; उस समय यह पुरुष कहाँ होता है ?' याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे प्रिय, हाथ मिलाओ, हम दोनों एकान्त में इस पर विचार करेंगे। इस पर हमें सबके सम्मुख विचार नहीं करना चाहिए।' वहाँ से उठ कर वे एकान्त में चले गए और उन्होंने जो चर्चा की, कर्म की ही चर्चा की; उन्होंने जो प्रशंसा की, कर्म की ही प्रशंसा की। पुण्य कर्म से पुण्यात्मा, और पाप कर्म से पापी होता है।"[२]

इसके अनन्तर बृह० उप० (४. ४. २-५) में इस सिद्धान्त पर विस्तार किया गया है और आत्मा द्वारा शरीर को छोड़ने का विशद वर्णन किया गया है। वहाँ कहा गया है—

"इस हृदय का अग्र बिन्दु प्रदीप्त होने लगा है और उस दीप्ति के द्वारा आत्मा निष्क्रान्त होता है—आँख से, मूर्धा से या शरीर के अन्य भागों से। और जब वह उत्क्रान्त हो रहा होता है, प्राण भी उत्क्रान्त होता है। प्राण के पीछे-पीछे सब प्राण उत्क्रान्त होते हैं परन्तु यह आत्मा सविज्ञान है। सविज्ञान ही यह उत्क्रान्त होता है। पूर्वजन्म के विद्या तथा कर्म और अनुभव उसके साथ संयुक्त रहते हैं। जिस प्रकार जोंक (जलूका) एक घास दल के अन्त में पहुँच कर दूसरे घास पर जाने के लिए अपना उपसंहरण करती है, इसी प्रकार यह आत्मा, जब इस शरीर को छोड़ देती है

१. Sechzig, *Upaniṣads*, p. 463.

२. बृह० उप० ३. २. १३.

और अविद्या से मुक्ति पा लेती है और अन्य शरीर में संक्रमण करने लगती है तो वह अन्य शरीर के प्रति अपना उपसंहरण करती है। जिस प्रकार एक कसीदा काढ़नेवाली स्त्री कसीदे के एक छोटे-से हिस्से को उधेड़ देती है और उसमें से दूसरा बिल्कुल नया और ज्यादा सुन्दर आकार बनाती है उसी प्रकार यह मनुष्य अपने शरीर को छोड़ देता है तथा अविद्या से अपने को मुक्त कर लेता है और फिर अपने लिए बिल्कुल नया और अधिक सुन्दर आकार बनाता है अपने किसी पूर्वज का या गन्धर्व का या किसी देव का, या प्रजापति का या ब्रह्मन् का, या अन्य प्राणियों का। जिस प्रकार उसने कर्म किये हैं, जैसा उसने जीवन व्यतीत किया है उसीके अनुसार वह आगे बनता है। जिसने पुण्य किया है वह पुनः पुण्यात्मा के रूप में जन्म लेता है और जिसने पाप किया है, पापी के रूप में जन्म लेता है। पुण्यकर्म से पुण्यात्मा और पापकर्म से पापी बनता है। अतः यह कहा गया है—"यह पुरुष काममय है। जैसा उसका काम (राग) होता है, वैसा संकल्प होता है; जैसा संकल्प होता है, वैसा कर्म करता है; जैसा कर्म करता है, वैसा उसका भाग्य बनता है।"[1]

कर्म-सिद्धान्त के परिणामस्वरूप उपनिषदों में ब्राह्मण-ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक नैतिक सिद्धान्तों की चर्चा है तथापि यह तथ्य विशेष रूप से अवधेय है कि उपनिषदों का आत्म-सिद्धान्त स्वयमेव हमें विश्व-प्रेम की ओर प्रेरित करता है। वस्तुतः हम प्रत्येक प्राणी में उस विश्वव्यापी आत्मा से ही प्रेम करते हैं।[2] इसलिए उपनिषदों में पृथक् रूप से नैतिक शिक्षा देने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। कहीं-कहीं नैतिक उपदेश मिल जाते हैं—उदाहरणार्थ—तैत्तिरीय उपनिषद् (१. ११) में गुरु शिक्षा समाप्त करके जीवन-यात्रा के लिए प्रस्तुत शिष्य को निम्न दीक्षान्त-भाषण देता है—

"सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय (वेद-अध्ययन) में प्रमाद न करना, आचार्य के लिए प्रिय धन का आहरण करके तदनन्तर गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करना, जिससे कि प्रजा-तन्तु का व्यवच्छेद न हो...देवकार्यों तथा पितृ-कार्यों में प्रमाद न करना, माता को देव मानना, पिता को देव मानना, आचार्य को देव मानना, अतिथि को देव मानना।" इत्यादि।

बृहदारण्यक उप० (५. २) में एक संदर्भ है जो इससे अधिक आकर्षक है। उसमें उपनिषत्त्व अधिक है, कोरा आचारोपदेश नहीं है—"देव, मनुष्य तथा असुर—तीनों प्रजापति के पुत्र हैं। उन्होंने पिता प्रजापति के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया।

१. बृह० उप० ४. ४. २-५.

२. उपनिषदों के आचारशास्त्रों के लिए देखिए—Hume—*The Thirteen Principal Upanishads*, p.58; Johan Mackenzie—*Hindu Ethics*, p. 67. S. Radhakrishnan—*Indian Philosophy*, 1, p. 207; E. W. Hopkins, —*Ethics of India, p. 63.*

देवों ने प्रजापति से कहा—"भगवन् हमें उपदेश दीजिए"। प्रजापति ने उनके सम्मुख 'द' अक्षर बोला और कहा—"क्या तुमने इसे समझ लिया ?" देवों ने कहा—"हमने समझ लिया है। आपने हमें कहा है—'दाम्यत' (आत्म-निग्रह करो)" उसने कहा—"ठीक है, तुमने इसे समझ लिया है।" तब मनुष्यों ने उसे कहा—"भगवन्, हमें उपदेश दीजिए।" उसने फिर उसी 'द' अक्षर का उच्चारण किया और कहा—"क्या तुमने समझ लिया है ?" उन्होंने कहा—"हमने इसे समझ लिया है, आपने हमें कहा—'दत्त' (दान दो)।" उसने कहा—"ठीक है, तुमने इसे समझ लिया है।" तब असुरों ने कहा—"भगवन्, हमें उपदेश दीजिए।" और उसने फिर उसी 'द' अक्षर का उच्चारण किया और कहा—"क्या तुमने इसे समझ लिया है ?" उन्होंने कहा—"हमने इसे समझ लिया है। आपने कहा है 'दयध्वम्' (दया करो।)" उसने कहा—"ठीक है, तुमने इसे समझ लिया है।" प्रजापति ने उन्हें कहा कि उस दैवी वाक्—घन-गर्जन—में भी यह ही 'द-द-द' सुनायी देता है—'दाम्यत, दत्त, दयध्वम्!' इसलिए हम ये तीन बातें सीखें—आत्म-निग्रह, उदारता तथा दया।"

यह समझने में कोई कठिनता नहीं होगी कि उपनिषदों में ऐसे नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन अत्यल्प क्यों है ? उपनिषदों के अनुसार, "मानव-जीवन का उच्चतम उद्देश्य ब्रह्म के साथ ऐकात्म्य" है और यह ऐकात्म्य विद्या की प्राप्ति के द्वारा अविद्या के त्याग से ही सम्भव है। जिसने उस दिव्य आत्मा की एकता का साक्षात्कार कर लिया है उसे ही मोक्ष, अर्थात् ब्रह्म के साथ पूर्ण ऐकात्म्य, की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इस उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि सब प्रकार के कर्मों का, वे अच्छे हों या बुरे, त्याग कर दिया जाए; क्योंकि यज्ञ तथा अन्य पवित्र कार्य भी हमें नये पुनर्जन्मों में ही ले जाते हैं। केवल विद्या के द्वारा ही हम इस भूलभुलैया (चक्र-व्यूह, जंजाल) से निकल कर उस 'एक' तथा 'शाश्वत सत्य' तक पहुँच सकते हैं—"जिस प्रकार कमल-पत्र पर जल श्लिष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जो इस तत्त्व को जानता है उससे पाप श्लिष्ट नहीं होता।"[1] ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में भी पुनः-पुनः उन उपलब्धियों की चर्चा है जो यज्ञ-विज्ञान के इस या उस गुप्त सिद्धान्त को जानने से होती हैं—'जो यह जानता है' ('य एवं वेद')। उपनिषदों में भी किन्हीं सिद्धान्तों की चर्चा करके पुनः-पुनः यह कथन है—"जो यह जानता है, उसे भौतिक समृद्धियों तथा दिव्य आनन्दों की पुरस्कार के रूप में प्राप्ति होती है।" सभी उपनिषदों में यह विचार मिलता है कि "ज्ञान केवल शक्ति ही नहीं है, मानव-जीवन का उच्चतम उद्देश्य भी है।" केवल इन्द्र ही प्रजापति के पास १०१ वर्षों तक शिष्य के रूप में नहीं रहता; पुनः-पुनः ऐसे मनुष्यों की चर्चा वहाँ आती है जो गुरु की सेवा में किसी ज्ञान को लेने के लिए बरसों रहे। राजा उस ब्राह्मण को हजारों गौएं तथा स्वर्ण के ढेर देने के लिए तैयार है जो उसे 'सच्चे ब्रह्मन्' या

---

१. छान्दोग्य उप० ४. १४. ३। देखिये कौषीतकि उप० १. ४; ३. ८।

'आत्मन्' का सिद्धान्त समझा दे। यदि किसी के पास यह उच्च ज्ञान है तो उसे प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण राजाओं के सामने और धनिक जन भिक्षुओं के सामने झुकने के लिए तैयार हैं, और ऐसे वर्णन कम नहीं हैं। ज्ञान के लिए यह तीव्र उत्कण्ठा कठोपनिषद् की नचिकेता की कथा में मिलती है। यह वर्णन सुन्दर काव्य-भावना से ओतप्रोत है और हृदय को छूता है।

युवक नचिकेता यमलोक में जाता है और यमराज उसे तीन वर माँगने को कहता है। नचिकेता प्रथम वर यह माँगता है कि वह अपने पिता के पास जीवित लौट सके। द्वितीय वर में वह दिव्य आनन्द की कामना करता है और तृतीय वर के रूप में वह निम्न इच्छा प्रकट करता है—

"मृत मनुष्य के बारे में नित सन्देह-मध्य हम रहते हैं
कुछ ज्ञानी कहते 'अस्ति'; 'नास्ति' यहाँ अन्य ज्ञानी कहते हैं
बाद मृत्यु के क्या होता है, स्पष्ट मुझे बतला समझा कर
तेरे कहे वरों में, हे यम, मैंने माँगा यह तृतीय वर!

इस पर यमराज कहता है—"मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है?—इस प्रश्न की खोज इतनी कठिन है कि एक बार देवों को भी इसके विषय में सन्देह हो गया था। हे नचिकेता, तू अपनी इस जिज्ञासा को छोड़ दे"—

"तू पुत्र-पौत्र, शतायु, बहु पशु, हाथी, सोना, अश्व माँग ले;
बड़ा भूमि का राज्य माँग ले, और निज आयु यथेच्छ माँग ले
यदि इसको वर-तुल्य समझता, माँग वित्त ले, औ' चिर जीवन
महाभूमि पर बना रहे, नचिकेता, तेरा अनुपम शासन!
दे दूँ वर—तव सब इच्छाएँ पूरी होती रहें प्रतिक्षण!"
हे नचिकेता, मर्त्यलोक में हैं जो जो दुर्लभ इच्छाएँ
तू यथेच्छ सब आज माँग ले, क्षण में सब पूरी हो जाएँ
रथ में बैठीं, वाद्य बजाने में रत जिनकी कुशल उँगलियां
नहीं मनुष्यों को मिलतीं जो, ऐसी दे दूँ तुझे रमणियाँ
एक नहीं, दो नहीं, सेंकड़ों दे दूं, तेरा परिचरण करें
हे नचिकेता, बस, प्रश्न मरण के बारे में तू यदि न करे!"

परन्तु नचिकेता इन सांसारिक समृद्धियों के प्रलोभन से अपनी जिज्ञासा से टस-से-मस नहीं हुआ—

"हे अन्तक, मुझको बहलाते! यहाँ मर्त्य को जो मिलता है
युग-युग रह ले, फिर भी तू आ अन्त एक दिन तो करता है
औ' सब ये भोग इन्द्रियों का तेजस् जीर्ण अनिश करते हैं
जीवन कितना भी हो, थोड़ा; भोग पूर्ण कब हो सकते हैं?
ये रथ, घोड़े, हाथी—अन्तक! तेरे तुझको रहें मुबारक
नृत्य, गीत नाना ये मोहक, तेरे तुझको रहें मुबारक!

तृप्ति वित्त से इस मनुष्य की हो सकती है कभी न हे यम,
क्या लेंगे धन, तेरा दर्शन यम, यदि कर लेंगे मनुष्य हम ?
जब तक राज्य करेगा तू यम, जीते, बता, रहेंगे तब तक ?
मुझे न बहला; वर तो 'वह' ही मैं वरता, न दूसरा, अन्तक !
मृत्यु, हमें विचिकित्सा—होता है जब नर का महाप्रयाण
क्या, कैसा परलोक महत् वह, दे इसका हमें समाधान
यह रहस्य अति गूढ़, इसे सुलझा दे मेरे हित तू आज
यह नचिकेता नहीं दूसरा कोई वर माँगे यमराज !"

तदनन्तर यमराज नचिकेता की इस बात के लिए प्रशंसा करता है कि उसने ज्ञान का वरण किया, भौतिक आनन्दों का नहीं। और अन्त में वह उसे आत्मा की अमरता के रहस्य का ज्ञान देता है।

परन्तु ज्ञान की यह आत्यन्तिक प्रशंसा भौतिक आनन्दों की उपेक्षा तक ही सीमित नहीं रही, पूर्णतया 'सांसारिक जीवन के प्रति घृणा' के रूप में परिवर्तित हो गई।[1] यह एक दूसरी उपनिषद् से स्पष्ट है। इस उपनिषद् में भारतीय विचारधारा में निराशावाद के लक्षण सर्वप्रथम प्रकट हुए हैं तथा परवर्ती भारतीय साहित्य में तो यह निराशावाद पद-पद पर दृष्टिगोचर होता है। इस उपनिषद् में कहा गया है[2]—

"बृहद्रथ नाम का एक राजा था। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य दे दिया तथा यह विचार करके कि शरीर अनित्य है, उसे वैराग्य हो गया और वह वन को चला गया। वहाँ वह घोर तपस्या में लग गया; अपने हाथ ऊपर उठाये हुए तथा सूर्य की ओर एकाग्र दृष्टि से देखते हुए उसे १००० दिवस हो गए। तब उसके पास शाकायन नाम का महात्मा आया, जो अत्यन्त प्रतिष्ठित था और आत्मज्ञानी था। उसने कहा—"खड़े हो जाओ और कोई एक वर माँगो!" बृहद्रथ ने उसे प्रणाम किया और कहा—"हे भगवन्, मुझे आत्मा का ज्ञान नहीं है। हमने सुना है कि आपको उसके स्वरूप का ज्ञान है। कृपा करके हमें उसकी व्याख्या कीजिए।" (ब्राह्मण ने बहुत प्रयत्न किया कि वह उसे इस इच्छा से विरक्त कर दे, और उसे कोई और वर माँगने को कहा। तब राजा ने अत्यन्त भावावेश से ये शब्द कहे)—"हे भगवन्, यह निस्सार शरीर तो दुर्गन्ध से युक्त है। यह अस्थि, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, वीर्य, रुधिर, श्लेष्मा, अश्रु, अक्षिस्राव, मल, मूत्र, पित्त आदि दोषों का समूह है। इस शरीर से, किसी को किस तृप्ति की सम्भावना हो सकती है। इस शरीर में काम, क्रोध, इच्छा, भ्रान्ति, भय, कायरता, ईर्ष्या, प्रिय से विरह, और जो वास्तव में प्रिय नहीं है उसके प्रति आसक्ति, भूख, प्यास, जरा, मरण, व्याधियाँ और कष्ट इत्यादि भरे पड़े हैं—इससे किसी को किस तृप्ति की सम्भावना हो सकती है ? हम यह भी देखते हैं कि यह संसार क्षणभंगुर है और सब लोग मक्षिका-मशक इत्यादि

१. Cf. P. Regnaud—*Le Pessimisme Brahmanique.*
२. मैत्रायण उप०. १.२-४।

की तरह हैं और पेड़-पौधों की तरह हैं जो उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं।" (इसके अनन्तर बृहद्रथ अनेक प्राचीन राजाओं और वीरों के नाम गिनाता है जो नष्ट हो चुके हैं। अनेक देवों और अर्द्धदेवों के नाम भी गिनाता है जो कि इस विनाश का शिकार हो चुके हैं)—"और इनकी तो चर्चा ही क्या करनी है! दूसरी बातें भी हैं। बड़े-बड़े समुद्र सूख जाते हैं। पर्वत गिर जाते हैं। ध्रुव नक्षत्र हिल जाता है...धरती धँस जाती है। देवता अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं—ऐसे संसार में जिसमें ये बातें होती हैं वास्तव में कोई कैसे सुख का भोग कर सकता है? यदि किसी को इस संसार में तृप्ति मिल भी जाए फिर भी उसे इस संसार में पुनः-पुनः लौट कर आना पड़ता है, इसलिए आप मेरा उद्धार कीजिए। मैं इस संसार-चक्र में पड़ा हुआ ऐसा अनुभव करता हूँ जैसे जलहीन कूप में मंडूक होऊँ। हे भगवन्, मैं आपकी शरण में हूँ!"

यहाँ अवधेय है कि यह संदर्भ ऐसी उपनिषद् में है जिसकी गणना अत्यन्त परवर्ती उपनिषदों में होती है। इस संदर्भ से मिलते-जुलते अनेक संदर्भ बौद्ध-साहित्य में तथा परवर्ती संस्कृत-साहित्य में मिलते हैं; क्योंकि भाषा और शैली की दृष्टि से मैत्रायण उपनिषद् वेद की अपेक्षा संस्कृत-साहित्य के अधिक समीप है तथा निश्चित रूप से इसका काल बुद्ध के बाद का है।[1] प्राचीन 'वैदिक' उपनिषदों में निराशावाद केवल बीज-रूप में 'संसार की अवास्तविकता के सिद्धान्त' में मिलता है। केवल ब्रह्म वास्तविक है और यह आत्मा है जो कि "भूख तथा प्यास, दुःख तथा भ्रान्ति, जरा तथा मृत्यु से परे है।" "जो इस आत्मा से भिन्न है, वह कष्ट से पूर्ण है—'अतोऽन्यदार्त्तम्'[2] परन्तु इस 'अतोऽन्यदार्त्तम्' की वास्तव में सत्ता नहीं है, इसलिए संसार के कष्ट और दुःख भी वास्तविक नहीं हैं। जिस ज्ञानी को एकता का सिद्धान्त समझ में आ गया है वह न तो किसी भय का अनुभव करता है और न किसी कष्ट का"। "जो ब्रह्म के आनन्द को जानता है उसके लिए कहीं से भी कोई भय नहीं है।" "जो एकत्व का दर्शन करता है उसके लिए कोई भी मोह, कोई भी शोक कहाँ है?" आनन्द ब्रह्म का नाम है—"आत्मा आनन्दमय है।" एक उपनिषद् के ये शब्द आशावाद के विजय-गीत के समान हैं—"आनन्द ब्रह्म है। सब प्राणी आनन्द से उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए वे आनन्द में जीते हैं और अन्त में आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं।"[3]

मूल रूप से उपनिषदों का सिद्धान्त निराशावादी नहीं है। हाँ, यह संसार की अवास्तविकता तथा संसार के प्रति घृणा के मध्य का एक छोटा-सा सोपान है। ब्रह्म के आनन्द की जितने अतिशय से प्रशंसा की जाती थी, उतनी ही अधिक व्यर्थ व

---

१. मैत्रायण उप० (७. ८) में स्पष्ट रूप से इसका संकेत है जहाँ बौद्धों को नास्तिक कहा गया है। मैत्रायण उप० की शैली के विषय में देखिये—Oldenberg—*Zur Geschichte Der Altindischen Prosa*, p. 33.

२. बृहदारण्यक उप०. ३.५।

३. तैत्तिरीय उप० २. ६; ३. ६। ईश उप०. ७;

निस्सार सांसारिक वस्तुएँ प्रतीत होती थीं।[१] इसलिए यह भी स्वीकार करना होगा कि परवर्ती भारतीय दर्शन के निराशावाद का मूल उपनिषदों में है।

वस्तुतः भारतीयों के समग्र परवर्ती दर्शन का मूल उपनिषदों में है। बादरायण के वेदान्त-सूत्रों का आधार उपनिषदों के ये सिद्धान्त ही हैं। वेदान्त के सूत्रों के विषय में एक परवर्ती लेखक[२] लिखता है—"यह ग्रन्थ सब ग्रन्थों में मुख्य है। अन्य सब ग्रन्थ इसी की व्याख्या हैं। इसलिए जिस किसी का भी लक्ष्य मोक्ष है, वह इस का आदर करेगा।" शंकर की तथा रामानुज की आध्यात्मिक-दार्शनिक विचारधाराओं का आधार ये ही वेदान्त-सूत्र हैं। भारत में आज भी करोड़ों जन शंकर और रामानुज के अनुयायी हैं। इसके अतिरिक्त भारत में सब दार्शनिक प्रणालियों और धर्मों के—बुद्ध के बाद कट्टर ब्राह्मण धर्म के और नास्तिक बौद्ध धर्म के—उद्भव की आधार-भूमि उपनिषदों के सिद्धान्त ही हैं।.

दूसरी ओर, भारतीय दर्शन के विकास के लिए यह बात बहुत घातक सिद्ध हुई कि उपनिषदों को भी 'ईश्वरीय ज्ञान' और पवित्र 'प्रामाणिक ग्रन्थ' माना जाने लगा। उपनिषदों में हमें अत्यन्त उत्साह से पूर्ण स्वतन्त्र सर्जनात्मक दार्शनिक विचारों के दर्शन होते हैं। परवर्ती भारतीय दर्शन में यह बात न्यून और न्यूनतर होती गई। विभिन्न सम्प्रदायों के कट्टरतावाद की बेड़ियों ने विचार के विकास की गति को कदम-कदम पर प्रतिहत करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी बात भारत में ही नहीं, अन्य देशों में भी हुई। परन्तु भारत में स्वतन्त्र विचार-निरोधक एक और बात भी हुई कि ऐसा कट्टरता से पूर्ण विश्वास फैल गया कि उपनिषदों का प्रत्येक शब्द ईश्वरीय सत्य व ज्ञान है।

तथापि इन दार्शनिक कविताओं (उपनिषदों के लिए इससे अधिक उपयुक्त दूसरा नाम नहीं हो सकता) का मनुष्यों के मन पर जो इतना अधिक प्रभाव है, इसका कारण यह विश्वास नहीं है कि यह ईश्वरीय ज्ञान है, क्योंकि कुछ अत्यन्त मूर्खतापूर्ण वैदिक सूक्तों तथा ब्राह्मण-संदर्भों को भी ईश्वरीय ज्ञान कहा जाता है। इसका कारण वस्तुतः वह विषय है जो कविता की भाषा में कहा गया है और हृदय तथा बुद्धि दोनों के लिए रुचिकर एवं ग्राह्य है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी इन्हें अतिमानव कह कर इनका महत्त्व स्थापित करने का प्रयास किया है। शॉपेनहार का कथन है कि—"उपनिषद् उच्चतम मानवीय ज्ञान तथा बुद्धि के फल हैं, तथा इनके विचार लगभग अतिमानवीय हैं। इनके लेखकों को केवल मनुष्य कहना कठिन है।"[3] डूसन का कथन है—"उपनिषदें यदि सर्वाधिक वैज्ञानिक न भी हों तो भी ये जगत् की सत्ता के अन्तिम रहस्य पर अन्तरङ्गता से एवं सहजता से प्रकाश डालती हैं। इनमें ऐसे

---

१. Cf. M. F. Hecker, *Schopanhauer und die Indische Philosophie*, pp. 116-20.

२. मधुसूदन सरस्वती—'प्रस्थान-भेद'।

३. Hacker, loc. cit, p, 7. *Des Vedānta*.

दार्शनिक विचार हैं जिनके समकक्ष विचार भारत में या सम्भवतः सम्पूर्ण विश्व में कहीं भी नहीं हैं।"[१] डूसन उपनिषदों के ईश्वरीय होने के भारतीय विश्वास की पुष्टि का प्रयत्न करता है—"वस्तुतः उपनिषदों के आकर्षण तथा ग्राह्यता का कारण यह है कि इन प्राचीन विचारकों ने ईमानदारी से सत्य की खोज के लिए घोर संघर्ष किया है, तथा इन दार्शनिक कविताओं में ज्ञान के लिए मनुष्य के हृदय की शाश्वत-अतृप्त पिपासा की सबल शब्दों में अभिव्यक्ति है। उपनिषदों में 'अतिमानवीय विचार' नहीं है परन्तु सत्य के निकट और निकटतर जाने के लिए पूर्ण रूप से मानवीय प्रयत्न हैं—और यही बात है जिसके कारण ये हमारे लिए इतनी बहुमूल्य हैं।"

तथापि मानवीय विचारों के इतिहास का अध्ययन करने वाले इतिहासकार के लिए उपनिषदें एक अन्य दृष्टि से इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पर्शिया तथा अन्य पाश्चात्य देशों के रहस्यमय सिद्धान्तों में उपनिषदों के विचारों की अनवच्छिन्न धारा दृष्टिगोचर होती है। पर्शियन सूफी मत में नव-प्लेटोवादियों के रहस्यात्मक एवं आध्यात्मिक शब्द-तत्त्व (लोगस) सिद्धान्त में, एलक्जेण्ड्रिया के ईसाइयों में, ईसाई रहस्यवादी एखार्ट (Eckhart), टालर (Teuler) तथा अन्त में १९वीं शताब्दी के महान् जर्मन रहस्यवादी शॉपेनहार[२] के रहस्य-रूपकों में यह अनवच्छिन्न धारा देखी जा सकती है। शॉपेनहार पर भारतीयों का कितना अधिक ऋण है, यह उसने पुनः-पुनः स्वयं मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। वह स्वयं कहता है—"मेरे तीन गुरु हैं—प्लेटो, कांट तथा वेद।" (वेद से उसका तात्पर्य सर्वदा उपनिषद् ही होता है।) विश्वविद्यालय-व्याख्यान-माला के लिए लिखी गई पाण्डुलिपि में वह कहता है—"मैं आपके सम्मुख जो परिणाम रखने जा रहा हूँ वे जीवन के प्राचीनतम विचारों अर्थात् वेदों के अनुसार हैं।" शॉपेनहार की सम्मति है कि "पश्चिम में संस्कृत-अध्ययन का प्रारम्भ हमारी शताब्दी की सबसे बड़ी देन है।" उसने भविष्य-वाणी की है कि "यह बहुत सम्भव है कि भारतीय सर्वेश्वरवाद एक दिन पाश्चात्य देशों का भी सार्वजनिक विश्वास बन जाएगा।" शॉपेनहार को अपनी विचारधारा तथा उपनिषदों में बहुत अधिक साम्य प्रतीत होता है। वह कहता है कि यह बहुत अद्भुत बात है। उसने एक स्थान पर कहा है—"यदि उपनिषदों में से कोई भी वाक्य पृथक् रूप से ले लिया जाए तो ऐसा लगेगा कि वह परिणाम रूप में मेरा (शॉपेनहार का) अपना विचार है। यद्यपि दूसरी ओर वह कहीं भी उपनिषदों में नहीं मिलेगा।" यह सर्वविदित है कि 'उपनेखत' (Upnek'hat) उसकी मेज़ पर खुला पड़ा रहता था और शयन से पूर्व वह 'श्रद्धा-पूर्वक' इसका मनन करता था। 'उपनिषद्' के विषय में वह कहता है कि "इसका अध्ययन अत्यधिक तृप्ति देने वाला तथा ऊँचा उठाने वाला है। जो भी तृप्ति

१. Duessen, *System of Vedānta*, p. 50, 99. **डूसन का यह कथन अत्यन्त अतिशयोक्ति है।**

२. On Schopenhauer as a mystic; S.Hecker, *lac. cit*, pp. 85. f.

संसार में मिल सकती है (वह मूल ग्रन्थ को अपवाद के रूप में रखता है), वह मेरे जीवन की शान्ति एवं सान्त्वना है और मेरी मृत्यु की भी सान्त्वना होगी।" तथापि उपनिषदों का आधारभूत सिद्धान्त वही है जो शॉपेनहार के अनुसार, "सर्वदा मूर्खों के उपहास का विषय तथा ऋषियों के अनन्त ध्यान व समाधि का विषय रहा है"—अर्थात् एकता का सिद्धान्त (ऐकात्म्य का सिद्धान्त)—अर्थात् यह सिद्धान्त कि "जो नानात्व दिखाई देता है वह अवास्तविक है। विश्व में जो यह अनन्त विविधता दिखाई देती है, पृथक्-पृथक् वस्तुएँ दिखाई देती हैं, जिन्हें हम एक-एक करके पृथक् रूप से देखते हैं, उन सबमें एक ही सच्ची वास्तविक 'सत्ता' एकात्म रूप से विद्यमान है और यह सब कुछ उसी की अभिव्यक्ति है।" लुडविग स्टीन (Ludwig Stein) का कथन है—"आज के युग का दर्शन है—एकात्मवाद (Monism)। इस विश्व में जो कुछ भी होता है उसकी एकमात्र यह ही व्याख्या है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व एकात्ममय है।" यदि यह कथन ठीक है तो 'आज का यह दर्शन' आज का नहीं है—तीन हजार वर्ष पूर्व प्राचीन भारतीय इस दर्शन की स्थापना कर चुके थे।

वेदाङ्ग

मुण्डक उपनिषद् (१.१.५) में दो प्रकार की विद्याएँ कही गई हैं—उच्चतर (परा) तथा निम्नतर (अपरा)। परा विद्या वह है जिससे अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म का ज्ञान होता है। अपरा विद्याएँ हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् तथा ज्योतिष (गणित-ज्योतिष)। इन्हीं विद्याओं को वेदाङ्ग भी कहा जाता है अर्थात् वेद की सहायक विद्याएँ। प्रारम्भ में ये विभिन्न विद्याएँ थीं जो वेदों को समझने के लिए वैदिक शाखाओं व सम्प्रदायों में पढ़ी जाती थीं। इन वेदाङ्गों का मूल ब्राह्मणों व आरण्यकों में खोजा जा सकता है जहाँ यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्याओं के साथ शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् तथा ज्योतिष पर भी विचार किया गया है। धीरे-धीरे ये विद्याएँ व्यवस्थित हो गईं और विभिन्न वैदिक शाखाओं में इनके 'ग्रन्थ' बन गए जिनमें सब-कुछ सूत्रों के रूप में कहा गया।

सूत्र का शब्दार्थ है 'धागा'। फिर इसका अर्थ हुआ—संक्षिप्त नियम जिसमें कोई बात कुछ शब्दों में संक्षेप से कही गई हो। जैसे कई धागों से एक वस्त्र-खण्ड बनता है इसी प्रकार एक सूत्र में अनेक बातें ग्रथित होती हैं।[1] अनेक सूत्रों से युक्त ग्रन्थ भी 'सूत्र' नाम से अभिहित होता है। इन सिद्धान्त-ग्रन्थों का सूत्र-रूप से क्रिया-

---

१. इसी प्रकार 'तन्त्र' शब्द का अर्थ है—ताना-बाना; और फिर धीरे-धीरे अर्थ हो गया—कोई साहित्यिक ग्रन्थ। चीनी भाषा में भी 'किंग' शब्द है जिसका अर्थ है—कोई बुना हुआ वस्त्र! और फिर धीरे-धीरे आलंकारिक अर्थ हो गया—कोई भी शास्त्रीय सिद्धान्तों का ग्रन्थ।

इसी प्रकार ब्राह्मण शब्द का वाच्यार्थ है अध्यात्मवाद का सिद्धान्त। इन सिद्धान्तों के संग्रह-ग्रन्थ का नाम भी ब्राह्मण हो गया। उपनिषद् का अर्थ है—रहस्यमय सिद्धान्त। रहस्यमय सिद्धान्तों का ग्रन्थ भी उपनिषद् कहलाता है।

त्मक उपयोग हैं। सूत्रों में किसी भी विज्ञान को संक्षेप में कहा जाता है, जिससे कि शिष्य उसे कण्ठाग्र कर सकें। विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में भारतीयों के सूत्रों-जैसी चीज नहीं मिलेगी। 'सूत्र-कार' अत्यन्त संक्षेप से कहने का प्रयत्न करता है, यहाँ तक कि कभी-कभी स्पष्टता और सुबोधता भी प्रतिहत हो जाती है। वैयाकरण पतञ्जलि का कथन है कि "सूत्रकार यदि सूत्र की रचना करते समय अर्द्धमात्रा का भी लाघव करले तो उसे वह प्रसन्नता होती है जो पुत्र के उत्पन्न होने पर ही संभव है।' कुछ उदाहरणों से सूत्रों की शैली स्पष्ट हो जाएगी। कोष्ठकों में कुछ शब्द वाक्यों को स्पष्ट करने के लिए हम दे रहे हैं—

आपस्तम्बीय धर्मसूत्र १, १, १, ४-८—

सूत्र ४—वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।

सूत्र ५—इनमें से पूर्वतर सदा उत्कृष्टतर (है), जन्म के अनुसार (प्रत्येक परवर्ती की अपेक्षा)।

सूत्र ६—(उनके) लिए (जो) शूद्र नहीं (हैं) तथा जिन्होंने बुरे कर्म नहीं किये हैं (विधान है—) शिष्य के रूप में दीक्षित होना, वेद का स्वाध्याय, अग्न्या-धान; तथा (ये पवित्र) कर्म हितकारी (हैं) (इहलोक तथा परलोक में)।

सूत्र ७—शूद्रों का (कर्त्तव्य है) अन्य वर्णों का आज्ञा-पालन।

सूत्र ८—प्रत्येक पूर्वतर वर्ण की सेवा में अधिकतर पुण्य है (अर्थात् शूद्र जिसकी सेवा करता है वह जितना उच्चतर वर्ण का होगा, शूद्र परलोक में उतने ही पुण्य का भागी होगा)।

(गोभिलीय-गृह्यसूत्र १, ५, १-५; ८-९)—

सूत्र १—अब नवोदित तथा पूर्ण चन्द्र के विषय में (अर्थात् प्रतिपदा और पूर्णिमा के दिन निम्न कर्मकाण्ड किये जाने चाहिएँ)—

सूत्र २—पूर्णिमा के दिन (जब चन्द्रमा उदित होता है) सन्ध्या के समय वह उपवास करेगा।

सूत्र ३—कुछ (शास्त्रकारों का कथन है); अगले (दिन अर्थात् सूर्यास्त के थोड़ी देर बाद जब चन्द्रमा उदित होता है वह उपवास करेगा)।

सूत्र ४—इसके अतिरिक्त उस दिन, जबकि चन्द्रमा दिखाई नहीं देता, नव चन्द्रमा के दिन के रूप में इस दिन (के विषय में)।

सूत्र ५—अर्धमासों के अन्त में उपवास का विधान है अर्धमासों के प्रारम्भ में यज्ञ का विधान है (अर्थात्—उपवास का दिन सदा नवचन्द्रमा के दिन या पूर्ण चन्द्रमा के दिन से पहले होगा)।

सूत्र ८—परन्तु जिस-जिस दिन चन्द्रमा दिखाई न दे, उसे नव चन्द्रमा का दिन बना लेना चाहिए (अर्थात् उसे नवचन्द्रमा का दिन मान लेना चाहिए)।

सूत्र ६—यदि (चन्द्रमा) (दिन में) एक बार (थोड़ा-सा) भी दिखाई दे जाए (इस दिन को नवचन्द्रमा का दिन माना जा सकता है; एक ग्राचार्य के मत में) (चन्द्रमा) ग्रपनी गति पूर्ण कर चुका है ।

उपरिलिखित में संस्कृत-पाठ्य में कोष्ठकों के बाहर के शब्द हैं । शिष्य-गण केवल इन सूत्रों को कण्ठाग्र करते थे, गुरु-जन इनकी व्याख्या समझा देते थे । परवर्ती काल में ये व्याख्याएँ भी लिखित रूप में ग्रा गईं । इन सूत्रों पर विस्तृत टीकाएँ मिलती हैं । इन टीकाग्रों के बिना ग्राज इन सूत्रों को समझना ग्रसंभव ही होता । यह सूत्र-शैली ब्राह्मण-ग्रन्थों के गद्य में प्रारम्भ हो चुकी थी । ब्राह्मणों के इस गद्य में प्रायः छोटे-छोटे वाक्य हैं; ग्रप्रत्यक्ष (Indirect) कथन का नितान्त ग्रभाव है; मुख्य वाक्य के बीच में उपवाक्यों का भी प्रायः ग्रभाव है; वाक्यों की एक-रसता कृदन्त-प्रयोगों से कुछ-कुछ कम होती है । इसके ग्रतिरिक्त कहीं तो बहुत विस्तार है, विशेष रूप से एक ही बात को जहाँ पुनः-पुनः कहा गया है, जो कि रुचिकर नहीं है; तो कहीं इतना संक्षेप है कि ग्रनुवाद में ग्रपनी ग्रोर से बहुत-कुछ जोड़ना पड़ता है । मौखिक शिक्षण में यह संक्षेप स्वाभाविक ही है । इस प्रकार के गद्य में प्रवाह नहीं रहता, वाक्य ग्रसंबद्ध रहते हैं, ग्रत्यन्त ग्रावश्यक निपातों से ही संयुक्त रहते हैं । कम से कम में कहने के लिए लम्बे समासों का भी सूत्रों में प्रयोग किया गया; परवर्ती काल में तो संस्कृत-साहित्य में समास की बहुत प्रधानता हो गई । सूत्रों में[1] कई ब्राह्मण-ग्रन्थों के उद्धरण भी स्थान-स्थान पर हैं (ये उद्धरण बिना संकेत के हैं); इससे भी यह स्पष्ट है कि सूत्र-शैली का मूल ब्राह्मणों में है ।

कर्मकाण्ड-साहित्य (कल्प-सूत्र)

प्राचीनतम सूत्रों का विषय-वस्तु की दृष्टि से भी ब्राह्मणों ग्रौर ग्रारण्यकों से सीधा संबन्ध है । ऐतरेय-ग्रारण्यक में ऐसे सन्दर्भ हैं जो कि शुद्ध रूप से सूत्र ही हैं; परम्परा से भी इनके प्रणेता सूत्रकार ग्राश्वलायन ग्रौर शौनक माने जाते हैं तथा इन्हें ईश्वरीय ज्ञान (दैवी ज्ञान) भी नहीं माना जाता ।[2] सामवेद-साहित्य में कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें भ्रमवश 'ब्राह्मण' नाम दिया गया है; वस्तुतः वे सूत्र हैं, तथा उनकी विषय-वस्तु के ग्राधार पर उनकी गणना वेदाङ्गों में होनी चाहिए । कर्मकाण्ड (कल्प) ब्राह्मणों की मुख्य विषय-वस्तु है । यह प्रथम वेदाङ्ग है जिसके लिए विशेष ग्रन्थ (कल्प-सूत्र) लिखे गए । पुरोहितों के उपयोग के लिए नियमों

---

१. शांखायन श्रौतसूत्र में कुछ सन्दर्भों की शैली ब्राह्मणों के समान है । बौधायन-कल्पसूत्र में भी कुछ सन्दर्भ ब्राह्मणों के समान हैं । परन्तु श्रौतसूत्र ब्राह्मणों के ग्राधार पर नहीं लिखे गए, उनका ग्राधार सुदीर्घ मौखिक परम्परा है ।

२. देखिए मैक्समूलर—*History of Ancient Sanskrit Literature*, p. 314.

की संक्षेप से सूत्र रूप में रचना आवश्यक थी। ब्राह्मणों के श्रौत-यज्ञों से संबद्ध कल्पसूत्र 'श्रौत सूत्र' तथा गृहस्थों में किये जाने वाले कर्मकाण्ड और यज्ञों से सम्बद्ध कल्पसूत्र 'गृह्यसूत्र' कहलाते हैं।[1]

श्रौत सूत्रों में तीन यज्ञीय अग्नियों के आधान, अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास यज्ञों, ऋतु-यागों, पशु-यागों तथा विशेष रूप से अनेक भेद-प्रभेदों सहित सोम-याग के सम्बन्ध में निर्देश हैं। भारतीय यज्ञीय प्रणाली के विषय में इनमें प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है तथा धर्म-इतिहास के लेखन में यह सामग्री अपरिहार्य है।[2]

गृह्य-सूत्रों की विषय-वस्तु में और भी अधिक विविधता है और कई दृष्टियों से वे अधिक उपयोगी भी हैं। उनमें सब प्रकार के आचार-व्यवहारों, कर्मकाण्डों, तथा यज्ञों के विषय में निर्देश हैं। इनके द्वारा भारतीयों के जीवन को अत्यन्त पवित्रता प्राप्त होती है जिसे वे संस्कार नाम से अभिहित करते हैं। ये संस्कार गर्भावस्था से लेकर मृत्यु पर्यन्त किए जाते हैं और मृत्यु के उपरान्त भी। गृह्यसूत्रों में आत्म-विषयक विचार भी मिलते हैं। इनमें अनेक प्रचलित आचारों और अनुष्ठानों का वर्णन मिलता है जिनमें से मुख्य हैं—गर्भाधान, शिशु-जन्म, माता तथा नवजात शिशु, नामकरण, शिशु के सर्वप्रथम घर से बाहर ले जाने तथा उसके सर्वप्रथम अन्नप्राशन के संस्कार। गृह्यसूत्रों में बालक के मुण्डन, उपनयन, ब्रह्मचारी के आचार, गुरु-शिष्य-संबंध तथा शिक्षा की समाप्ति पर गुरुकुल से विदा इत्यादि विषय विस्तार से वर्णित हैं। प्रणय-संबंध, वाग्दान तथा विवाह के आचारों के विषय में विशेष विस्तार से वर्णन है। गृह्यसूत्रों में पाँच महायज्ञों का भी विस्तृत वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण (११. ५. ६) में इन यज्ञों पर विशेष बल दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—"ये पाँच महान् यज्ञीय उत्सव हैं और इन्हें महायज्ञ कहा जाता है।" इन्हें महान् यज्ञ इसलिए कहा जाता है कि ये प्रत्येक गृहस्थ के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक कर्त्तव्य हैं। यद्यपि वस्तुतः ये अत्यन्त सामान्य कर्मकाण्ड हैं और इनमें दक्षिणा-इत्यादि भी अत्यल्प ही दी जाती है। ये दैनिक यज्ञ हैं जो कि देवों, दैत्यों तथा पितरों के प्रति किये जाते हैं। इनमें केवल गार्हपत्य अग्नि में एक समिधा होती है तथा थोड़ा अन्न देना होता है और जल की आहुति दी जाती है। अगला यज्ञ है—अतिथियों का सत्कार, जिसे मनुष्य-यज्ञ कहा गया है और पाँचवाँ है दैनिक वेद का स्वाध्याय। इसे ब्रह्मन् (या ऋषियों) के प्रति किया जाने वाला यज्ञ –ब्रह्मयज्ञ या ऋषि-यज्ञ–कहते हैं। गृह्यसूत्रों में दैनिक प्रभात और सन्ध्या के अग्निहोत्र-तथा पौर्णमास यज्ञ तथा अन्य यज्ञों से सम्बद्ध वार्षिक उत्सवों का भी वर्णन है (अग्नि-होत्र, दर्शपौर्णमास तथा चातुर्मास्य यज्ञ-विभाजन की दृष्टि से श्रौतसूत्रों के अन्तर्गत

---

१. देखिए हिलब्रांड—*Das altindische Neu-und Vollmondsopfer*, Jena, 1879.

२. हिलब्रांड *Grundriss* III; 2 तथा H. Hubert and M. Mauss—*Essai sur la nature et la function du sacrifice.*

आते हैं। इसके अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में शाला-निर्माण, पशु-पालन तथा कृषि-संबंधी आचारों तथा कर्मकाण्डों का भी वर्णन है। इनमें विविध जादू-टोनों का भी वर्णन है जो रोगों तथा अपशकुनों को दूर करने के लिए किये जाते हैं। भूतों को दूर भगाने तथा प्रेम-संबंधी जादू-टोने भी वर्णित हैं। गृह्यसूत्र में अन्त्येष्टि क्रिया तथा श्राद्धों का भी वर्णन है। श्राद्धों का विषय इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि अत्यन्त विस्तार[1] से इन पर विशेष ग्रन्थ (श्राद्ध-कल्प) लिखे गए।

इस प्रकार भले ही साहित्यिक दृष्टि से गृह्यसूत्रों का विशेष महत्त्व नहीं है, प्राचीन भारतीयों के जीवन के गम्भीर परिचय में ये बहुत सहायक हैं। वस्तुतः किसी नृवंश-शास्त्री के लिए ये बहुमूल्य कोष हैं। इतिहासवेत्ता जानते हैं कि प्राचीन ग्रीक तथा रोमन जनों के दैनिक जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिए कितना परिश्रम पड़ता है। अत्यन्त बिखरी हुई सामग्री से तथ्यों का संग्रह करना पड़ता है; परन्तु भारत के इन सूत्र-ग्रन्थों में हमें वह सम्पूर्ण सामग्री एकत्र मिल जाती है जिसका संग्रह प्रत्यक्षदर्शियों के द्वारा किया गया है। हमें प्राचीन भारतीयों के दैनिक जीवन के विषय में पूर्ण और प्रामाणिक परिचय प्राप्त हो जाता है। सूत्र-ग्रन्थों में कथित नियमों और विधानों में सब बातें पूर्णतया स्पष्ट हैं—भले ही ऊपरी दृष्टि से देखने पर ये ग्रन्थ महत्त्वहीन प्रतीत होते हों। यह कहा जा सकता है कि ये ग्रन्थ प्राचीन भारत के 'लोकगाथा-वृत्तपत्र' हैं। यह ठीक है कि इन ग्रन्थों में प्राचीन भारत के परिवार-प्रमुख (पिता) के जीवन का केवल धार्मिक दृष्टि से वर्णन है, परन्तु धर्म प्राचीन भारतीयों के जीवन में ओतप्रोत था—यहाँ तक कि वास्तव में उनके जीवन का कोई भी कार्य सहकारी धार्मिक अनुष्ठानों के बिना सम्पन्न नहीं होता था। इसलिए सूत्र-ग्रन्थों का नृवंशशास्त्री के लिए बहुत महत्त्व है। इनमें वह प्राचीन काल के सर्वसाधारण में प्रचलित आचार-व्यवहारों को भली-भाँति जान लेता है। गृह्यसूत्रों में वर्णित आचार-व्यवहारों की तुलना भारत-यूरोपीय आचार-व्यवहारों से करने पर बहुत समानता दृष्टिगोचर होती है। इस दृष्टि से इनका और भी अधिक महत्त्व है। विशेष रूप से ग्रीक-रोमन ट्यूटोनिक तथा स्लेवोनिक जनों के विवाह के रीति-रिवाजों को गृह्यसूत्र में वर्णित नियमों से तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि भारत-यूरोपीय जनों की पारस्परिक समानता केवल भाषा तक ही सीमित नहीं है, प्राग्-ऐतिहासिक काल से उनके आचार एवं व्यवहारों में भी समानता चली आ रही है।[2]

१. अन्त्येष्टि-क्रिया तथा श्राद्धों के विषय में W. Caland ने अपने ग्रन्थों में विस्तार से विचार किया है। देखिए Winternitz—*Notes on Śrāddhas*, WZKM, 4, 1890, p. 199 ff.।

२. इस विषय में निम्न विद्वानों के ग्रन्थ अवलोकनीय हैं—E. Haas and A. Weber, M. Winternitz तथा O. Shroeder. Winternitz की निम्न पुस्तिका में जिज्ञासुओं के लिए संक्षेप से सामग्री उपलब्ध है—*On a Comparative study of Indo-European Customs, with special reference to the Marriage Customs.*

गृह्यसूत्रों से साक्षात् रूप से सम्बद्ध धर्मसूत्र हैं। इनका भी महत्त्व कम नहीं है। इन्हें गृह्यसूत्रों का अनुबन्ध ही कहना चाहिए। धर्म का अर्थ है—'उचित कर्त्तव्य, नियम।' इनके साथ ही धार्मिक आचार-व्यवहार भी सम्मिलित हैं। इसलिए इन ग्रन्थों में धार्मिक नियमों के अतिरिक्त लौकिक आचार-व्यवहार की सामग्री भी उपलब्ध है। भारत में वस्तुतः 'धार्मिक' तथा 'लौकिक' इन दोनों को एक-दूसरे से पृथक् किया ही नहीं जा सकता। इन ग्रन्थों में वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में नियम व विधान हैं। इन ग्रन्थों के द्वारा ब्राह्मणों ने प्राचीन भारत में अपने लाभ व स्वार्थ के लिए अनेक नियम व कानून बनाये और सब क्षेत्रों में अपना एकाधिपत्य स्थापित किया। धर्मसूत्रों के विषय में विस्तार से विचार एक पृथक् विधि-साहित्य के अध्याय में किया जाएगा। इनकी यहाँ चर्चा केवल इसलिए की गई है कि श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों की भाँति ये भी कल्पसूत्रों का भाग हैं।

इसके अतिरिक्त शुल्वसूत्र हैं, जिनका साक्षात् सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से है। इनमें यज्ञ-स्थान तथा यज्ञवेदियों के निर्माण के विषय में विस्तार और बारीकी से बताया गया है। 'शुल्व' शब्द का अर्थ है—'मापने की डोरी'। इन्हें भारतीय ज्यामिति के प्राचीनतम ग्रन्थ कहा जा सकता है। विज्ञान के इतिहासवेत्ता के लिए भी ये पर्याप्त महत्त्व रखते हैं।

श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों का वेदों की व्याख्या की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है। इनमें केवल कर्मकाण्ड के नियम ही नहीं हैं अपितु मन्त्रों का विनियोग भी बताया गया है। ये मन्त्र अधिकांशतः यजुर्वेद के हैं। इन मन्त्रों की ठीक व्याख्या के लिए यज्ञीय कर्मकाण्ड में इनका विनियोग इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः अधिकांशतः इन मन्त्रों का इन यज्ञीय कार्यों से, जिनमें वे विनियुक्त किये गए हैं, कोई संबंध नहीं है। धर्म के इतिहास की दृष्टि से इस तथ्य का बहुत महत्त्व है कि किस प्रकार प्रार्थनाएँ प्रायः उन कार्यों के लिए प्रयुक्त हुई हैं जिनके लिए वे बिल्कुल भी उपयुक्त नहीं हैं और प्रायः उनके अर्थ को बिल्कुल गलत समझा गया है, गलत व्याख्या की गई है और कभी-कभी तो उनमें मनमाने परिवर्तन भी कर दिये गए हैं।[१] तथापि कभी-कभी कर्मकाण्ड में उनके विनियोग से वेद के किसी कठिन संदर्भ की व्याख्या में सहायता भी मिल जाती है। सामान्यतया मन्त्रों को सूत्र के भाग के रूप में ही लिखा गया है। कभी पूरे मन्त्र उद्धृत किए जाते हैं और कभी मन्त्रों के प्रारम्भिक शब्द। जिनके प्रारम्भिक शब्द दिये जाते हैं उनके विषय में मान लिया जाता है कि लोग इनसे सुपरिचित हैं।

इन उद्धृत मन्त्रों से हमें विभिन्न कल्पसूत्रों का वेद की विभिन्न शाखाओं

---

१. Winternitz—*The Mantra-Pāṭha* तथा Edwin W. Fay—*The Ṛg-Veda-Mantras in the Gṛhya Sūtras.*

से संबंध भी ज्ञात होता है। उदाहरण के रूप में, कृष्ण यजुर्वेद के श्रौत तथा गृह्य-सूत्रों में मन्त्र उसी रूप में दिये गए हैं जिस रूप में वे कृष्ण यजुर्वेद संहिता में मिलते हैं। यजुर्वेद के मन्त्रों के तो वे प्रारम्भिक शब्द ही उद्धृत किए गए हैं, परन्तु ऋग्वेद या अथर्ववेद के तो पूरे-पूरे मन्त्र उद्धृत किये गए हैं। इसके अतिरिक्त सभी सूत्र-ग्रन्थों में ऐसे भी अनेक मन्त्र हैं जो किसी भी वैदिक संहिता में नहीं मिलते। दो गृह्यसूत्र ऐसे हैं जिनमें मन्त्र-भाग अलग से दिया गया है। ये हैं—गोभिलीय गृह्यसूत्र तथा आपस्तम्बीय[1] गृह्यसूत्र। और इन्हें मन्त्र-ब्राह्मण[2] के नाम से अभिहित किया जाता है।

केवल बौधायन तथा आपस्तम्ब की कृष्ण यजुर्वेदीय शाखाओं में हमें ऐसे कल्पसूत्र मिलते हैं जिनमें चारों प्रकार के सूत्र-ग्रन्थ हैं—श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्व। और इन ग्रन्थों में ये चारों इस प्रकार परस्पर-सम्बद्ध हैं कि यह सिद्ध किया जा सकता है कि ये एक ही ग्रन्थ के चार भाग हैं। यह सम्भव है कि बौधायन तथा आपस्तम्ब सम्पूर्ण कल्पसूत्रों (जिनमें चार प्रकार के सूत्र हैं) के रचयिता रहे हों, और यदि वे वास्तविक रचयिता न भी रहे हों तो भी यह निश्चित है कि यजुर्वेद की बौधायन तथा आपस्तम्ब शाखाओं में ये चारों प्रकार के सूत्र (श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्व) एक निश्चित योजना के अनुसार रचित हुए हैं।[3]

आपस्तम्ब शाखा के सूत्रों से अन्तरङ्ग रूप से सम्बद्ध हैं—भारद्वाज के तथा सत्याषाढ हिरण्यकेशिन् के सूत्र। भारद्वाज श्रौतसूत्र अभी केवल पाण्डुलिपियों में ही मिलते हैं जबकि भारद्वाज गृह्यसूत्र प्रकाशित हो चुके हैं। हिरण्यकेशियों के श्रौत तथा गृह्यसूत्र प्रकाशित हो चुके हैं। हिरण्यकेशिन् धर्मसूत्रों तथा आपस्तम्बीय धर्मसूत्रों में केवल नाममात्र का ही अन्तर है।

इसके अतिरिक्त वाधूलों तथा वैखानसों के सूत्र हैं जिनका कि तैत्तिरीय संहिता से अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बौधायन प्राचीनतम सूत्रकार हैं।[4] इसके बाद क्रम से आते हैं—भारद्वाज, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशिन्।

---

१. *The Mantra-Pāṭha* or *the Prayer Book of the Āpastambins*—Winternitz.

२. सत्यव्रत सामश्रमी—ऊषा। कलकत्ता १८६०.

३. बौधायन श्रौतसूत्र—W. Caland बौधायन गृह्यसूत्र—L. Srīnivāsā-chārya तथा G. Thibaut (बौधायन शुल्व सूत्र) R. Garbe—आपस्तम्बीय श्रौतसूत्र. Winternitz—'आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र'; Oldenberg—'आपस्तम्ब परिभाषा-सूत्र' आपस्तम्बीय श्रौतसूत्र तथा Keith के श्रौतसूत्र।

४. यह तथ्य बौधायन की शैली से भी सिद्ध होता है। कहीं-कहीं उसकी शैली ब्राह्मण और सूत्र-शैली के मध्य की है। कहीं कहीं बौधायन को प्रवचनकार भी कहा गया है। प्रवचन ब्राह्मण तथा सूत्रों के कालों की संक्रान्ति की साहित्यिक शैली का पारिभाषिक नाम है।

मानवशाखा के श्रौत, गृह्य तथा शुल्व सूत्र[1] तथा मानव गृह्यसूत्र से सम्बद्ध काठक गृह्यसूत्र का सम्बन्ध मैत्रायणी संहिता से है।

किसी अन्य वेद की शाखा के चारों प्रकार के सूत्रों से समन्वित कल्पसूत्र कभी थे या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। उन शाखाओं में से, जिनका कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध नहीं है, किसी का कहीं एक श्रौतसूत्र तथा किसी का कहीं एक गृह्यसूत्र मिल जाता है। कुछ धर्मसूत्रों का सम्बन्ध ऋग्वेद की शाखाओं के साथ या शुक्ल यजुर्वेद के साथ स्थापित किया जाता है जो कि बहुत शिथिल है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं—एक कात्यायन श्रौतसूत्र, एक पारस्कर गृह्यसूत्र तथा एक कात्यायन शुल्व सूत्र। ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं—एक आश्वलायन श्रौतसूत्र, एक आश्वलायन गृह्यसूत्र, एक शांखायन श्रौतसूत्र तथा एक शांखायन गृह्य-सूत्र। सामवेद से सम्बद्ध हैं—लाट्यायन श्रौतसूत्र तथा द्राह्यायण श्रौतसूत्र, जैमिनीय शाखा का एक श्रौतसूत्र तथा एक गृह्यसूत्र, गोभिलीय गृह्यसूत्र तथा खादिर गृह्यसूत्र। सामवेद-साहित्य में आर्षेयकल्प भी सम्मिलित है। उसे मशक कल्पसूत्र भी कहते हैं। इसमें इसका वर्णन है कि सोमयागों में किस मन्त्र को किस राग में गाना है। यह सूत्र पञ्चविंश ब्राह्मण से अन्तरंग रूप से सम्बद्ध है तथा लाट्यायन श्रौतसूत्र से परवर्ती है। अथर्ववेद-साहित्य में हमें वैतान श्रौतसूत्र मिलता है जो कि बहुत परवर्ती काल का है; इसे अथर्ववेद के साथ इसलिए संयुक्त कर दिया गया है कि अन्य वेदों की तुलना में अथर्ववेद का भी समान महत्त्व स्थापित हो। कौशिक-सूत्र वैतान-सूत्र से अधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है।[2] कौशिक सूत्र अंशतः गृह्यसूत्र हैं। अन्य गृह्यसूत्रों के समान इनमें भी गृहस्थों के कर्मकाण्डों का वर्णन है परन्तु इनमें कुछ उनसे अधिक भी है। इनमें उन जादू-टोनों के कर्मकाण्डों के अनुष्ठान के विषय में सविस्तर निर्देश है जिनके लिए अथर्ववेद के मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार कौशिक सूत्र अथर्ववेद का बहुत महत्त्वपूर्ण पूरक ग्रन्थ है। यह प्राचीन भारतीय जादू-विद्या के ज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण स्रोत है। सामवेद से सम्बद्ध सामविधान ब्राह्मण भी जादू-विद्या की पुस्तक है। इसका नाम तो ब्राह्मण है, परन्तु यह भी सूत्र-साहित्य से सम्बद्ध है।

गृह्यसूत्रों के अनन्तर श्राद्ध-कल्पों तथा पितृमेध-सूत्रों का स्थान है। इनमें श्राद्धों तथा पितृयज्ञों के नियम हैं। इनमें से कुछ विभिन्न वैदिक शाखाओं के यज्ञ-

---

१. मानव श्रौतसूत्र सम्भवतः प्राचीनतम श्रौतसूत्र है। Garbe ने भी यह प्रतिपादित किया है कि यह निश्चित रूप से आपस्तम्ब से प्राचीनतर है क्योंकि आपस्तम्ब में इसकी चर्चा है। वाराह गृह्यसूत्र (सम्पादित—श्यामशास्त्री) किसी मैत्रायणीय शाखा से सम्बद्ध है। यह परवर्ती काल की रचना है।

२. ब्लूमफील्ड ने अपने अथर्ववेदीय सूत्रों के अनुवाद में कौशिकसूत्र से अनेक उद्धरण दिए हैं। कलन्द ने कौशिक-सूत्रों के कुछ प्रमुख संदर्भों का जर्मन में अनुवाद किया है। इन सूत्रों का सम्बन्ध जादू-टोने से है।

ग्रन्थ हैं और कुछ परवर्ती काल में लिखे गए हैं।[1] तथापि यह स्मरण रखना चाहिए कि सारा कर्मकाण्ड साहित्य इन सूत्रग्रन्थों में ही समाहित नहीं है। जिस प्रकार वेदों से सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदों के अनन्तर अन्य उपनिषद्-साहित्य भी लिखा गया इसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड-साहित्य के अनन्तर अन्य कर्मकाण्ड-साहित्य भी बहुत आधुनिक काल तक लिखा जाता रहा। श्रौत तथा गृह्यसूत्रों के अनन्तर परिशिष्ट ग्रन्थ आते हैं जिनमें उन्हीं की बातों का विस्तार किया गया है। गोभिलीय गृह्यसूत्र के परिशिष्ट—गृह्यसंग्रह परिशिष्ट (गोभिल-पुत्रकृत) तथा कर्मप्रदीप—महत्त्वपूर्ण हैं। अथर्ववेद के परिशिष्टों में[2] विशेषरूप से सब प्रकार के जादू-अनुष्ठानों, शकुनों तथा अनिष्टों इत्यादि पर प्रकाश डाला गया है। धर्म के इतिहास की दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है। प्रायश्चित्त-सूत्र प्राचीनतम परिशिष्टों में अन्यतम है और वैतान सूत्रों के भाग के रूप में है। परवर्ती काल के अन्य कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं—'प्रयोग-पद्धतियाँ' तथा कारिकाएँ। इनमें यज्ञीय कर्मकाण्डों का पद्यों में वर्णन है। इन ग्रन्थों में कहीं-कहीं किसी वैदिक शाखा के पूर्ण कर्मकाण्ड का वर्णन मिलता है, परन्तु अधिकांशतः किसी विशेष कर्मकाण्ड का वर्णन मिलता है। विवाह के रीति-रिवाजों, अन्त्येष्टि संस्कार तथा श्राद्ध के विशेष ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें कुछ तो प्रकाशित हैं और कुछ पाण्डुलिपियों के रूप में हैं।

वेदाङ्ग (व्याख्या ग्रन्थ)

'शिक्षा' ग्रन्थ (उच्चारण-स्वर विज्ञान) कम से कम कल्पसूत्रों जितने प्राचीन तो हैं ही। कल्पसूत्र वेदों के ब्राह्मण भाग के पूरक ग्रन्थ हैं तो वेदाङ्ग शिक्षा-ग्रन्थों के सत्र वेदों की संहिताओं स अन्तरङ्ग रूप से सम्बद्ध हैं।

शिक्षा का अर्थ है, शिक्षण या निर्देशन; विशेष रूप से 'उच्चारण का शिक्षण' अर्थात् संहिताओं के मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण, स्वर इत्यादि। इस वेदाङ्ग की सर्वप्रथम चर्चा तैत्तिरीय उपनिषद् (१. २) में मिलती है। वहाँ शिक्षा के छः अध्याय परिगणित किये गए हैं—वर्ण (आकार आदि), स्वर (उदात्त आदि), मात्राएँ (ह्रस्व आदि), बल (प्रयत्न विशेष), साम (समता-वर्णों का मध्यम वृत्ति से उच्चारण) तथा सन्तान (संहिता, संधि)। कर्मकाण्ड के ग्रन्थों के समान शिक्षा-ग्रन्थों का प्रणयन भी धार्मिक आवश्यकता से हुआ, क्योंकि किसी यज्ञ में कर्मकाण्ड का

---

१. द्रष्टव्य—मानव-श्राद्ध-कल्प, शौनकि-श्राद्ध-कल्प, पैप्पलाद-श्राद्ध-कल्प, कात्यायन-श्राद्ध-कल्प, गौतम-श्राद्ध-कल्प, बौधायन, हिरण्यकेशिन् तथा गौतम के पितृमेध सूत्र।

२. अथर्ववेद के शान्ति-कल्प में इन कर्मकाण्डों का वर्णन है, जिनके द्वारा अपशकुनों के दुष्प्रभावों का निवारण होता है। कभी-कभी अथर्ववेद के परिशिष्टों से अथर्ववेद के सूक्तों को समझने में भी सहायता मिलती है।

जानना ही अनिवार्य नहीं था अपितु मन्त्रों (पवित्र ग्रन्थों) का शुद्ध उच्चारण तथा पाठ करना भी उसी रूप में आवश्यक था, जिसमें वह परम्परा से चलता आया है। इससे यह स्वतःसिद्ध है कि शिक्षा-ग्रन्थों के प्रणयन से पूर्व वैदिक संहिताओं की पवित्र ग्रन्थों के रूप में मान्यता स्थापित हो चुकी थी तथा उच्चारण एवं ध्वनि-विज्ञान में परिशिक्षित सम्पादकों के द्वारा उनका एक निश्चित स्वरूप बन चुका था। उदाहरणार्थ, यह निश्चित रूप से सिद्ध किया जा सकता है कि उपलब्ध ऋग्वेद-संहिता में सूक्त तथा मन्त्र उस रूप में नहीं हैं जिस रूप में प्राचीन ऋषियों ने उनकी रचना की थी। यद्यपि सम्पादकों ने शब्दों में कोई परिवर्तन नहीं किया, तथापि उच्चारण में शब्दों की प्रारम्भिक तथा अन्तिम ध्वनियों में तथा सन्धि इत्यादि में उन्होंने अपने समय में प्रचलित ध्वनि-सिद्धान्तों को लगाया है जिससे कि मूल उच्चारण-प्रकार में अन्तर आ गया है। उदाहरणार्थ, संहिता में 'त्वं ह्यग्ने' मिलता है परन्तु (छन्द के आधार पर) यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्राचीन ऋषि इसका उच्चारण 'तुअं हि अग्ने' करते थे। इस प्रकार वैदिक संहिताएँ स्वयं शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा सम्पादित हैं, परन्तु इन संहिताओं में संहिता-पाठों के साथ-साथ पद-पाठ भी मिलते हैं, जिनमें पदों को अलग-अलग करके दिया गया है। निम्न उदाहरण से इन दोनों पाठों का अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। ऋग्वेद का निम्न मन्त्र संहिता-पाठ में इस प्रकार है—

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त।
स दे॒वाँ एह व॑क्षति॥

पद-पाठ में यह निम्न रूप से है—

अ॒ग्निः। पूर्वे॑भिः। ऋषि॑ऽभिः। ईड्यः॑। नूत॑नैः। उ॒त।
सः। दे॒वान्। आ। इ॒ह। व॒क्ष॒ति॒।

निस्सन्देह इन पद-पाठों की रचना उन धर्मशास्त्रियों द्वारा की गई है जो उच्चारण, ध्वनि-विज्ञान में परिशिक्षित थे। वस्तुतः वे वैयाकरण थे क्योंकि पद-पाठों में पूर्ण रूप से व्याकरण की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। इन पद-पाठों का काल पर्याप्त प्राचीन है। ऋग्वेद का पद-पाठकार 'शाकल्य' को कहा जाता है। ऐतरेय आरण्यक में इस आचार्य की चर्चा है।

इस प्रकार शिक्षा-सम्प्रदायों की प्राचीनतम रचनाएँ हैं—संहिता-पाठ तथा पद-पाठ। इस वेदाङ्ग के प्राचीनतम ग्रन्थ जो हमें उपलब्ध हैं, 'प्रातिशाख्य' नाम से हैं। इनमें पद-पाठ से संहिता-पाठ बनाने के नियम हैं। इनमें निम्न विषयों का विस्तार से वर्णन है—उच्चारण, स्वर सन्धि-वाक्य में प्रारम्भिक तथा अन्तिम ध्वनियों का परिवर्तन तथा स्वरों का दीर्घीकरण। इस प्रकार में संहिताओं के

उच्चारण की पूर्ण विधि इनमें वर्णित है। वेद की प्रत्येक शाखा का एक प्रातिशाख्य है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य का रचयिता शौनक कहा जाता है। इसे आश्वलायन का गुरु कहा गया है। यह प्रातिशाख्य पद्य में है। सम्भवतः यह किसी प्राचीनतर सूत्र-ग्रन्थ का परवर्ती रूप है। पाण्डुलिपियों तथा उद्धरणों में इसे 'सूत्र' नाम से व्याहृत किया गया है। अन्य प्रातिशाख्य ग्रन्थ हैं—तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध तैत्तिरीय प्रातिशाख्यसूत्र, वाजसनेयि संहिता से सम्बद्ध कात्यायन का वाजसनेयि प्रातिशाख्य सूत्र तथा अथर्ववेदसंहिता से सम्बद्ध अथर्ववेद-प्रतिशाख्य सूत्र।[1] यह सूत्र शौनक-सम्प्रदाय का माना जाता है। इसी प्रकार एक साम-प्रातिशाख्य भी है। पुष्पसूत्र सामवेद के उत्तरगान से सम्बद्ध है और एक प्रकार का प्रातिशाख्य ही है। पञ्चविध सूत्र में यज्ञों में सामों के गान की विधि वर्णित है।

दो दृष्टियों से इन प्रातिशाख्यों का विशेष महत्त्व है। प्रथम तो भारत में व्याकरण के इतिहास की दृष्टि से, जो कि इन प्रातिशाख्यों से प्रारम्भ होता है। यद्यपि ये ग्रन्थ अपने आप में व्याकरण के ग्रन्थ नहीं हैं परन्तु इनमें व्याकरण से सम्बद्ध विषयों का विवेचन है। अनेक प्राचीन वैयाकरणों के उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि उस समय व्याकरण का अध्ययन अत्यन्त विकसित अवस्था में था। इसके अतिरिक्त इन ग्रन्थों का दूसरा महत्त्व यह है कि इनसे हमें इस तथ्य का ज्ञान होता है कि वर्तमान समय में उपलब्ध वैदिक संहिताओं का पाठ वही है जो कि प्रातिशाख्यों के समय में था। अनेक शताब्दियों में इनमें एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं हुआ। ऋग्वेद प्रातिशाख्य से हमें ज्ञात होता है कि उस काल में ऋग्वेद का विभाजन दस मण्डलों में हो चुका था। इन मण्डलों में सूक्तों का क्रम भी वही है जो हमें आज मिलता है। शौनक ने विस्तृत और पूर्ण नियम दिए हैं। आज ऋग्वेद के मुद्रित संस्करणों में लगभग बिलकुल वही पाठ है—शब्दशः और अक्षरशः—जो उस समय था।

ये प्रातिशाख्य शिक्षा-वेदाङ्ग के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। परवर्ती काल में उच्चारण, ध्वनि-विज्ञान पर अन्य ग्रन्थ भी लिखे गए। उन्हें भी शिक्षा नाम से अभिहित किया जाता है तथा भारद्वाज, व्यास, वसिष्ठ तथा याज्ञवल्क्य इत्यादि इनके रचयिता माने जाते हैं। पद्यवद्ध स्मृतियों का प्राचीन वैदिक धर्मसूत्रों से जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध इन ग्रन्थों का प्राचीन प्रातिशाख्यों से है। इनमें भी इनके रचयिताओं के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल के प्रसिद्ध व्यक्तियों का नाम निर्दिष्ट किया गया है। इनमें से कुछ शिक्षाएँ प्राचीनतर हैं और उनका किसी न किसी प्रातिशाख्य से सीधा सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य से सम्बद्ध व्यास शिक्षा, जबकि कुछ अत्यन्त परवर्ती काल की हैं और उनका व्याकरण या वैदिक पाठ्य ग्रन्थों की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है।[2]

---

१. यह 'शौनकीया चतुरध्यायिका' से पृथक् ग्रन्थ है।

२. द्रष्टव्य—पाणिनीय शिक्षा, नारदीय शिक्षा, भारद्वाज-शिक्षा तथा शिक्षा-संग्रह।

शौनक तथा कात्यायन प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त वेदाङ्गों से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों के भी रचयिता माने जाते हैं। ये ग्रन्थ अनुक्रमणियाँ कहलाते हैं।[1] इनमें वैदिक संहिताओं की विषय-वस्तु आदि का वर्णन है। शौनक ने ऋग्वेद के सूक्तों के ऋषियों की एक अनुक्रमणी लिखी है। इसके अतिरिक्त छन्दों, देवताओं तथा सूक्तों की अनुक्रमणियाँ भी लिखी। कात्यायन ने ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी भी लिखी है, इसमें सूत्रों के रूप में निम्न विषय हैं—प्रत्येक सूक्त का प्रथम शब्द, मन्त्रों की संख्या, सूक्त के ऋषि का नाम तथा परिवार, प्रत्येक मन्त्र का देवता तथा मन्त्रों के छन्द। 'बृहद्देवता' तथा 'ऋग्-विधान' नामक दो ग्रन्थों का रचयिता भी शौनक को माना जाता है परन्तु इनका रचयिता शौनक नहीं है, तथापि ये ग्रन्थ उसकी शिष्य-परम्परा में प्रणीत हुए हैं। बृहद्-देवता में ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त और देवता की विस्तृत अनुक्रमणी है। इसमें देवताओं से सम्बद्ध पौराणिक उपाख्यान भी दिए गए हैं तथा इस प्रकार यह भारतीय आख्यान-साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह प्राचीनतम भारतीय आख्यान-साहित्य में अन्यतम है। इसमें त्रिष्टुप् तथा श्लोक छन्द प्रयुक्त हुए हैं। काल-दृष्टि से ये छन्द वैदिक तथा महाभारत आदि के छन्दों के मध्यवर्ती हैं। 'बृहद्देवता' के अनेक उपाख्यान परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप में महाभारत में मिलते हैं। 'ऋग्विधान' में सूक्तों तथा मन्त्रों के उच्चारण से प्राप्त होने वाली जादुई शक्ति का वर्णन है। इसका स्वरूप लगभग उपरिलिखित 'साम-विधान' ब्राह्मण-जैसा ही है।

अनुक्रमणियों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक संहिताओं का पाठ व स्वरूप प्राचीन काल में लगभग बिल्कुल वही था जो आजकल है।

यास्क के निरुक्त के विषय में भी यही कहा जा सकता है। उसमें ऋग्वेद संहिता के उद्धृत मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि मूल रूप से उसके समय में ऋग्वेद संहिता का वही पाठ था जो आजकल मिलता है। परम्परा से निघण्टु शब्दकोश को भी यास्क-कृत माना जाता है, परंतु तथ्य यह नहीं है—यास्क ने केवल इन शब्दों की व्याख्या की है। यास्क ने स्वयं कहा है कि यह शब्द-कोश प्राचीन ऋषियों के वंशजों के द्वारा वैदिक पाठ्य को सरलता से समझने के लिए रचित किया गया है। निघण्टु शब्दकोश तीन काण्डों में विभक्त है और इसमें शब्दों की पाँच सूचियाँ हैं। प्रथम काण्ड (नैघण्टुक काण्ड) में तीन सूचियाँ हैं। इनमें कुछ प्रमुख वैदिक शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संग्रह है। उदाहरण के लिए 'पृथ्वी' के लिए २१, 'स्वर्ण' के लिए १५, 'अन्तरिक्ष' के लिए १६, 'जल' के लिए १०१ शब्द हैं। 'गति' के लिए १२२ धातुएँ हैं। 'क्षिप्र' के लिए २६ विशेषण तथा क्रियाविशेषण हैं। 'बहु' के लिए १२ शब्द हैं। द्वितीय काण्ड (नैगम कांड या ऐकपदिक) में अस्पष्ट एवं कठिन शब्दों की सूची है तथा तृतीय काण्ड (दैवत काण्ड) में पृथ्वी-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय तथा

---

१. अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका अथर्ववेद संहिता की अनुक्रमणी है। सामवेद का तथाकथित आर्षेय ब्राह्मण भी एक अनुक्रमणी है।

द्युस्थानीय देवताओं की सूची है।[1] वेदों की व्याख्या का प्रारम्भ निघण्टु-जैसे शब्द-कोशों से हुआ। इन शब्दकोशों की व्याख्याएँ निरुक्त नाम से लिखी गईं जिनमें उदाहरण के रूप में अनेक वैदिक मन्त्रों की व्याख्या भी की गई। इसके अनन्तर अनेक वेद-भाष्य भी लिखे गए। यह निश्चित है कि यास्क से पूर्व अनेक निरुक्तकार हो चुके थे। यास्क के निरुक्त में लगभग २२ प्राचीन आचार्यों तथा १६ व्याख्या-सम्प्रदायों की चर्चा मिलती है। तथापि यास्क के ग्रन्थ को वेदाङ्ग निरुक्त-साहित्य का अन्तिम तथा सम्भवतः अत्यधिक पूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है।

छन्दस् तथा ज्योतिर्विद्या के भी अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलते, अपेक्षया कुछ परवर्ती ग्रन्थ ही प्राप्य हैं। सामवेद के लिए 'निदान-सूत्र' ग्रन्थ है। इसमें छन्दों के विषय में तो सामग्री है ही, इसके अतिरिक्त सामवेद के अन्य भागों (उक्थ, स्तोम, गान) पर भी प्रकाश डाला गया है। व्याकरण की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। परम्परा से यह पतञ्जलि-प्रणीत माना जाता है।[2] पिङ्गल के छन्दःशास्त्र को भी भारतीय लोग ऋग्वेद और यजुर्वेद के वेदाङ्ग के रूप में मानते हैं। इसकी दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। यह अत्यन्त परवर्ती काल का ग्रन्थ है क्योंकि इसमें परवर्ती संस्कृत-काव्य के छन्दों का ही वर्णन है।[3] ज्योतिष-वेदाङ्ग एक अत्यन्त लघु ग्रन्थ है। यह पद्य में लिखा गया है। इसकी यजुर्वेद-शाखा में ४३ पद्य हैं तथा ऋग्वेद शाखा में ३६। इनका मुख्य विषय है—संक्रान्ति के समय सूर्य और चन्द्र की स्थिति तथा २७ नक्षत्रों के वृत्त में नवचन्द्र और पूर्ण चन्द्र की स्थिति। इसमें राशि-मण्डल के तारों का भी वर्णन है तथा उनकी गणना के लिए नियमों का विधान है।[4] इस ग्रन्थ की अभी तक पूर्ण व्याख्या नहीं हुई है, परन्तु इसका पद्य में लिखा होना यह सिद्ध करता है कि यह परवर्ती काल का है।

व्याकरण पर प्राचीन वेदाङ्ग-ग्रन्थ पूर्णतया विलुप्त हो गए हैं। मूलरूप से यह विज्ञान भी वेदों की व्याख्या के लिए उद्भूत हुआ और वैदिक शाखाओं में विकसित हुआ होगा। आरण्यक ग्रन्थों में कहीं-कहीं एकाध व्याकरण के पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। व्याकरण का प्राचीनतम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पाणिनि-कृत 'अष्टाध्यायी' है परन्तु इसमें वैदिक भाषा के विषय में प्रसङ्गवश तथा अत्यल्प कहा गया है। इसका किसी वैदिक शाखा से निकट का सम्बन्ध नहीं है। पाणिनि का

---

१. निघण्टु शब्दकोश के काल के विषय में निश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। बेलवल्कर ने यास्क के निरुक्त का काल ७०० ई० पू० से माना है। बेलवल्कर का कथन है कि निघण्टु शब्दकोश की विशेष रूप से ऐकपदिक काण्ड की सहायता से ऋग्वेद के विभिन्न साहित्यिक स्तरों की व्याख्या की जा सकती है।

२. सामवेद के निदान का एक पद्य बृहद्देवता (५. २३) में उद्धृत है, परन्तु यह मुद्रित निदान-सूत्र में नहीं मिलता।

३. देखिये—पिङ्गलसूत्र (वेबर द्वारा सम्पादित)।

४. देखिये—आथर्वण ज्योतिष (भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित)।

व्याकरण उस समय लिखा गया था जबकि व्याकरण का विज्ञान धर्मशास्त्र की परिधि से बाहर हो चुका था। अन्य देशों की भाँति भारत में भी विज्ञान शनैः-शनैः धर्मशास्त्र की सीमा से बाहर होता गया।

वेदों का काल

वेदों के काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद (जो कि प्राचीनतम है) के काल के विषय में बड़े-बड़े विद्वानों में मतभेद है। अन्तर कुछ वर्षों का नहीं, हजारों वर्षों का है। कुछ विद्वान् परसीमा १००० ई० पू० मानते हैं तो दूसरे ३००० से २५०० ई० पू० के मध्य में। इस ग्रन्थ में इस विषय का विस्तार से विवेचन सम्भव नहीं है, परन्तु संक्षेप से कुछ कथन आवश्यक भी है। यह इसलिए और भी अधिक आवश्यक है कि प्राचीनतम भारतीय साहित्य के काल का प्रश्न भारत-यूरोपीय सभ्यता के साथ जुड़ा हुआ है। भारत-यूरोपीय सभ्यता की विवेचना प्रत्येक इतिहासवेत्ता, पुरातत्त्ववेत्ता तथा भाषा-वैज्ञानिक के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतीय आर्य-संस्कृति तथा उससे भी पूर्व भारत-यूरोपीय संस्कृति के विकास-क्रम का ज्ञान तभी सम्भव है जब भारत में आर्य संस्कृति के इन प्राचीनतम अभिलेखों के काल के विषय में कुछ ज्ञान हो जाए।

इन परिस्थितियों में यह मेरे लिए आवश्यक है कि मैं सामान्य पाठक के सम्मुख भी इस सारे प्रश्न की विवेचना करूँ और इस विषय में हमारे अज्ञान और हमारे ज्ञान की सीमाओं तथा उनके कारणों को उपस्थित करूँ।

यूरोप के विद्वानों को जब भारतीय साहित्य से सर्वप्रथम परिचय प्राप्त हुआ तब यह समझा गया कि सारे भारतीय साहित्यिक ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन काल के हैं। फ्रेडरिक श्लेगल ने उस समय यह आशा व्यक्त की थी कि "भारत आदिकालीन संसार के उस इतिहास पर प्रकाश डालेगा, जो अभी तक अन्धकार के गर्भ में था।" यहाँ तक कि इसके बहुत काल बाद १८५२ में वेबर ने अपने 'भारतीय साहित्य के इतिहास' में लिखा कि "सामान्य रूप में भारतीय साहित्य विश्व के उपलब्ध साहित्यों में प्राचीनतम है।" इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण (सन् १८७६) में उसने लिखा कि—"हाल ही में मिस्र में कुछ प्राचीन अभिलेख तथा पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं तथा असीरिया में कुछ साहित्य उपलब्ध हुआ है, परन्तु इनसे भारतीय साहित्य की सर्वाधिक प्राचीनता खंडित नहीं होती है।" इसके कारणों को उपस्थित करता हुआ वेबर कहता है कि—"भारतीय साहित्य को प्राचीनतम कहना पूर्णरूपेण युक्तिसङ्गत है। हमें अत्यन्त विशाल साहित्य के अभिलेख प्राप्त हुए हैं।" ये अभिलेख अंशतः भौगोलिक हैं तथा धर्म के इतिहास से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय आर्यों का निवास-स्थान पंजाब था।

वैदिक साहित्य के परवर्ती भागों से हमें ज्ञात होता है कि वे धीरे-धीरे पूर्व में गङ्गा तक फैल गए। रामायण तथा महाभारत के अध्ययन से हमें ब्राह्मण-धर्म के दक्षिण की ओर विस्तार का पता चलता है ; 'जंगली तथा शक्तिशाली जातियाँ' इस विशाल भूखण्ड में बसी हुई थीं। इनके ब्राह्मणीकरण में अनेक शताब्दियाँ लगी होंगी। ऋग्वेद के सामान्य प्रकृति-पूजा के सूक्तों से उपनिषदों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों के विकास में भी अनेक शताब्दियाँ लगी होंगी। मेगस्थनीज़ ने ३०० ई० पू० में जिस पुराण-विद्या तथा पूजा-पद्धति का वर्णन किया है उसके विकास में भी पर्याप्त काल लगा होगा। वेबर ने वैदिक काल के निर्णय का इससे अधिक प्रयत्न नहीं किया। उसका तो यह कथन है कि इस प्रकार का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

प्राचीनतम भारतीय साहित्य के काल-निर्णय की दिशा में सर्वप्रथम प्रयत्न मैक्समूलर ने किया। १८५९ में उसका ग्रन्थ 'प्राचीन संस्कृत-साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ। भारतीय तिथि-क्रम का निर्णय करते हुए उसने कहा कि प्राचीन भारतीय इतिहास में ये दो निश्चित तिथियाँ हैं—सिकन्दर का आक्रमण तथा बौद्ध धर्म का आविर्भाव। मैक्समूलर की युक्तियाँ निम्न हैं—"बौद्ध धर्म, ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिए सम्पूर्ण वैदिक साहित्य—चारों वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्—बुद्ध के आविर्भाव से—अर्थात् ५०० ई०पू० से—पूर्ववर्ती हैं। वेदाङ्ग या सूत्र-साहित्य बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव तथा प्राथमिक प्रचार के दिनों का समकालिक हो सकता है। सूत्र-ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-साहित्य उनसे पूर्व पूर्णरूप से विकसित हो चुका था। इसलिए सूत्र-ग्रन्थों का काल लगभग ६०० से २०० ई० पू० है।" मैक्समूलर का यह काल-विभाग प्रारम्भ से ही पूर्णतया काल्पनिक है। "ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राचीन और परवर्ती आचार्यों की सुदीर्घ सूची है। इनके विकास के लिए कम से कम दो सौ वर्ष चाहिएँ,"—इस युक्ति के आधार पर मैक्समूलर का कथन है कि "इनका काल ८०० से ६०० ई० पू० होना चाहिए। इनसे पूर्व वैदिक संहिताओं के व्यवस्थित होने के लिए भी कम से कम दो सौ वर्ष चाहिएँ। इस प्रकार इनका काल अनुमानतः १००० से ८०० ई० पू० माना जा सकता है। जिन वैदिक मन्त्रों को संहिताओं के रूप में सम्पादित एवं व्यवस्थित किया गया, उनकी रचना के लिए भी कम से कम २०० वर्ष चाहिएँ। अतः इनकी रचना का काल १००० ई० पू० से पूर्व होना आवश्यक है।" इस प्रकार मैक्समूलर ने २०० वर्ष 'ब्राह्मण-काल' के लिए तथा २०० वर्ष 'मन्त्र (संहिता)-काल' के लिए माने और पुनः २०० वर्ष वैदिक काव्य-रचना के लिए माने (यद्यपि इस अन्तिम २०० वर्ष के काल पर उसने अधिक बल नहीं दिया है। इस प्रकार मैक्समूलर ने वैदिक काव्य के प्रारम्भ का काल १२०० से १००० ई० पू० कथित किया।

ऊपर की गणनाओं के पर्यवलोकन से यह स्पष्ट ही है कि विभिन्न साहित्यिक

युगों के विकास के लिए २०० वर्ष का निर्धारण किसी प्रमाण पर आधृत नहीं है, शुद्ध रूप से काल्पनिक है तथा मैक्समूलर स्वयं भी वस्तुतः इससे अधिक नहीं कहना चाहता था कि इतना काल 'कम से कम' माना जाना चाहिए तथा ऋग्वेद संहिता की अवर सीमा निर्विवाद १००० ई० पू० से पूर्व होनी चाहिए। वह अपनी १२००-१००० ई० पू० तिथि को सदा ही इस रूप में मानता रहा कि इससे परवर्ती काल नहीं माना जा सकता। १८८९ में 'भौतिक धर्म' पर दिए गए अपने 'ग्रिफर्ड व्याख्यानों' में उसने स्पष्ट रूप में कहा कि—"हम इसकी आशा नहीं कर सकते कि हम इनके प्रारम्भ होने के काल का निर्धारण कर लें। "वैदिक सूक्तों की रचना १००० या १५०० या २००० या ३००० ई० पू० हुई, इनका निर्णय इस संसार में कभी भी कोई नहीं कर सकेगा।" तथापि यह उल्लेखनीय है कि विज्ञान के क्षेत्र में भी किसी बात को पुनः-पुनः कहते रहने का कितना प्रभाव होता है। मैक्समूलर की वैदिक तिथिक्रम की स्थापना किन्हीं तथ्यों पर आधृत न होकर विशुद्ध कल्पना-मात्र थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, पुनः-पुनः श्रवण और कथन के द्वारा इसका महत्त्व बढ़ता गया और लोग यह समझने लगे कि यह वैज्ञानिक आधारों पर सिद्ध किया गया है। न तो किसी ने कोई नई युक्तियाँ दीं और न कोई वास्तविक प्रमाण उपस्थित किये। लोगों की यह आदत हो गई है कि बिना सोचे-विचारे कह दें कि मैक्समूलर ने यह सिद्ध कर दिया है कि ऋग्वेद का काल १२००-१००० ई० पू० है। इस आदत की ह्विटनी[१] ने भी आलोचना की है। एल० फॉन श्रेडर[२] जैसे कुछ विद्वान् इस तिथि को १५०० या २००० ई० पू० तक ले गए। यद्यपि यह सम्मति उन्होंने डरते-डरते बड़े संकोच के साथ दी और जब जैकोबी ने ज्योतिष की गणनाओं के आधार पर यह कहा कि वैदिक साहित्य का काल ३००० ई० पू० है, तो विद्वानों ने बहुत शोर मचाया और उसे विधर्मी करार दे दिया। आज भी अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् आश्चर्य से सिर हिलाते हुए कहते हैं कि पता नहीं, जैकोबी ने वेद के काल के विषय में ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण बात कैसे कह दी; परन्तु मुझे यह कहते हुए आश्चर्य है कि ये सिर हिलाने वाले विद्वान् यह भूल जाते हैं कि अब तक जो सम्मति प्रचलित है, वह कितनी कच्ची नींव पर खड़ी है—और ये विद्वान् उसका बड़े उत्साह से समर्थन करते रहते हैं।

ज्योतिष-गणनाओं के आधार पर प्राचीनतम भारतीय साहित्य के काल-निर्णय करने का विचार कोई नया नहीं है। इससे पूर्व लुड्विग ने सूर्य के ग्रहणों के आधार पर यह प्रयत्न किया था। प्राचीन भारत के पुरोहितों को यज्ञ के काल का निर्धारण करना होता था। इसलिए पंचाङ्ग (तिथि-पत्र) बनाने का कार्य भी उनका

---

१. *Oriental and Linguistic study*, First Series, New york, 1872, p. 78.

२. *Indiens Literatur und Kultur*, pp. 291 f.

ही था। उनका कार्य वही था जो प्राचीन रोम में धर्माध्यक्षों (पादरियों) का था। इन भारतीय पुरोहितों को विभिन्न यज्ञों के समय का विधान करने के लिए तारक-मण्डल का निरीक्षण करना होता था। इसलिए ब्राह्मणों तथा सूत्र-ग्रन्थों में गणित-ज्योतिष तथा तिथिक्रम-सम्बन्धी बहुत सामग्री मिलती है। इन गणनाओं में नक्षत्रों का बहुत महत्त्व है। इनमें तथाकथित नक्षत्रों का विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण योग है। प्राचीन भारतीयों ने यह निरीक्षण किया था कि चन्द्रमा को अपनी नाक्षत्र कक्षा में २७ दिन और रात का समय लगता है तथा इस नाक्षत्र मास में प्रत्येक रात्रि वह पृथक् राशि में रहता है। ये सब नक्षत्र-राशियाँ क्रान्ति-वृत्त (रवि-मार्ग) से बहुत दूरी पर स्थित नहीं हैं और इनको मिलाकर एक राशि-मण्डल (ज्योतिष-चक्र) सा बन जाता है जिसमें एक के बाद एक २७ नक्षत्र आ जाते हैं और इस चन्द्रमा-संबंधी ज्योतिष-चक्र (राशि-मण्डल) का ज्ञान किसी समय-विशेष में चन्द्रमा की स्थिति को जानने के लिए उपयोगी था।[1] वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक संदर्भ हैं जिनमें यह कहा गया है अमुक-अमुक यज्ञ अमुक-अमुक नक्षत्र में किया जाना चाहिए, अर्थात् जब चन्द्रमा इस नक्षत्र की संयुक्ति में आता है। इससे भी अधिक संख्यक ऐसे संदर्भ हैं जिनमें नक्षत्रों का पूर्ण चन्द्र तथा नवचन्द्र से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इससे पूर्वतर साहित्य में प्रायः इन २७ नक्षत्रों में से १२ नक्षत्रों का ही संबंध स्थापित किया गया है और इन नक्षत्रों के नामों से ही १२ मासों के नाम बने हैं। प्रारम्भ में मासों के नाम केवल चान्द्रमासों के लिए ही प्रयुक्त होते थे, परन्तु परवर्ती काल में ये सौर वर्ष के १२ भागों के लिए भी प्रयुक्त होने लगे। वैदिक काल में ही ऐसे अनेक प्रयत्न किये गए थे जिनसे कि चान्द्र और सौर वर्ष में तालमेल स्थापित किया जाए। यह प्रश्न उठता है कि पूर्णचन्द्र के कुछ नक्षत्रों के वर्ष की ऋतुओं तथा वर्ष के प्रारम्भ के साथ सम्बन्ध-स्थापन करके क्या कुछ ऐसे परिणाम नहीं निकाले जा सकते जिनके आधार पर उस काल का निर्धारण किया जा सके जिससे सम्बद्ध पंचाङ्ग-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है? सन् १८९३ में बॉन में जैकोबी तथा बम्बई में भारतीय विद्वान् बाल गङ्गाधर तिलक इन ज्योतिष-सम्बन्धी गणनाओं के आधार पर स्वतन्त्र रूप से ऐसे परिणामों पर पहुँचे और ये परिणाम अत्यन्त चकित कर देने वाले थे। दोनों इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्राह्मण-काल में कृत्तिकाएँ (उस

१. इस चन्द्रमा-सम्बन्धी राशि-मण्डल का प्रयोग आज भी भारत में होता है। इसके साथ ही सूर्य-सम्बन्धी राशिमण्डल का भी प्रयोग होता है। सूर्य के आधार पर गणना सम्भवत: १०० ई० पू० तक प्रारम्भ नहीं हुई थी और इसका प्रारम्भ ग्रीक ज्योतिर्विदों के सिद्धान्तों के प्रभाव से हुआ था। चन्द्रमा-सम्बन्धी राशि-मण्डल की समस्या तथा भारतीय नक्षत्रों, अरबों की मेनाजिल और चीनियों के सीयू (*Sieou*) का पारस्परिक सम्बन्ध अभी तक असमाहित है। मैक्डॉनल और कीथ की वैदिक इण्डेक्स में इसका उद्भव बेबिलोनिया से हुआ, इसके पक्ष में युक्तियाँ दी गई हैं। पक्ष-विपक्ष की विस्तृत युक्तियों के लिए देखिये बी० वी० कामेश्वर अय्यर। *Ind. Ant.*

समय नक्षत्र-कर्म का प्रारम्भ कृत्तिकाओं से होता था) वासंतिक विषुव के समकालिक थीं तथा वैदिक ग्रन्थों में इससे भी पुराने पंचाङ्ग के चिह्न मिलते हैं। वहाँ वासंतिक विषुव के 'मृगशिरस्' नक्षत्र में होने की चर्चा है। अयन-गति के आधार पर गणना करने से यह प्रतीत होता है कि लगभग २५०० ई० पू० में वासंतिक विषुव कृत्तिका नक्षत्र में था तथा लगभग ४५०० ई० पू० में मृगशिरस् नक्षत्र में; परन्तु तिलक के अनुसार कुछ वैदिक पाठ्य ६००० ई० पू० में लिखे गए; जैकोबी ४५०० ई० पू० से आगे नहीं जाता। जैकोबी के अनुसार इस काल में सभ्यता का प्रारम्भ तथा विकास देखा जा सकता है और यही काल ऋग्वेद का काल है। जैकोबी के अनुसार यह काल ४५०० से २५०० ई० पू० तक फैला हुआ है। ऋग्वैदिक सूक्तों का संहिताओं के रूप में ग्रथन इस काल के उत्तरोत्तर काल में हुआ। जैकोबी ने अपनी इस सम्मति के समर्थन में एक दूसरा ज्योतिष-सम्बन्धी प्रमाण भी प्रस्तुत किया है। गृह्यसूत्रों में यह वर्णन है कि विवाह के बाद जब वर वधू को अपने घर में लेकर आता है तो यह विधान है कि वे दोनों मौन होकर तब तक वृषभ-चर्म पर बैठे रहें जब तक तारे न निकल आयें। तारों के निकाल आने पर वर वधू को कहता है कि 'ध्रुव तारे को देख' और उस समय यह प्रार्थना की जाती है। उदाहरणार्थ—'तू ध्रुव (स्थिर) हो, मेरे घर में समृद्धि को प्राप्त करती हुई।' उत्तर में पत्नी कहती है—'तू ध्रुव है। मैं भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि मैं अपने पति के घर में ध्रुव रहूँ।' विवाह-विधि में इस ध्रुव तारे को देखने की चर्चा से ज्ञात होता है कि उस काल में यह स्थिर दिखाई देने वाला अत्यन्त चमकीला तारा आकाश में दर्शकों को सम्मुख स्थिर रूप में दिखाई देता होगा। अयन-गति के परिणामस्वरूप आकाशीय भूमध्य-रेखा खिसकती जाती है और इस प्रकार उत्तरीय ध्रुव भी दूर होता जाता है और रवि-मार्ग (क्रान्ति-वलय) के चारों ओर लगभग २६०० वर्ष में साढ़े तेईस त्रिज्या का वृत्त बनाता है। इस प्रकार एक के वाद दूसरा तारा धीरे-धीरे उत्तरी ध्रुव की ओर गति करता है और उत्तरी तारा या ध्रुव तारा बन जाता है। परन्तु बीच-बीच में एक चमकीला तारा भी उत्तरी ध्रुव के इतना समीप पहुँच जाता है कि सामान्य दृष्टि से उसे 'स्थिर रहने वाला' (ध्रुव) कहा जा सकता है। वर्तमान काल में अल्का नाम का तारा उत्तरीय गोलार्ध में ध्रुव तारा है। यह लिटिलबीयर में द्वितीय श्रेणी का तारा है। निर्विवाद ही वैदिक साहित्य में ध्रुव तारे के नाम से इस तारे की चर्चा नहीं हो सकती क्योंकि २००० वर्ष पूर्व भी यह तारा उत्तरी ध्रुव से इतना दूर था कि इसे 'स्थिर रहने वाला' (ध्रुव) नाम से अभिहित करना सम्भव नहीं था। २७८० ई० पू० ऐसा एक उत्तरी ध्रुव का तारा था जिसे ध्रुव नाम दिया जा सकता है। इस तारे को अल्फा ड्राकोनिस कहते हैं। यह ५०० वर्ष से कुछ अधिक उत्तरी ध्रुव के इतना निकट रहा कि सामान्य दृष्टि से देखने में स्थिर दिखाई देता था। इस प्रकार गृह्यसूत्र में वर्णित ध्रुव तारा यह अल्फा ड्राकोनिस ही हो सकता है और इस विवाह-विधि के लेखन का समय ३००० ई० पू० के पूर्वार्द्ध में

निर्धारित करना होगा। ऋग्वेद के विवाह-सम्बन्धी मन्त्रों में ध्रुव के दर्शन की चर्चा नहीं है। इसके आधार पर जैकोबी का यह विचार है कि यह सम्भव है कि ऋग्वेद के काल में विवाह-विधि में ध्रुव का प्रयोग न होता हो—और यह परवर्ती काल में प्रारम्भ हुआ हो। इसलिए इस ऋग्वैदिक सभ्यता का काल ३००० ई० पू० से पूर्व का सिद्ध होता है।"[1]

जैसा कि कहा जा चुका है कि जैकोबी तथा तिलक के इस मत का बहुत उग्र विरोध हुआ। कृत्तिकाओं से सम्बन्ध रखने वाली युक्ति के विरोध में यह गम्भीर आपत्ति उपस्थित की गई कि अत्यन्त प्राचीन काल के भारतीयों के कार्य-कलाप में नक्षत्रों का प्रयोग उनके चन्द्रमा के सम्बन्ध की दृष्टि से स्थिति के आधार पर था न कि सूर्य से, तथा अत्यन्त प्राचीन साहित्य में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ विषुवों की चर्चा हो। उस सन्दर्भ का, जहाँ यह लिखा है कि कृत्तिकाएँ 'पूर्व' से विभिन्न दिशा में नहीं जातीं, सम्भवतः यह अर्थ नहीं किया जाना चाहिए कि वे 'ठीक पूर्व' में उदय होती हैं (यह स्थिति ३००० ई० पू० में होती है और यह सिद्ध करती है कि प्राचीन भारतीयों को वसन्त-विषुव का ज्ञान था)। अधिक सम्भव यह है कि इसकी शुद्ध व्याख्या यह है कि वे (कृत्तिका नक्षत्र) पूर्व दिशा में प्रत्येक रात्रि में काफी समय—कई घण्टे तक—दिखाई देते रहते हैं। यह स्थिति ११०० ई० पू० में थी।[2] विभिन्न सहस्राब्दियों में 'नव वर्ष' की युक्ति पर विचार करें तो इन प्रश्नों का निर्णय अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्ष के प्रारम्भ की चर्चा कहीं वसन्त से है, तो कहीं शरद् ऋतु से और कहीं वर्षा ऋतु से। इसके अतिरिक्त ऋतुओं की संख्या भी कहीं तीन कही गई है

---

१. शतपथब्राह्मण २. १. २३। देखिए ओल्डनबर्ग तथा जैकोबी ZDMG ४८ शङ्कर बी० दीक्षित, (Ind. Ant; 24, 1185; बी० वी० कामेश्वर अय्यर—*The Age of the Brāhmaṇas*; धीरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय—*The Hindu Nakshatras*. ये सब शतपथ ब्राह्मण के संदर्भ के आधार पर शतपथब्राह्मण का काल ३००० ई० पू० मानते हैं।

२. इस व्याख्या के लिए मैं श्री A. Prey का ऋणी हूँ। उसने यह सिद्ध किया है कि लगभग ११०० ई० पू० में कृत्तिका-मण्डल पूर्वी बिन्दु के उत्तर की ओर लगभग १३०° ऊपर उठा, वह पूर्वी रेखा के समीपतर आता गया तथा उदय के अनन्तर २९° की ऊँचाई पर उसने २h ११m पर अतिक्रमण किया, यह दृश्य २५° उत्तरी अक्षांश पर स्थित स्थान से दृष्टिगोचर होता था। इस प्रकार यह लगभग ठीक पूर्व में पर्याप्त काल रहता है और इसलिए दिशामान के लिए सुविधाजनक आधार था। बौधायन-श्रौतसूत्र (२७.५) के एक संदर्भ के आधार पर भी इसकी पुष्टि होती है। वहाँ यह कथित है कि "यज्ञ-भूमि पर बनाई जाने वाली कुटीर के स्तम्भों का मुख पूर्व की ओर हो और इस स्थिति का निर्णय कृत्तिकामण्डल के प्रकट होने पर होगा क्योंकि वह पूर्वी प्रदेशों से हटता नहीं।" यह तथ्य है कि २१०० ई० पू० या ३१०० ई० पू० के लगभग कृत्तिका-मण्डल पूर्वी रेखा का पहले ही स्पर्श कर चुका था। परन्तु उसने दक्षिण की ओर इतनी शीघ्रता से गति की कि वह दिशामान के लिए उपयोगी न रहा।

कहीं पाँच और कहीं छः।[1] ध्रुव तारे की युक्ति पर भी बहुत आपत्तियाँ उठाई गई हैं। इस बात की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि 'लिटिलबीयर' में से कोई गौण तारा (११०० ई० पू० तथा उसके बाद भी) ध्रुव तारे के रूप में निर्मल भारतीय आकाश से दिखाई देता था।[2] कुछ भी हो, ऋग्वेद में यदि विवाह-विधि में ध्रुव तारे के देखने की चर्चा नहीं है, तो इस आधार पर से किसी परिणाम पर पहुँचना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि ऋग्वेद के विवाह-सूक्त में सभी वैवाहिक विधियों या आचारों की चर्चा नहीं है। और इस बात के लिए कोई कारण नहीं है कि औरों की अपेक्षा इसी खास विधि की चर्चा को आवश्यक समझा जाए।

यद्यपि तिलक तथा जैकोबी को अपनी ज्योतिष-सम्बन्धी युक्तियों से यह सिद्ध करने में सफलता नहीं हुई, तथापि इससे यह लाभ हुआ कि विद्वानों को यह प्रेरणा मिली कि वे इस दिशा में विचार करें कि क्या कोई और युक्तियाँ भी हो सकती हैं जिनके आधार पर प्राचीन भारतीय संस्कृति का काल प्राचीनतर सिद्ध होता हो; और वस्तुतः भारतीय इतिहास के दृष्टिकोण से इस मान्यता का खण्डन करने वाली कोई युक्ति नहीं है कि वैदिक साहित्य का काल कम-से-कम ३००० ई० पू० है तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति का काल कम-से-कम ४००० ई० पू०। इसके विपरीत, मैक्समूलर द्वारा वैदिक काल-विषय में की गई १२०० या १५०० ई० पू० की कल्पना आज की खोजों के आधार पर निराधार सिद्ध हो जाती है। भारत के राजनैतिक, साहित्यिक तथा धार्मिक इतिहास के विषय में आज का ज्ञान उस कल्पना को स्वीकार नहीं कर सकता। मेरे विचार में यह तथ्य आधुनिक विद्वानों—विशेष रूप से जी० बुह्लर—के द्वारा अकाट्य युक्तियों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है।[3]

शिलालेखों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ३०० ई० पू० में, आर्य भारतीयों ने दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त की थी तथा वहाँ ब्राह्मण-संस्कृति का प्रसार किया। तथापि बौधायन तथा आपस्तम्ब-जैसे विद्वानों के वैदिक अध्ययन के सम्प्रदायों का दक्षिण भारत में उदय हुआ। इस तथ्य के आधार पर इस बात की बहुत सम्भावना है कि आर्यों द्वारा दक्षिण भारत की विजय ३०० ई० पू० से बहुत पहले हुई हो—सम्भवतः ७०० या ८०० ई० पू० में, क्योंकि विजय के तत्काल बाद सारे सुदूर दक्षिण प्रदेश में आर्य भारतीय बस गए हों और इस प्रदेश का यहाँ तक ब्राह्मणीकरण कर दिया हो कि वैदिक अध्ययन-सम्प्रदायों का भी उद्भव हो गया हो,

---

१. शतपथब्राह्मण (१२. ८. २. ३५) में कहा गया है—"सब ऋतुएँ प्रथम हैं, सब मध्यम हैं और सब अन्तिम हैं।

२. प्रोफेसर प्रे (Prey) का यह विचार है कि 'लिटिल बीयर' में दीप्ति-मात्रा के अनुसार व्यवस्थित पञ्चम से षष्ठ तारे ग्रम ब्रिज २००१ तथा २०२९ भारत में आकाश के निर्मल होने पर सरलता से दिखाई देते हैं। २००१, १२५० ई० पू० में १७' तक ध्रुव के पास पहुँचा और २०२९, १५०० ई० पू०, में ८' तक।

३. *Ind. Ant.* 23 1894, pp. 245 ff.

यह असम्भव-सा है। जैसा कि बुह्लर कहता है[1] कि "भारतीय आर्यों ने ७०० या ६०० ई० पू० में दक्षिण भारत को विजय किया, इसलिए यह मान्यता कि भारतीय आर्य भारत के उत्तरी कोने में तथा पूर्वी पाकिस्तान में लगभग १२०० या १५०० ई० पू० में निवास करते थे, पूर्णरूपेण असम्भव है। वैदिक समय की भारतीय आर्य-जाति अनेक उपजातियों में विभक्त थी और उनमें परस्पर निरन्तर युद्ध होते रहते थे। उन्होंने भारत के १,२३,०००, वर्गमील विस्तृत भू-भाग पर (इसमें पंजाब, आसाम तथा बर्मा का प्रदेश सम्मिलित नहीं है) ५०० या ६०० या ८०० वर्ष भी आधिपत्य करके, वहाँ पर राज्य स्थापित कर लिए हों, इसकी कल्पना भी उपहासास्पद है; विशेष रूप से, जबकि यह सर्वसम्मति से स्वीकृत है कि इस प्रदेश में केवल जंगली जातियाँ ही निवास नहीं करती थीं वरन् इसमें ऐसी जातियाँ भी थीं जिनकी एक सभ्यता थी, जो कि आक्रान्ताओं से बहुत अधिक हीनतर नहीं थी। इन तथा ऐसे कार्यों के लिए जितने अधिकतम काल का कथन किया जाता है उससे दुगुने से भी अधिक काल अपेक्षित है।"

इस विषय में यह कहा जा सकता है—जैसा कि ओल्डनबर्ग ने कहा भी है—कि ७०० वर्ष का काल बड़ा है जिसमें बहुत-कुछ हो सकता है। ओल्डनबर्ग कहता है[2]—"ज़रा ध्यान से सोचिये कि अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी विस्तृत प्रदेशों में क्या और कितना हो गया।" ओल्डनबर्ग द्वारा की गई यह तुलना स्पष्ट ही अत्यन्त असंगत है। अमेरिका में जिन जातियों तथा सभ्यताओं का परस्पर सम्पर्क हुआ, वे उससे बहुत पृथक् थीं जिनके विषय में हम प्राचीन भारत के संदर्भ में विचार कर रहे हैं। जहाँ तक प्राचीन भारत में राजनीतिक स्थितियों का संबंध है, हमें ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों तथा महाभारत-आदि वीरकाव्यों से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन तथा अत्यन्त प्राचीन समय में भी भारत में विभिन्न आर्य जातियों में परस्पर निरन्तर युद्ध होते रहते थे। इन परिस्थितियों में आर्यों के द्वारा भारत-विजय का कार्य कदम-कदम करके, अत्यन्त मन्द गति से ही हो सकता है। वस्तुतः, यदि हम भारतीय साहित्य के दो प्राचीनतम क्रमिक रूपों की परस्पर तुलना करें तो हमें ज्ञात होता है कि आर्यों की पूर्व तथा दक्षिण भारत में प्रगति अत्यन्त मन्द गति से हुई। ऋग्वेद के सूक्तों से हमें ज्ञात होता है कि भारत के आर्य जन, भारत के अत्यन्त उत्तर-पश्चिम में तथा पूर्वी अफगानिस्तान में ही रहते थे। तथापि जिस काल में ऋग्वेद के सूक्त उद्भूत हुए, वह अवश्य ही अनेक शताब्दियों का है। यह तथ्य इससे सिद्ध है कि हमें ऋग्वेद के सूक्तों में विभिन्न क्रमिक रूप—पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भाग—दृष्टिगोचर होते हैं। यह तथ्य इससे भी सिद्ध होता है कि अनुक्रमणियों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिन्हें 'भ्रान्ति-वश' 'ऋषि' या 'सूक्तों का रचयिता'

---

१. *Ind. Ant.* 23, 1894, P. 247.

२. ZDMG, Vol. 49, p. 479.

कहा गया है, ऋग्वेद के सूक्तों में उनके विषय में यह कहा गया है कि ये ऋषि अत्यन्त प्राचीन काल में हुए। सूक्तों के रचयिता भी पुनः-पुनः 'प्राचीन मन्त्रों की', 'प्राचीन विधि से रचित मन्त्रों की' चर्चा करते हैं; मानो यह काव्य-परम्परा अनादि काल से चली आ रही है।[१] ब्लूमफील्ड[२] ने गणना करके यह बताया है कि ऋग्वेद में कुल पंक्तियाँ लगभग ४०,००० हैं, इनमें लगभग ५००० पुनरावृत्ति-रूप हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जब ऋग्वेद की रचना हुई, उस समय अर्वाचीनतर कवि, प्राचीनतर कवियों की पंक्तियों तथा अभिव्यक्तियों को अपने मन्त्रों में इच्छानुसार उपनिबद्ध कर लेते थे, तथा मन्त्रों की ऐसी पंक्तियों की संख्या बहुत थी जो कि सर्वत्र फैली हुई थी। कोई भी मन्त्रकर्त्ता स्वेच्छा से इन पंक्तियों को अपने मन्त्र में उपनिबद्ध कर सकता था। अनेक स्थानों पर मैंने यह चर्चा की है कि ऋग्वेद-संहिता वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत प्राचीन है। वैदिक गद्य-ग्रन्थों की अपेक्षा ऋग्वेद के सूक्तों की भाषा अत्यधिक प्राचीन (आर्ष) है। धार्मिक विचार तथा सभ्यता की स्थितियाँ भी बिल्कुल भिन्न हैं। ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनसे पूर्व न केवल ऋग्वेद बल्कि अन्य वेद भी लिखे जा चुके थे और इनको सुदूर अतीत के पवित्र ग्रन्थ के रूप में माना जाता था। वस्तुतः, प्रायः इन मन्त्रों का अर्थ उन्हें समझ ही नहीं आता था। प्राचीन आख्यान भी विस्मृत हो चुके थे। इन दो साहित्यों की परस्पर विभाजक दूरी कितनी है, इसके लिए मैं पाठकों को स्मरण दिलाना चाहूँगा कि वे शुनःशेप-आख्यान पर विचार करें जो कि ऋग्वेद में तथा अत्यन्त परवर्ती रूप में ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है।

जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है कि यह प्राचीन वैदिक साहित्य लेखबद्ध नहीं किया जाता था, वरन् मौखिक परम्परा में ही चलता था। इस दृष्टि से भी इसके विकास के लिए अधिकतर काल अपेक्षित है। आज जो वैदिक ग्रन्थ मिलते हैं और सैकड़ों, जो विलुप्त हो गए हैं, विभिन्न वैदिक शाखाओं में उनका जो निश्चित रूप बना, उसके लिए शिष्यों और गुरुओं की कई पीढ़ियाँ आवश्यक हैं।[३] इसलिए भाषा-वैज्ञानिक-साहित्यिक तथा सांस्कृतिक आधारों पर यह निर्विवाद स्वीकार करना होगा कि प्राचीनतम सूक्तों के काल से संहिता के रूप में संग्रह होने तक कई शताब्दियाँ गुजर चुकी होंगी। कोई सामान्य अध्येता भी यह देख सकता है कि ऋग्वेद-संहिता प्रारम्भिक ग्रन्थ न होकर, अत्यन्त दीर्घकालीन साहित्य की परिणति है। इसी प्रकार संहिताओं और ब्राह्मणों के अन्तराल में कई शताब्दियाँ अपेक्षित हैं। ब्राह्मण-

१. See Ludwig, *Der Ṛgveda* III, pp. 180 f.

२. देखिए *The Vedic Concordance, Ṛgveda Repetitions.*

३. वैदिक ग्रन्थों का लेखन तब शुरू हुआ कि जब उनका पूर्णतया अवबोधन दुष्कर हो गया था और परम्परा में व्यवधान आ चुका था। यही कारण है कि सब वैदिक ग्रन्थों में विभिन्न विषयों के और विभिन्न कालों के संदर्भ प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए कुछ उपनिषदें संहिताओं तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध होती हैं।

ग्रन्थों में भी अनेक अध्ययन-शाखाएँ एवं उपशाखाएँ हैं; गुरुओं की सुदीर्घ सूचियाँ हैं, पुनः-पुनः अनेक अत्यन्त प्राचीन गुरुओं के नामों की चर्चा है। इन सबके उद्भव और विकास के लिए भी अनेक शताब्दियों का काल अपेक्षित है।[१] ब्राह्मण-साहित्य अत्यन्त विशाल है। सारे भारत में ब्राह्मण-संस्कृति का प्रसार हुआ। शास्त्रीय एवं पारिभाषिक ज्ञान का विकास हुआ और पुरोहितों का सर्वाधिक वर्चस्व स्थापित हुआ। इस सब कार्य के लिए अनेक शताब्दियाँ चाहिएँ। और जब हम उपनिषदों पर विचार करते हैं और देखते हैं कि विभिन्न उपनिषदें विभिन्न कालों में लिखी गईं तथा इनमें भी अनेक प्राचीन आचार्यों की चर्चा है तो यह भी एक सुदीर्घ परम्परा का परिणाम है। तो भी हम यह देखते हैं कि वैदिक साहित्य के बिल्कुल प्रारम्भिक काल से भी उपनिषद्-काल तक भारतीय आर्य जनों ने अपेक्षाकृत अत्यन्त लघु भू-भाग पर विजय प्राप्त की थी—सिन्धु नदी से गङ्गा नदी तक। यदि सुदूर उत्तर-पश्चिम से पूर्वी गङ्गा-प्रदेश तक इतना सुदीर्घ समय लगा तो कल्पना कीजिए कि सम्पूर्ण मध्य तथा दक्षिण भारत की विजय में कितना समय लगा होगा! यदि हम इसका ध्यान रखें तो ७०० वर्ष का समय हमें बहुत दीर्घ समय नहीं प्रतीत होगा।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य युक्तियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। निर्विवाद मैक्समूलर को यह श्रेय है कि उसने सविस्तर युक्तियों एवं प्रमाणों से यह सिद्ध किया कि बौद्ध धर्म (५०० ई० पू०) से पूर्व ही उपनिषद्-वाङ्मय की रचना हो चुकी थी। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से यह अति सुस्पष्ट है। कुछ विद्वानों ने यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था[२] कि प्राचीनतम उपनिषदों का काल ६०० ई० पू० से पूर्व नहीं है। ओल्डनबर्ग[३] ने इस मत का युक्तिपूर्वक खण्डन करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि प्राचीनतम उपनिषदों तथा प्राचीनतम बौद्ध साहित्य के अन्तराल में अनेक शताब्दियाँ गुजर चुकी थीं। बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से यह निर्भ्रान्ति रूप से ज्ञात होता है कि न केवल वेद ही, वरन् वेदाङ्ग भी[४] पूर्ण रूप से ग्रथित और सम्पादित हो चुके थे और ब्राह्मण-साहित्य और विज्ञान का विकास हो चुका था। मैक्समूलर के अनन्तर प्राचीन भारत की धार्मिक दिशाओं के क्षेत्र में अनेक नवीन गवेषणाएँ हो चुकी हैं। उस समय भ्रान्ति से यह समझ लिया गया था कि बौद्ध धर्म के उद्भव के पूर्व का भारत के धार्मिक साहित्य का पूर्ण विकास ७०० वर्षों में समा सकता है। जैसा कि

१. ऐतरेय आरण्यक के अध्ययन से पता चलता है कि तब तक ऋग्वेद संहिता का दश मण्डलों में विभाजन हो चुका था (मैक्समूलर—प्राचीन संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३४०)

२. Cf. Hopkins, JAOS, 22. 336 n. Rapson, *Ancient India*, p. 181.

३. *Die Lehre der Upanishaden und die Anange des Buddhismus.* pp. 288, 357.

४. यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध लोग भी अपने धार्मिक ग्रन्थों को 'सूत्र' कहते हैं यद्यपि वे सूत्र-शैली में लिखे हुए नहीं हैं। वे सूत्र शब्द को 'धार्मिक ग्रन्थ' के अर्थ में लेते हैं।

बुह्लर ने प्रतिपादित किया है कि बौद्ध धर्म के आविर्भाव से पूर्व भी भारत में ऐसे सम्प्रदाय थे जो वेदों की पवित्रता (दिव्यता) को चुनौती देते थे। इनमें से एक है जैन सम्प्रदाय। इसके संस्थापक का काल ७५० ई० पू० है और अकाट्य युक्तियों द्वारा इसे सिद्ध किया जा चुका है। बुह्लर का कथन है कि वह सिद्ध कर सकता है कि वेद तथा ब्राह्मण धर्म के अन्य विरोधी सम्प्रदायों का काल भी अत्यन्त प्राचीन है; उससे अत्यधिक प्राचीन जिसकी अभी तक कल्पना की गई है।[1] दुर्भाग्य की बात है कि यह सिद्ध करने से पूर्व ही बुह्लर का देहावसान हो गया।

सन् १९०७ में ह्यूगो विंकलर ने एशिया माइनर में बोगाज़कोई (Boghazköi) में कुछ खोजें कीं जिनसे ऋग्वेद तथा वैदिक संस्कृति के काल की समस्या पर कुछ-कुछ प्रकाश पड़ा।[2] बोगाज़कोई प्राचीन हिट्टाइट राज्य में था। वहाँ प्राप्त हुए मृत्तिका-फलकों में उन संधियों का वर्णन है जो हिट्टाइट नृपति तथा मितानी-नृपति के मध्य १७०० ई० पू० के प्रारम्भ में संपन्न हुईं। उनमें संधियों के रक्षक के रूप में अनेक देवताओं के नाम हैं जिनमें अनेक बेबिलोनियन तथा हिट्टाइट देवता हैं। इनके अतिरिक्त मितानी के देवताओं में मित्र, वरुण, इन्द्र तथा 'नासत्यों' के नाम भी हैं।[3] एशिया माइनर में मितानियों के पास इन देवताओं के नाम कैसे पहुँचे?—इस प्रश्न पर विद्वानों में बहुत मतभेद है। इतिहासकार मेयर (Meyer) का विचार है कि ये देवता आर्यकाल के हैं—अर्थात् उस काल के जब भारतीय और ईरानी जन भाषा और धर्म की दृष्टि से एक अविभक्त राष्ट्र के रूप में थे।[4] मेयर की यह मान्यता है कि जिस समय हम इन 'आर्यों' को पश्चिमी

१. आर-गार्बे का विचार है कि भागवत या पांचरात्र सम्प्रदाय प्राग्बौद्धकालीन है।

२. इस विषय में निम्न विद्वानों के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं—Meyer, Jacobi, A. B. Keith; A. Macdonell (*Vedic Index*), Oldenberg, *L. de la. Vallee* Poussin, Winternitz। इसके अतिरिक्त *Bhandarkar Com. Vol*, pp. 81 ff. and HOS, Vol 18, Introd. (इसमें सारे वैदिक साहित्य का विकास १२०० से ३५० ई० पू० के मध्य काल में हुआ, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। स्टेन कोनो का ग्रन्थ *The Aryan Gods of the Mitani People*, पार्जिटर का *Ancient Indian Historical Tradition* तथा P. Giles का *Cambridge History of India* ग्रन्थ भी द्रष्टव्य हैं। 'वेद अनादि है' इस दृष्टिकोण के लिए देखिए—स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थ 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' तथा 'सत्यार्थप्रकाश'।

३. कम-से-कम लगभग सब विद्वान् विंकलर (Winckler) के इस कथन से सहमत हैं कि इन देवताओं के नाम कीलाक्षर लेखों में निम्न रूप में है—ilāni Mi-it-ra aś-śi-ie ilāni U-ru-wa-na aś-śi-el (दूसरे पाठ में—A-ru-na aś śi-il) In-dar दूसरे पाठ में—In-da-ra ilāni Na-śa-at-ti-ya-an-na। इस पठन के विरुद्ध केवल J. Halevy ने सन्देह प्रकट किया है।

४. विंकलर का विचार है कि शिलालेखों में मितानी के शासक-रूप में वर्णित Harri आर्य लोगों का वाचक है। परन्तु यह मत अभी तक विद्वानों द्वारा स्वीकृत नहीं है। देखिये—A. H. Sayce, JRAS, 1909, pp. 1106 f.

मैसोपटामिया तथा सीरिया में देखते हैं, उसी समय उत्तर-पश्चिमी भारत में भी पृथक् रूप से आर्यों का विकास प्रारम्भ हो चुका था। वैदिक सूक्तों में (जिनमें प्राचीनतम सूक्तों का काल सम्भवत: १५०० ई० पू० से परवर्ती नहीं है) इस तथ्य के समर्थन में प्रमाण मिलते हैं। गाइल्स ने भी ऐसी ही सम्मति प्रकट की है। ओल्डनबर्ग का विचार है कि "ये देवता किसी पाश्चात्य आर्य जाति के हैं और भारतीय देवताओं से मिलते-जुलते हैं। दोनों का मूल स्रोत एक है।" ओल्डनबर्ग का कथन है कि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि 'जरथुश्त' के काल के पूर्व के ईरानी थे, या यह कोई आर्यों की तृतीय शाखा थी। वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि बोगाज़कोई की खोजों के आधार पर वेद के काल की अति-प्राचीनता सिद्ध नहीं होती।

यह तथ्य है कि वरुण तथा मित्र, इन्द्र तथा 'नासत्यों' का यह विशिष्ट समष्टीकरण केवल वेदों में ही है। इस कारण मैं जैकोबी, कोनो तथा हिलब्रांड् से सहमत हूँ और इन्हें भारतीय वैदिक देवता मानता हूँ। इस विषय में किसी अन्य दृष्टिकोण की युक्तिसंगतता सम्भव नहीं है। हमें यह मानना होगा कि जैसे आर्यों ने पश्चिम से भारत में प्रव्रजन किया, वैसे ही कुछ आर्यों ने पुन: पश्चिम में प्रव्रजन किया होगा। इसका कारण युद्धविजयाकांक्षा हो सकती है या फिर वैवाहिक सम्बन्ध। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ऋग्वेद के समय आर्य भारतीय भौगोलिक दृष्टिकोण से पश्चिम के बहुत पास थे।[1] बोगाज़कोई के लेखों से काल-क्रम के विषय में हमें यह आभास मिलता है कि २००० ई० पू० के मध्य के लग-भग वे आर्यजातियाँ, जो वैदिक देवताओं की पूजा करती थीं, पर्याप्त काल से उत्तर-पश्चिमी भारत में निवास कर रही थीं। तथा ई० पू० १४०० के लगभग या उससे कुछ पूर्व इनमें से कई जातियों ने भारत से पश्चिम में प्रव्रजन किया था।[2] यह तथ्य

---

१. देखिए हिलब्रांड—(*Aus alt-und Neuindien* Breslau.) का मत है कि भारतीय आर्यों का पाश्चात्य देशों से सम्बन्ध था। ऋग्वेद में विशेष रूप से अष्टम मण्डल में इसके चिह्न मिलते हैं। आर्य भारतीयों के एशिया माइनर में अवस्थान के विषय में देखिये—R. G. Bhandarkar, JBRAS, 25, 1918, pp. 76 ff. तथा E. Forrer—*Die acht sprrachen der Boghazkoi Inschriften*, SBA, 1928, pp. 1036 f.।

२. कोनो ने यह सुझाव दिया है कि मितानी संधि में नासत्यों की चर्चा इसलिए की गई है कि प्राचीन विवाह-सम्बन्धी कर्मकाण्ड में इनकी उपस्थिति महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। मितानी सन्धि हिट्टाइट राजा सुब्बिलुलिउम तथा मितानी राजा मत्तिउज के परस्पर युद्ध के अनन्तर हुई थी और यह संधि मितानी राजा के हिट्टाइट राज-कन्या के साथ विवाह से पक्की हुई थी। अश्वि-देवों (अश्विनौ) का विवाह-संबंधी कर्मकाण्ड से सम्बन्ध केवल ऋग्वेद के सूर्या-सूक्त में पाया जाता है। इस आधार पर कोनो इस परिणाम पर पहुँचा है कि "मैसोपोटामिया में भारतीय-आर्य-सभ्यता का प्रसार तब हुआ जबकि ऋग्वेद का मुख्य भाग लिखा जा चुका था।" इसलिए ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग "मितानी-संधि से बहुत पूर्व लिखे जा चुके थे।" मुझे कोनो की युक्ति सशक्त प्रतीत नहीं होती क्योंकि ऋग्वेद (८.२६.८.) में इन्द्र और 'नासत्यौ' युगलदेव

लघु है परन्तु है बहुत महत्त्वपूर्ण। इसे पूर्णतया प्रतिष्ठापित करने के लिए और भी प्रमाण चाहिए। इसे पूर्णतया सिद्ध करने के लिए बोगाज़कोई के मृत्तिका-फलकों में भारतीय संख्याओं (अंकों) की भी खोज करनी होगी।[1]

वेदों का काल ३००० ई० पू० निर्धारित करने का प्रश्न ही नहीं उठेगा यदि यह सिद्ध हो जाए कि ३००० ई० पू० में आदिकालीन भारतीय जनों से कुछ भारत-योरोपीय जन पृथक् नहीं हुए थे।[2] मेरी सम्मति में यह दृष्टिकोण असम्भाव्य-सा है और इसके समर्थन में सन्तोषजनक प्रमाण भी प्रस्तुत नहीं किए गए हैं। इस दृष्टि-कोण का वे विद्वान् स्वागत करते हैं जो ऋग्वेद तथा भारतीय संस्कृति के काल को अधिक-से-अधिक परवर्ती सिद्ध करना चाहते हैं। इस मत के प्रतिष्ठापकों में एक विद्वान्—जे० हर्टेल[3]—हैं। हर्टेल का कथन है कि वह सिद्ध कर सकता है कि ऋग्वेद का उद्भव उत्तर-पश्चिमी भारत में नहीं अपितु ईरान में हुआ और यह काल जरथुश्त के काल से बहुत परवर्ती नहीं है। हर्टेल के अनुसार, जरथुश्त का काल ५०० ई० पू० है। जी० हूसिंह एक कदम और आगे जाता है। वह ईरान-सीरिया आदि में मिले प्राचीन कीलाक्षर वाले शिलालेखों में आये नामों की खींचातानी करके भारतीय राजाओं के नामों के रूप में रूपान्तरित कर देता है और इन 'तथ्यों' के आधार पर वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि "लगभग १००० ई०पू० में भारतीय जन आर्मीनिया से अफगानिस्तान के मध्य घूम रहे थे और यह ही स्थान ऋग्वेद-काल

('इन्द्रनासत्या') के रूप में सम्बोधित हुए हैं और वहाँ उनका विवाह के कर्मकाण्ड से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। के० चट्टोपाध्याय (Calcutta Review flax 1924, pp. 287 ff.) ने बोगाज़कोई संधियों की चर्चा से यह परिणाम निकाला है "२००० तथा १५०० ई० पू० के मध्य के समय में एशिया माइनर में आर्यों के कई दलों ने प्रवेश किया और उसी काल में दूसरी आर्य जातियों ने मध्यएशिया से भारत में प्रवेश किया और व्रात्य नाम से प्रसिद्ध हुईं।" व्रात्यों तथा एशिया माइनर में भारतीयों में तिथिक्रम-सम्बन्ध स्थापित करने का वास्तव में कोई आधार नहीं है। इसलिए श्री चट्टोपाध्याय के तिथि-सम्बन्धी परिणाम (ब्राह्मण-काल, २००० ई० पू० तक यजुर्वेद तथा अथर्ववेद लगभग २००० ई० पू० तथा ऋग्वेद ३००० ई० पू० से पूर्व) बिल्कुल निराधार हैं।

१. देखिये P. Jensen—*Indische Zahlwôrter in Keitschrzflthititisc'en Texlern.*

२. गुन्थर इप्सन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि "भारत-यूरोपीय भाषा में 'ताम्र', 'गो' तथा 'तारक' के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द सुमेरियन भाषा से लिये गए हैं और यह ग्रहण-काल ३०००-२१०० ई० पू० से पहले नहीं हो सकता। इप्सन का यह मत स्वीकार्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह सर्वविदित तथ्य है कि अत्यन्त प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में भी गौ तथा ताम्र सामान्य घरेलू प्रयोग की चीजें थीं।

३. जरथुश्त का काल अंकों तक अनिश्चित है परन्तु इसका काल लगभग १००० ई० पू० निर्धारित करने के पक्ष में काफी पुष्ट प्रमाण हैं।

का पालना है। भारत में आर्य इस काल के उपरान्त धकेले गए।" एच० ब्रनहॉफर के एक सुझाव का अनुसरण करते हुए हूसिंह यहाँ तक कल्पना कर लेता है कि ऋग्वेद में जिस राजा कानीत पृथुश्रवस्[1] की चर्चा आती है, वह नाम सीरिया के राजा 'कनितस्' का रूपान्तर है। कानितस् का नाम एक सिक्के पर एक ग्रीक शिला-में आता है। उसका काल २०० ई० पू० है। उसकी सम्मति में इससे यह सिद्ध होता है कि—"ऋग्वेद के इन गीतों का संग्रह २०० ई० पू० तक नहीं हुआ था।" निश्चित ही ऋग्वेद के काल की यह सबसे अवरवर्ती सीमा है।

ऋग्वेद के काल को काफी परवर्ती कहने के पक्ष में सबसे सशक्त युक्ति यह है कि वेद और अवस्ता की भाषा तथा धार्मिक दृष्टिकोण में अन्तरङ्ग सम्बन्ध है।[1] धार्मिक एकरूपता के साथ धार्मिक विभिन्नता भी बहुत है; तथापि एकरूपता के पहलुओं की व्याख्या सरलता से की जा सकती है और इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि पहले प्राग्वैदिक तथा प्राग्-अवस्तिक" काल में भारतीय और ईरानी जन किसी समय एक आर्य सांस्कृतिक इकाई के रूप में थे, तथा जब वे एक-दूसरे से पृथक् हो गए, तब भी पड़ौसी थे। जहाँ तक भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न है, यह कहना नितान्त असम्भव है कि भाषाओं में कितने काल में कितना परिवर्तन होता है। कई भाषाएँ बड़ी जल्दी बदल जाती हैं; दूसरी सुदीर्घ काल तक लगभग अपरिवर्तित रहती हैं।[2] यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि पुरोहितों की भाषाएँ (जैसे कि वैदिक सूक्तों तथा अवस्ता की भाषाएँ) भाषित भाषाओं की अपेक्षा बहुत अधिक काल तक अपरिवर्तित रह सकती हैं।

तथापि संसार की अन्य भाषाओं और उनकी शाखाओं के इतिहास का जितना हमें ज्ञान है, उसके आधार पर हम यह कहने के लिए बाधित हैं कि भाषाएँ कई हजार साल अपरिवर्तित नहीं रह सकतीं, दसियों हजार साल तक अपरिवर्तित रहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस कारण ज्योतिष-सम्बन्धी तथा भूगर्भविद्या-सम्बन्धी तर्कों के आधार पर ऋग्वेद के काल को १६००० ई० पू० या २५०००

१. ऋ० ८. ४६. २१; २४ राजा पृथुश्रवस् की कथा भी अत्यन्त प्राचीन आख्यान है। शुनःशेप-आख्यान के समान इसकी भी 'पुरुषमेध' में कथा की जाती थी। देखिये शाङ्खायन श्रौतसूत्र—१६. ११. २३।

२. ए. ए. मैक्डॉनल का कथन है (ERE, VOL 1, 1914, pp. 49. ff)—"यह असम्भव प्रतीत होता है कि हम इस परिणाम पर न पहुँचें कि भारतीय १३०० ई० पू० से बहुत पूर्व काल में ईरानियों से पृथक् नहीं हुए थे।"

३. A. C. Woolner (Proc. loc., 1, pp. xvii ff; 11, p. 20ff.) का निम्न कथन मुझे उचित प्रतीत होता है—"यदि भाषा-विज्ञान सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर अनुमान करें तो 'प्रथम वैदिकमन्त्र' का काल २००० ई० पू० भी उतना ही सम्भव है जितना कि १२०० ई० पू०।" इसके अतिरिक्त देखिये : कामेश्वर अय्यर—*Quarterly Journal*

ई० पू०[1] कहना अविश्वसनीय है। यह पूर्णतया सम्भव है कि ऋग्वेद का काल इतना प्राचीन माना जाए तो इससे यह भी मानना पड़ेगा कि इतने सुदीर्घ युग में कोई भी सांस्कृतिक प्रगति नहीं हुई; भारतीयों-जैसी अत्यन्त प्रतिभाशाली जाति के विषय में यह अत्यधिक आश्चर्यजनक बात होगी। ये तिथि-अंक इसलिए भी असंभव हैं कि हम वैदिक तथा परवर्ती ब्राह्मणीय संस्कृति में एक अविच्छिन्न प्रवाह देखते हैं जिसकी, विशेष रूप से धार्मिक परम्परा की, व्याख्या नहीं हो सकेगी। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने अपने व्याकरण में जिस शिष्ट संस्कृत भाषा का निर्धारण किया है, उसका मुख्य आधार है 'ब्राह्मण-ग्रन्थों' की भाषा। और ब्राह्मणों को उस समय में वेद का भाग माना जाता था तथा अशोक के शिलालेखों (३०० ई० पू०) की भाषा, वैदिक भाषा से अन्तरङ्ग रूप से सम्बद्ध है। ये ऐसे तथ्य हैं कि दसियों हजार वर्ष काल का अन्तराल कल्पित करना किसी भी दशा में युक्तिसंगत नहीं है। संक्षेप से हम कह सकते हैं—

१. गणित ज्योतिष-सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर ऋग्वेद के काल के निर्णय का प्रयत्न अभी तक सफल नहीं हुआ है, क्योंकि वैदिक ग्रन्थों से प्राप्त जिन सन्दर्भों के आधार पर निर्णय करने का प्रयत्न किया गया, उनके अर्थ व व्याख्या के विषय में विद्वानों में परस्पर बहुत मतभेद है। इनकी अनेक प्रकार से व्याख्याएँ हो सकती हैं। गणित ज्योतिष-सम्बन्धी गणनाएँ कितनी भी शुद्ध क्यों न हों, उनसे कुछ सिद्ध नहीं होता, जब तक कि इन सन्दर्भों की निश्चित व्याख्या न हो जाए।

२. एशिया माइनर में प्राप्त कीलाक्षर-लिखित फलकों में कुछ वैदिक देवों के नाम उपलब्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ युक्तियाँ प्राचीन वैदिक काल तथा आर्य (भारत-ईरानी) और भारत-यूरोपीय काल के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में दी जाती हैं। अभी तक ये 'ऐतिहासिक' तथ्य तथा मान्यताएँ अपने-आप में इतनी अनिश्चित हैं कि विभिन्न विद्वानों ने परस्पर अत्यन्त विभिन्न तथा परस्पर-विरोधी मतों की स्थापना इनके आधार पर की है; तथापि आधुनिक खोजों के आधार पर हमें कुछ विश्वसनीय परिणाम उपलब्ध हो गए हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि २००० ई० पू० में प्राचीन भारत तथा पश्चिमी एशिया (कम-से-कम एशिया माइनर तक) में परस्पर सम्बन्ध थे; और इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति का काल 'कम से कम' २००० ई० पू० तो अवश्य था।

३. वेद तथा अवस्ता की भाषाओं में परस्पर निकट-सम्बन्ध है तथा इधर वैदिक भाषा तथा परिनिष्ठित संस्कृत में भी अन्तरङ्ग सम्बन्ध है; परन्तु इन भाषा-सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर अभी तक कोई निश्चित परिणाम नहीं निकाले जा सके हैं।

---

१. अविनाशचन्द्र दास (*Ṛgvedic India*) तथा डी० एन० मुखोपाध्याय (*The Hindu Nakshatras*) ने ऐसी ही सुदूर तिथियों की कल्पना की है।

४. परन्तु इन भाषा-सम्बन्धी तथ्यों के कारण गणितज्योतिष-सम्बन्धी या भूगर्भविज्ञान-सम्बन्धी ऊहाओं के आधार पर वैदिक काल को अत्यन्त अकल्पनीय सुदूर अतीत में नहीं ले जाया जा सकता।

५. क्योंकि वैदिक काल के निर्णय के विषय में सब बाह्य साक्ष्य असफल रहे हैं, इसलिए हम इस बात के लिए बाधित हैं कि वेद का काल निर्णय करने के सम्बन्ध में हम 'भारतीय साहित्य के इतिहास से प्राप्त साक्ष्य पर ही' अपने मतों को आधृत करें। इस विषय में निश्चिततम साक्ष्य यह तथ्य है कि पार्श्व, महावीर तथा बुद्ध के ग्रन्थों के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि उनसे पूर्व सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय पूर्ण हो चुका था, इसलिए उनसे अवर काल में वैदिक काल को लाने का प्रश्न ही नहीं उठता; तथापि इतने विशाल वाङ्मय के विकास की व्याख्या नहीं हो सकती यदि हम लगभग १२०० या १५०० ई० पू० को इसका उद्भव-काल मानें; सम्भवतः हमें वैदिक काल का २००० या २५०० ई० पू० से प्रारम्भ और ७५० तथा ५०० ई० पू० के मध्य में किसी समय अन्त मानना होगा। तथापि इस विषय में अधिक बुद्धिमत्ता यही है कि हम किन्हीं निश्चित तिथियों का कथन न करें और दोनों 'अतियों' से बचें। वैदिक काल को न तो हम कल्पनातीत सुदूर अतीत में ले जाएँ और न ही इतने अर्वाचीन काल में कि मनीषी विचारकों के उपहास-पात्र बन जाएँ।

अनुक्रमणिका

———